

नमः सर्वज्ञाय।

श्रीमदमृतचन्द्रसूरि विरचित

संस्कृतकलशा सहित

स्वर्गीय कविवर बनारसीदासजी रचित

नाटक समयसार

सरल हिन्दीटीका सहित।

टीकाकार

देवरी (सागर) निवासी बुद्धिलाल श्रावक।



प्रकाशक

जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

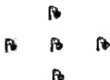
हीराबाग, पो० गिरगांव-बम्बई।

आषाढ, वि० सं० १९८६।

प्रथम संस्करण।

मूल्य पाँच रुपये।

प्रकाशक—
छगनमल बाकलीवाल
मालिक
जैन-ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगांव-बम्बई।



मुद्रक—
म० ना० कुळकर्णी,
कर्नाटक प्रेस,
३१८ए, ठाकुरद्वार, मुंबई २.

प्रस्तावना

पाठक ! यह बात जगत् प्रसिद्ध है, कि स्वामीकुंदकुंद आचार्य समयसारजीकी रचना करके जैनसमाज क्या सारे संसारका अद्वितीय उपकार कर गये हैं। आचार्यवरने इस ग्रन्थकी रचना प्राकृत भाषामें की है। जैनसमाज जिस प्रकार कि स्वामीकुन्दकुन्दके उपकारसे उपकृत है, उसी प्रकार स्वामीअमृतचन्द्रसूरिका भी आभारी है, जिन्होने इस ग्रन्थके संस्कृत पद्योंमें कलशा रचे और आत्मख्याति नामकी संस्कृत टीका करके गहनसे गहन विषयको भी सरल किया है। यह सब ठीक है, परन्तु यदि उपर्युक्त ग्रन्थकी विद्वद्वर पाडे राजमल्लजीने बाल बोधिनी टीका और पं० जयचन्द्रजीने भाषा वचनिका न की होती और विद्वान् पंडित बनारसीदासजीने इसे भाषा कवितावद्ध न किया होता तो हम सब ग्रंथराजकी प्राकृत संस्कृत रचना होते हुए भी जैनपदार्थ-विज्ञानसे वंचित ही रहते। यद्यपि गद्य काव्यका महत्व पद्यसे कम नहीं है, फिर भी हम कहेंगे कि पद्य काव्य विषयको हृदयस्थ रखने और दूसरोंके समक्ष उपस्थित करनेमें विशेष सहकारी होता है। इसलिये कहना होगा कि पं० बनारसीदासजी रचित नाटक समयसार आध्यात्मिक-विद्याके पठन पाठनके हेतु अत्युपयोगी और भाषा भाषी विद्वानोंके हेतु तो अद्वितीय अवलम्बन है।

यह ग्रन्थ यद्यपि हिन्दी भाषाका है, परन्तु गहन विषयोंसे समृद्ध है इसलिये पूर्व और अर्वाचीन विद्वानोंने इसकी टीकाएँ करके इसे सरल किया है। उनमेंसे भव्यकर्णोधार सरलटीकावाली हस्तलिखित प्रति, दूसरी नाना

रामचन्दजी नाग द्वारा प्रकाशित प्रति और तीसरी प्रकरणरत्नाकरमें सम्मिलित गुजराती मुद्रित टीका, ऐसी ये तीन प्रतियाँ हमें उपलब्ध हुई हैं, और इन्हीके आधारसे यह प्रयत्न किया है।

यद्यपि उपर्युक्त तीनों टीकाएँ उपयुक्त हैं, तथापि वे वर्तमान कालीन नवीन हिंदीके प्रेमी सज्जनोंके हेतु आकर्षक नहीं कही जा सकतीं और न भारतके सम्पूर्ण प्रान्तोंके निवासी उपरि लिखित ग्रन्थोंकी भाषा समझ ही सकते हैं, इसलिये जैन ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालयके संचालक महाशयकी उत्कट अभिलाषा देखकर यह परिश्रम किया है। आशा है कि समाजको, रुचिकर होगा और इससे उसे लाभ मिलेगा।

समय शब्दका अर्थ अपने स्वभाव व गुण पर्यायोंमें स्थिर रहनेका है, सो पारमार्थिक नयकी दृष्टिसे सब पदार्थ अपने गुण पर्यायोंमें स्थिर रहनेसे छहों द्रव्य समय हैं। उन छहों द्रव्योंमें आत्म द्रव्य सब द्रव्योंका ज्ञायक होनेके कारण सारभूत है। भाव यह है कि आत्म द्रव्य समयसार है। और नाटक शब्दका अर्थ स्पष्ट तथा प्रसिद्ध है और उसे ग्रन्थमें नीचे-लिखे छन्दों द्वारा दर्शाया है—

पूर्व बंध नासै सो तो संगीत कला प्रकासै,
नव बंध रुंधि ताल तोरत उछरिकै।
निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि,
समता अलापचारी करै स्वर भरिकै॥
निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै,
छक्यौ महानंदमैं समाधि रीझ करिकै।
सत्ता रंगभूमिमैं मुकत भयौ तिहूं काल,
नाचै सुद्धदृष्टि-नट ग्यान स्वांग धरिकै॥

या घटमैं भ्रमरूप अनादि, विलास महा अविवेक अखारौ।
तामहि और सरूप न दीसत, पुग्गल नृत्य करै अति भारौ॥
फेरत भेख दिखावत कौतुक, सौंज लिये वरनादि पसारौ।
मोहसौं भिन्न जुदौ जड़सौं, चिन्मूरति नाटक देखनहारौ॥

तात्पर्य यह है कि नाटक समयसार ग्रन्थमें आत्माका स्वभाव विभाव नाटकके ढंगपर बतलाया है। विशेष इतना है कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयको मुख्य करके कथन किया है, क्योंकि जीवकी जब तक पर्यायबुद्धि रहती है तब तक संसार ही है और जब वह शुद्ध नयका उपदेश ग्रहण करके द्रव्यदृष्टिसे अपने आत्माको अनादि, अनंत, शुद्ध, बुद्ध और आनंदकंद मानता है वा जाति, कुल, शरीर आदि वा उनके संबंधियोंसे अहं बुद्धि छोड़ता है और परद्रव्योंके निमित्तसे उत्पन्न हुए विभाव भावोंसे भिन्न श्रद्धान करता है तब ही अपने स्वरूपका अनुभव करता है और शुद्धोपयोगमें लगकर निष्कर्म दशाको प्राप्त होता है। अस्तु, जैनधर्मके मर्मका दारमदार नय ज्ञानपर निर्भर है और इस ग्रन्थका कथन तो पद पदपर नयोंकी अपेक्षा रखता है। इसलिये समयसारमें प्रवेश करनेके पूर्वही नय-ज्ञानमें दक्ष हो लेना नितान्त आवश्यक है, नहीं तो पदार्थका स्वरूप अन्यथा ग्रहण हो जानेकी अनिवार्य संभावना है। इस ग्रन्थकी सरल भाषामें चाहे जितनी टीकाएँ रची जावें वा चाहे जितने विस्तारसे लिखी जावें तो भी इस ग्रन्थका यथार्थ बोध गुरुगमके बिना उपलब्ध नहीं हो सकता। इससे प्रकाशककी इच्छा रहते हुए भी टीका विस्तृत नहीं की है, फिर भी विषयको स्पष्ट करनेमें संकीर्णता नहीं की गई है। इतनेपर भी यदि इस ग्रन्थके स्वाध्यायी सज्जनोंको कहीं शंका उपजे तो उन्हें पत्रद्वारा हमें सूचित करना चाहिए, हम शक्ति भर समाधान करनेकी योजना करेंगे।

अन्तमें यह लिख देना नितान्त आवश्यक है कि मैं किसी भी भाषाके साहित्यमें पूर्ण योग्यता नहीं रखता और न जैनग्रन्थोंके उक्त ग्रन्थोंमें प्रशंसा योग्य प्रवेश है। पर हाँ, पंचमहाल जिलेके दाहोद नगरमें आध्यात्मिक विद्याकी चर्चाका अच्छा प्रचार है, और स्वर्गीय विद्वान् श्रीदादा मनसुखलालजी हरीलालजी तो वहाँ इस विद्याके एक अद्वितीय रत्न तथा स्वामी कुन्दकुन्दके अनन्य भक्त थे। उन स्वर्गीय आत्मानुभवी सज्जनका मैंने लगभग दो वर्ष सत्संग किया है, इसलिये मुझे जो कुछ प्राप्त है वह उन्हीं महानुभावका प्रसाद है या ग्रंथ रचनामें जो कुछ भूषण हैं वे उन्हींके दिये हुए हैं, और जो कुछ दूषण रह गये हों वे मेरे अज्ञान और प्रमाद जनित हैं। विशेष यह कि उपर्युक्त श्रीदादाजीके अन्यतम शिष्य शाह संतोषचन्द माणिकचन्दजीने हमारी कृतिका संशोधन किया है इस लिये भूलोंका यथासंभव निराकरण भी किया है। फिर भी आगम अगम्य है '**को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे**' की नीतिसे अनेक त्रुटियां ग्रन्थमें रह गई होंगी, विद्वान् लोग हमें विदित करेंगे तो आगामी संस्करणमें उनके निवारण करनेके लिये प्रकाशक महोदयको वाध्य करनेकी चेष्टा की जावेगी। हमारी जन्मभूमि देवरीमें विद्वानोंका समागम आवश्यकतासे कम है, पर श्रीमान् नेगी लक्ष्मीप्रसादजी वैद्य जैनग्रन्थोंका अच्छा संग्रह रखते हैं, सो ग्रन्थ-रचनाके समय आपके पुस्तक भंडार तथा आपके ज्येष्ठ पुत्र भाई हीरालालजी नेगी भूतपूर्व अध्यापक सिद्धान्तविद्यालय मोरेनासे अर्थनिक सहायता मिली है, इस कारण आप महानुभावोंका आभार मानता हूँ।

देवरी "क" (सागर) सी० पी०
मार्गशीर शुक्ला ८ वी सं० २४५५

समाजसेवक
बुद्धिलाल श्रावक

प्रकाशकका निवेदन

नाटक समयसार ग्रन्थ हिन्दी-भाषा साहित्यका एक उज्ज्वल रत्न है। अभी तक इस ग्रन्थके मुद्रित चार संस्करण हमारे देखनेमें आये हैं, जिनमें तीन संस्करण तो मूलमात्रही छपे थे, एक संस्करण वयोवृद्ध लाला रामचन्द्र नाग महाशयने पुरानी भाषाकी टीकाम प्रकाशित किया था। वह भी बिक चुका और कई वर्षोंसे नहीं मिलता है। इस कारण आध्यात्मिक रसके रसिया स्वाध्याय प्रेमियोंकी इच्छा देखकर हमने यह ग्रन्थ छपानेका विचार किया और सब लोगोंके समझमें आजाय ऐसी सरल हिन्दीभाषाटीका सहित छपनेपर लोगोंको अधिक लाभकारक होगा ऐसा जानकर प० बुद्धालालजी श्रावक देवरी निवासीको सरल हिन्दीभाषामें टीका लिख देनेका आग्रह किया, हमारे आग्रहसेही उन्होंने यह हिन्दीभाषाटीका लिख दी। इस कारण पंडितजीका मैं बहुतही आभार मानता हूँ।

स्वर्गीय प० बनारसीदासजीने जो कविता की है, वह आचार्य अमृतचन्द्र सूरिके नाटक समयसारके कलशोंके श्लोकोंकी की है, सो हमने कविताके नीचे टिप्पणीकी जगह कलशोंके श्लोक भी दे दिये हैं। जिससे स्वाध्याय प्रेमियोंको स्मरण रहे कि यह कविता इन श्लोकोंका अनुवाद है। कहीं कहींपर तो प० बनारसीदासजीने एक श्लोकका कई छन्दोंमें वर्णन करके विषयको बहुतही सरलतापूर्वक समझाया है। ग्रन्थका स्वाध्याय करनेसे यह स्पष्ट मालूम हो जायगा।

कलशोंके छपानेका कार्य ईडरके जैनशास्त्रभण्डारकी एक अति प्राचीन प्रतिपरसे किया गया है जिसमें पहले मूल कलशा है, फिर उनकी रायमल्लजीकृत भाषाटीका है, उसके बाद प० बनारसीदासजीकी कविता है। यह प्रति सेठ पूनमचन्दजी घांसीलालचन्दजी गांधीने भेजकर हमें बड़ी सहायता दी।

कलशोंका संशोधनकार्य काशीके पन्नालालजी चौधरी द्वारा प्रकाशित संस्कृतके प्रथम गुच्छक और परमाध्यात्मतरंगिणी नामक मुद्रित प्रतिपरसे किया गया है,

जिसे सघी मोतीलालजी मास्टर सचालक श्रीसन्मति पुस्तकालय जैपुरने भेजकर सहायता दी।

मूल कविताका सशोधन पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा एक समयसारकी सशोधित प्रति मिली जिसपरसे किया गया है। यह प्रति पं० नाथूरामजी प्रेमाने स्वयं छपानेके इरादासे सशोधन की थी।

इस ग्रन्थके छपानेमें जो उक्त महानुभावोंसे सहायता मिली है उसका मैं हृदयसे आभार मानता हूँ।

इस ग्रन्थके छपानेमें मेरे दृष्टि दोषसे व अज्ञानतासे जो भूलें रह गई हैं उनके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। विद्वजन यदि भूलें लिखेंगे कृपा करेंगे तो आगामी सस्करणमें सशोधन कर दी जावेंगी।

विनीत

छगनमल बाकलीवाल

विषयसूची

— ० —

८ बंध द्वार

९ मोक्ष द्वार

१० सर्व विशुद्धि द्वार

११ स्याद्वाद द्वार

कविवर बनारसीदासजी।



यद्यपि जैनधर्मके धारक अनेक विद्वान् भारत-वसुधराको पवित्र कर गये है, तथापि किसीने अपना जीवनचरित लिखकर हम लोगोंकी अभिलाषाको तृप्त नहीं किया है। परतु इस ग्रथके निर्माता स्वर्गीय पण्डित बनारसीदासजी इस लाञ्छनसे रक्षित हैं। आपने स्वयं अपनी लेखनीसे पचपन वर्षका अतर्बाह्य सत्य-चरित्र लिखकर जैनसाहित्यको पवित्र किया है और एक बड़ी भारी त्रुटिकी पूर्ति की है।

श्रीमान्का पवित्र चरित **बनारसीविलासमे** जैनइतिहासके आधुनिक रोजक श्रीमान् **पं० नाथूरामजी प्रेमीने** मुद्रित कराया था, उसीके आधारसे प्रकाशककी इच्छानुसार सक्षिप्त रूपमें यहाँ उद्धृत करते है आशा है कि,—

" पीयूष न हि निःशेषं पिबन्नेव सुखायते "

की उक्तिके अनुसार यह थोड़ा भी परिचय पाठकोंको सन्तोषप्रद हुए विना न रहेगा।

मध्यभारतमें **रोहतकपुरके** पास **बिहोली** नामका एक ग्राम है। वहाँ राजपूतोंकी वस्ती है। एक समय बिहोलीमें जैनमुनिका शुभागमन हुआ। मुनिराजके विद्वत्तापूर्ण उपदेश और पवित्र चारित्रसे मुग्ध होकर वहाँके सम्पूर्ण राजपूत जैनी हो गये। और—

पहिरी माला मंत्रकी, पायो कुल श्रीमाल।
थाप्यो गोत बिहोलिया, बीहोली-रखपाल॥

नवकारमंत्रकी माला पहिनके **श्रीमाल** कुलकी स्थापना की और **बिहोलिया** गोत्र ——। बिहोलिया कुलने खूब वृद्धि पाई और दूर दूर तक

फैल गया। इस कुलमें परंपरागत बहुत कालके पश्चात् **गंगाधर** और **गोसल** नामके दो पुरुष हुए। गंगाधरके **वस्तुपाल**, वस्तुपालके **जेठमल**, जेठमलके **जिनदास** और जिनदासके **मूलदास** उत्पन्न हुए। उन दिनों मालवाके **नरवर** नगरमें मुगल बादशाहोंका राज्य था। मूलदासजीकी वणिकवृत्ति थी। अपनी विद्वत्ता और सचाईके कारण ये उक्त नगरके शाहीमोदी बन गये। कुछ दिनोंके पश्चात् अर्थात् माघ सुदी ५ वि० संवत् १६०२ को उन्हें एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम **खरगसेन** रक्खा। दो वर्षके पश्चात् उनके यहाँ **घनमल** नामक दूसरे पुत्रने जन्म लिया। परंतु यह तीन वर्ष जीवित रहके चल बसा।

घनमल घनदल उडिगये कालपवनसंजोग।
मात पिता तरुवर तये, लहि आतप सुत सोग ॥

घनमलके शोकसे व्यथित होकर मूलदासजी संवत् १६१३ में घनमलही की गतिको प्राप्त हो गये। मूलदासजीका काल सुनकर मुगल सरदार वहाँ आया, और उसने इनका घर खाल्सा करके सब जायदाद जब्त करली, जिससे मूलदासजी की अनाथ विधवा अपने पुत्र खरगसेनको साथ लेकर **जौनपुर** चली गई। वहाँ उसका पीहर था। बालक खरगसेन अपने नानाके घर सुखसे रहने लगा, और थोड़े ही दिनोंमें हिसाब किताब चिट्ठी-पत्री आदिके कार्यमें व्युत्पन्न होकर सोना चांदी और जवाहिरातका व्यापार सीखने लगे, पश्चात् वे बंगालके **गौड** नामक स्थानमें पहुँचकर वहाँके पोतदार बनकर रहने लगे। कुछ दिनोंके बादमें फिर जौनपुर आये, और चार वर्ष जौनपुर रहकर वि० संवत् १६२६ में व्यापारके लिये **आगरे** आये। चार वर्षके उद्योगसे इनके पास बहुतसा धन संचय हो गया, और पाँचवें वर्ष इनकी माता व गुरुजनोंके प्रयत्नसे **मेरठ** नगरके **सूरदासजी** श्रीमालकी कन्याके साथ उनका विवाह भी हो गया। संवत् १६३३ में इन्होंने आगरा

छोड़ दिया और वे विपुल सम्पत्तिके अधिकारी होकर फिर जौनपुरमें वहाँके प्रसिद्ध धनिक लाला **रामदासजी** अग्रवाल के साथ साँझेमें जवाहिरातका धंधा करने लगे।

संवत् १६३५ में उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ परंतु वह आठ दस दिन ही जीवित रह सका। थोड़े दिन पीछे खरगसेनजी पुत्र-लाभकी इच्छासे रोहतकपुरकी सतीकी यात्रा करनेको सकुटुम्ब गये। परन्तु मार्गमें चोरोंने सर्वस्व लूट लिया, एक कौडी भी पासमें न रही, बडी कठिनतासे घर लौटकर आये। कविवर कहते हैं—

गये हुते माँगनको पूत। यह फल दीनों सती अऊत।
प्रगट रूप देखें सब लोग। तऊ न समुझैं मूरख लोग॥

संवत् १६४३ में खरगसेनजी पुत्रलाभकी इच्छासे फिर सतीकी यात्राको सकुटुम्ब गये और सकुशल लौट आये, तथा थोड़े दिनके पश्चात् इनकी मनोकामना भी पूर्ण हो गई। आठ वर्षके पश्चात् पुत्रका मुख देखा, इसलिये विशेष आनंद मनाया गया। पुत्रका जन्मकाल और नाम नीचेके पद्यसे प्रगट होगा।

संवत् सोलह सौ तेताल। माघ मास सितपक्ष रसाल।
एकादशी वार रविनन्द। नखत रोहिणी वृषको चन्द॥
रोहिनि त्रितिय चरन अनुसार। खरगसेन घर सुत अवतार।
दीनों नाम विक्रमाजीत। गावहिं कामिनि मंगलगीत॥

जब बालक छह सात महीनेका हुआ, तब खरगसेनजी सकुटुम्ब श्रीपार्श्वनाथकी यात्राको **काशी** गये। भगवान्‌की भावपूर्वक पूजन करके उनके चरणोंके समीप पुत्रको डाल दिया और प्रार्थनाकी,—

चिरजीवि कीजे यह बाल। तुम शरणागतके रखपाल।
इस बालकपर कीजे दया। अब यह दास तुम्हारा भया॥

प्रार्थना करते समय मन्दिरका पुजारी वहाँ खड़ा था। उसने थोड़ी देर कपटरूप पवन साधने और मौन धारण करनेके पश्चात् कहा कि, पार्श्वनाथ भगवानका यक्ष मेरे ध्यानमें प्रत्यक्ष हुआ है, उसने मुझसे कहा है कि, इस बालककी ओरसे कोई चिन्ता न करनी चाहिये। परन्तु एक कठिनता है, सो उसके लिये कहा है कि,—

जो प्रभु पार्श्वजन्मको गाव। सो दीजे बालककौ नांव।
तौ बालक चिरजीवी होय। यह कहि लोप भयो सुर सोय॥

खरगसेनने पुजारीके इस मायाजालको सत्य समझ लिया और प्रसन्न होकर पुत्रका नाम बनारसीदास रख दिया। यही बनारसीदास हमारे इस चरित्रके चरित्रनायक हैं।

बाल्यकाल।

हरषित कहै कुटुम्ब सब, स्वामी पास सुपास।
दुहुको जनम बनारसी, यह बनारसीदास॥

बालक बड़े लाड़ चावके साथ बढ़ने लगा। माता पिताका पुत्रपर निःसीम प्रेम था। एक पुत्रपर किसका प्रेम नहीं होता? संवत् १६४८ में पुत्र संग्रहणी रोगसे ग्रसित हुआ। माता पिताके शोकका ठिकाना न रहा। ज्यों त्यों मंत्र यंत्र तंत्रोंके प्रयोगोंसे संग्रहणी उपशान्ति हुई कि, शीतलाने आ घेरा। इस प्रकार एक वर्षके लगभग बालक शरीर कष्टमें रहा। संवत् १६५० में बालकने चटशालामें जाकर पाण्डे रूपचन्दजीके[1] पास विद्या पढ़ना प्रारंभ किया। बालककी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, वह दो तीन वर्षमें ही अच्छा व्युत्पन्न हो गया।

---

१ जिनपंचकल्याणकके कर्ता पाँडे रूपचन्दजी अध्यात्मके विद्वान् और प्रसिद्ध कवि थे।

जिस समयका यह इतिहास है, उस समय देशमें मुसलमानोंका दौर-दौरा था। उनके अत्याचारोंके भयसे बालविवाहका विशेष प्रचार था। इसलिये ९ वर्षकी वयमें ही खैराबादके सेठ कल्याणमलजीकी कन्याके साथ बालक बनारसीदासजीकी सगाई कर दी गई, और दो वर्षके उपरान्त सं० १६५४ में माघ सुदी १२ को विवाह हो गया। जिस दिन वधू आई थी, उसी दिन खरगसेनजीके एक पुत्रीका जन्म हुआ, उसी दिन उनकी वृद्धा नानीने कूच कर दिया। इसपर कवि कहते हैं,—

नानी मरन सुता जनम, पुत्रवधू आगौन।
तीनों कारज एक दिन, भये एक ही भौन॥
यह संसार विडम्बना, देख प्रगट दुख खेद।
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ न जानहिं भेद॥

एक समय जौनपुरके हाकिम कुलीचने वहाँके सम्पूर्ण जौहरियोंको बुलाया और एक बड़ा भारी नग(गहना) माँगा, परन्तु उन लोगोंके पास उतना बड़ा नग जितना हाकिम चाहता था, नहीं था। इससे वे बेचारे न दे सके। इसपर हाकिम बहुत ही क्रोधित हुआ और उन सब जौहरियोंको एक कोठरीमें कैद कर दिये। जब कुछ फल नहीं हुआ, तब सबेरे सबको कोड़ोंसे पिटवा पिटवा कर छोड़ दिया। इस अत्याचारसे दुखी होकर सम्पूर्ण जौहरियोंने एक मत हो जौनपुरका रहना छोड़कर जहाँ तहाँ चल दिया। खरगसेनजी कड़ामाणिकपुरके पास शाहजादपुर नगरमें जा बसे। वहाँ दस महीने रहकर वे अकेले ही व्यापारके लिये इलाहाबादको चले गये। पिताके चले जानेके बाद यहाँ बनारसीदासजी बड़ेसे कौड़ियाँ खरीदकर बेचने लगे, और इस कार्यमें जो दो चार पैसे कमाते, उन्हें अपनी दादीके सम्मुख लाकर रख देते थे। इस कमाईको भोली दादी अपने पौत्रकी

प्रथम कमाई समझकर उसकी झीलनी और कुलही टाकर सतीके नामसे बाँट देती थी। दादीके भोलेपनके विषयमें कविवरने बहुत कुछ लिखा है। उसका साराश यह है कि, "हमारी दादीके मोह और मिथ्यात्वका ठिकाना नहीं था, वे समझतीं थीं कि यह बालक (बनारसी) सतीजीकी कृपासे ही हुआ है। और इसी विचारमें रात्रि दिन मग्न रहती थीं। रात्रिको नित्य नये नये स्वप्न देखती थीं और उन्हें यथार्थ समझके तदनुसार आचरण भी करती थी।"

तीन महीनके पीछे खरगसेनजीका पत्र आया कि, सबको लेकर फतहपुर चले आओ। बनारसी, पिताकी आज्ञानुसार सब सामान लेकर फतहपुर आ गये। फतहपुरमें दिगम्बरी ओसवाल जैनियोंका बड़ा समूह था, उनमें वासूसाहजी मुख्य थे। इनके पुत्र भगवतीदासजीने बनारसीदासजीका सत्कार किया, और एक उत्तम स्थान रहनेको दिया। खरगसेनजीका कुटुम्ब फतहपुरमें आनन्दसे रहने लगा, कुछ दिन पीछेही उन्होंने पत्र लिखकर बनारसीदासको इलाहाबाद बुला लिया। इलाहाबादमें उस समय जवाहिरातका व्यापार अच्छा चलता था। दानीशाह सरकारकी जवाहिराती फरमायशको खरगसेनजीही पूरी करते थे। पिता पुत्र चार महीने इलाहाबाद रहे, पश्चात् फतहपुर आके कुटुम्बसे मिले। इसी समय खबर लगी कि, नवाब कुलीच आगरेको चला गया है, जौनपुरमें सब प्रकार शान्ति है। खरगसेनजी सकुटुम्ब जौनपुर चले आये। अन्य जौहरी आदि जो भाग गये थे, वे भी सब आ गये थे, और जौनपुर फिर ज्यों का त्यों आबाद हो गया। संवत् १६५६ की यह बात है।

बनारसीदासजीकी वय इस समय १४ वर्षकी हो चुकी थी, बाल्यकाल निकल गया था और युवावस्थाका प्रारम्भ था। इस समय

पं० देवदत्तजीके पास पढ़नाही उनका एक मात्र कार्य था। धनंजय-नाममालादि कई ग्रन्थ वे पढ़ चुके थे। यथा—

पढ़ी नाममाला शत दोय। और अनेकारथ अवलोय।
ज्योतिष अलंकार लघुकोक। खंडस्फुट शत चार श्लोक॥

यौवनकाल।

युवावस्थाका प्रारंभ बुरा होता है, अनेक लोग इस अवस्थामें शरीरके मदसे उन्मत्त होकर कुलकी प्रतिष्ठा संपत्ति संतति आदि सबका चौका लगा देते हैं। इस अवस्थामें गुरुजनोंका प्रयत्नमात्र रक्षा कर सकता है, अन्यथा कुशल नहीं होती। बनारसीदास अपने माता पिताके इकलौते लड़के थे, इसलिये माता पिता और दादीका उनपर अतिशय प्रेम होना स्वाभाविक है। सो असाधारण प्रेमके कारण गुरुजनोंका लड़केपर जितना भय होना चाहिए, उतना बनारसीदासजीको नहीं था। इससे—

तजि कुलकान लोककी लाज। भयौ बनारसि आसिखंबाज॥

और—

करै आसिखी धरत न धीर। दरदबन्द ज्यों शेख फकीर॥
इकटक देख ध्यानसों धरै। पिता आपुनेको धन हरै॥
चोरै चूनी माणिक मनी। आने पान मिठाई घनी॥
भेजे पेशकशी हित पास। आप गरीब कहावे दास॥

हमारे चरितनायक जिस समय इस अनगरागमें मग्न हो रहे थे, उस समय जौनपुरमें खडतरगच्छीय यति भानुचन्द्रजी (महाकवि बाणभट्टकृत कादम्बरीके टीकाकार) का आगमन हुआ। यति

विस्फोटक अगनित भये, हस्त चरण चौरंग ।
कोऊ नर साले ससुर, भोजन करहिं न संग ॥
ऐसी अशुभ दशा भई, निकट न आवै कोय ।
सासू और विवाहिता, करहिं सेव तिय दोय ॥

खैराबादमें एक नाई कुष्ट रोगका धन्वन्तरि था । वह बनारसीदासजी की टहल चाकरी और साथ ही औषध करता था । उसने जीतोड़ परिश्रम करके हमारे चरितनायकके राहु ग्रसित शरीरको पुनः निर्मल प्रकाशित कर दिया । नाईको यथोचित दान देकर स्वास्थ्य लाभ करके बनारसीदासजी घरको लौटे । परन्तु सास ससुरने अपनी लड़कीकी बिदाई नहीं की । घर आके—

आय पिताके पद गहे, मा रोई उर ठोकि ।
जैसी चिरी कुरीजकी, त्यों सुत दसा बिलोकि ॥
खरगसेन लज्जित भये, कुवचन कहे अनेक ।
रोये बहुत बनारसी, रहे चकित छिन एक ॥

दश पाँच दिनके पश्चात् फिर पाठशालामें पढ़नेको जाने लगे और—

"कै पढ़ना कै आसिखी, पहली पकरी चाल ।"

खरगसेनजी इसी समय व्यापारके निमित्त पटनेको चले गये । चार महीने बीत जानेपर बनारसीदासजी फिर ससुरालको गये और भार्याको लेकर घर आ गये । अब आप गृहस्थ हो गये, इस कारण गुरुजन उपदेश देने लगे—

गुरुजन लोग देहिं उपदेश । आसिखबाज सुने दरवेश ॥
बहुत पढ़ें वामन अरु भाट । बनिक पुत्र तो बैठें हाट ॥
बहुत पढ़ें सो माँगे भीख । मानहु पूत बड़ोंकी सीख ॥

परन्तु गुरुजनोंके वचन बनारसीके हृदयमें उगतताके कारण कब ठहरनेवाले थे? बढ़ते हुए यौवन पयोनिधिके प्रवाहको क्या कोई रोक सकता है? उनका कहा इस कानसे सुना और उस कानसे निकाल दिया, फिर हठकेठक हठक हो गये। विद्या पढ़ना और इश्कबाजी करना ये दो ही कार्य इन्हें सुखके कारण प्रतीत होते थे। कुछ दिनोंके बाद विद्या पढ़ना भी बुरा जँचने लगा। सो ठीक ही है, विद्या और अविद्याकी एकता कैसी? संवत् १६६० में पढ़ना छोड़ दिया। इसी सालमें आपके एक पुत्रीने जन्म लिया, वह पुत्री ६—७ दिन रहकर चल बसी और विदाईमें पिताको बीमार करती गई। बनारसीदासजीको बड़ीभारी बीमारी लगी। बीस लंघनें करनेके पश्चात् २१ वें दिन वैद्यने और भी १०—५ लंघनें करानेकी बात कही, और यहाँ क्षुधाके मारे उनके प्राण निकलते थे, तब रात्रिको घर सूना पाकर आप आध सेर पूरी चुराकर उड़ा गये। आश्चर्य है कि, वे पूरी आपको पथ्यका काम कर गईं और आप जल्दी निरोग हो गये।

संवत् १६६१ में एक संन्यासीने बड़े आदमीका लड़का समझके बनारसीदासजीको फँसानेके लिये एक जाल फैलाया। सन्यासीने रंग जमाया कि, मेरे पास एक ऐसा मंत्र है कि, यदि कोई उसे एक वर्ष तक नियमपूर्वक जपे, तथा किसीपर प्रगट न करे, तो साल बीतनेपर गृहद्वारपर प्रतिदिन एक स्वर्णमुद्रा पड़ी हुई पावे। सन्यासीका यह जाल काम कर गया। इश्कबाजोंको द्रव्यकी बहुत आवश्यकता रहती है, सो इस कल्पद्रुम मंत्रको सीखनेके लालचसे बनारसीदासजी लगे सन्यासीकी सेवा शुश्रूषा करने, उधर सन्यासी लगा पैसे ठगनेकी बातें बनाने। निदान भरपूर द्रव्यखर्च करके संन्यासीसे मंत्र सीख लिया और तत्काल ही जप करना प्रारंभ कर दिया। इधर सन्यासीजी मौका पाकर चम्पत हो गये। मंत्र जपते जपते एक वर्ष बड़ी कठिनतासे पूरा हुआ। प्रातःकालही स्नान ध्यान करके बनारसीदासजी

बडी उत्कठासे आनदित होते हुए गृहद्वारपर आये और लगे जमीन सूँघने, परन्तु वहाँ क्या खाक पडी थी ? आशा बुरी होती है, विचारा कि कहीं दिन गिननेमें मेरी भूल न हुई हो, इससे दो चार दिन और भी जपना चाहिये । और भी चार छह दिन माथा पटका, परन्तु मुहर तो क्या फूटी कौडी भी नहीं मिली, सन्यासीकी तरफसे अब आपकी आँखें खुलीं ।

थोडे दिन पीछे एक जोगीने आकर अपना एक दूसरा ही रँग जमाया । एक बार शिक्षा पा चुके थे, फिर भी बनारसीदासजी पर रँग जमते देर न लगी । जोगीने एक शंख तथा पूजाके कुछ उपकरण देकर कहा कि, यह सदाशिवकी मूर्ति है । इसकी पूजासे महापापी भी शीघ्रही मोक्ष प्राप्त करता है । भोले बनारसीने जोगीकी बात मानकर जोगीकी सेवा शुश्रूषा करना शुरू कर दी, और यथायोग्य भेंटादि देके उसे खूब सतुष्ट किया । दूसरे दिनसे ही सदाशिव की पूजन होने लगी, और शिव शिव कहकर एक सौ आठ बार जप भी करने लगे । यदि किसी कारणवश किसी दिन पूजन नहीं की जा सके, तो उसके प्रायश्चित्त स्वरूप रूखा भोजन करनेकी प्रतिज्ञा थी । उन्होंने यह पूजन गृह-कुटुम्बीजनोंसे गुप्त रखकर बहुत दिनोंतक की । सवत् १६६१ में हीरानंदजी ओसवालने शिखरजीको संघ चलाया और खरगसेनजी उनके आग्रहसे यात्राको चले गये । जब बनारसीको यह समाचार मिले, तब पिताके जानेपर ये निरंकुश हो गये, और घरमें कलह मचाने लगे । एक दिन उन्होंने श्री पार्श्वनाथजी की यात्राका विचार किया और मातासे आज्ञा माँगी पर उसने अनसुनी कर दी, तब उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जबतक यात्रा नहीं करूँगा तब तक दूध, दही, घी, चावल, चना, तेल, ताम्बूल और पुष्प आदि पदार्थोंको भोगमें नहीं लाऊँगा । जब [illegible] ६ महीने बीत गये, और

कार्तिककी पौर्णिमाको शैव लोग गंगास्नानके लिये तथा जैनी पार्श्वनाथकी यात्राके लिये चले तो अवसर पाकर बनारसी भी बिना किसीसे पूछे-ताछे बनारसको चल दिये। वहाँ उन्होंने गङ्गा स्नानपूर्वक भगवान पार्श्व-सुपार्श्वकी भावसहित पूजन दस दिन की। वहाँ भी वे सदाशिव की पूजन कर लिया करते थे। य यात्रा करके शंखोली लिए हुए वड़े हर्षके साथ घर आ गये। उन्होंने सदाशिवकी पूजामें इस प्रकार श्लोक लिखी है—

शंख रूप शिव देव, महाशंख बानारसी।
दोऊ मिले अबेर, साहिब सेवक एकसे॥

उस समय रेल तार नहीं होनेके कारण यात्रामें बहुधा एक वर्ष बीत जाता था। अब हीरानंदजीका संघ बहुत दिनोंमें लौट सका। आते आते अनेक लोग मर गये, अनेक बीमार हो गये और अनेक छूट गये। खरगसेनजी उदर रोगसे पीड़ित हो गये। जैसे तैसे बड़ी कठिनतासे सबके साथ अपने घर जौनपुर तक आये। जौनपुरमें संघका खरगसेन-जीकी ओरसे अच्छा सत्कार किया गया और यहींसे संघ बिखर गया। कविवरने लिखा है—

संघ फूटि चहुँदिसि गयो, आप आपको होय।
नदी नाव संजोग ज्यों, बिछुरि मिलै नहिं कोय॥

धीरे धीरे खरगसनजीका स्वास्थ्य सुधर गया। यात्रासे आनेके पहिले ही उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, परन्तु वह दो चार ही दिनमें मर गया। इसी समय बनारसीदासजीके भी पुत्र हुआ और वह भी न ठहरा।

एक समय बनारसीदासजी घरकी सीढ़ीपर बैठे हुए थे। इन्हें खबर मिली, कि अकबर बादशाहका स्वर्गवास हो गया है। कविवर अकबरकी

धर्मरक्षा आदि सद्गुणोंके बड़े भक्त थे, सो यह शोक समाचार सुनते ही वे मूर्छित होकर सीढ़ीसे नीचे गिर पड़े, माथा फूट गया और उनके कपड़े खूनसे तर हो गये। माता पिता दौड़े हुए आये और पुत्रको गोदमें उठा लिया। पंखा करके पानीके छींटे डालनेसे मूर्छा शांत हुई, घावमें कपड़ा जलाकर भर दिया और वे थोड़े समयमें अच्छे हो गये। इन दिनों भी वे सदाशिवकी पूजा किया करते थे। एक दिन एकान्तमें बैठे बैठे सोचने लगे कि—

जब मैं गिरचौ परचौ मुरझाय।
तब शिव कछु नहिं करी सहाय!॥

जब उनके इस जटिल प्रश्नका समाधान उनके हृदयमे न हुआ तब उन्होने सदाशिवजीको एक ओर विराजमानकर दिया और पूजन करना छोड़ दिया। अब बनारसीदासजीके विचारोंमें परिवर्तन हुआ, सम्यग्ज्ञानकी ज्योति जागृत हुई और शृंगार रससे अरुचि होने लगी। एक दिन वे अपनी मित्र मडलीके साथ गोमतीके पुलपर सध्याके समय समीर-सेवन कर रहे थे, और सरिताकी तरल-तरंगोंको चित्तवृत्तिकी उपमा देते हुए कुछ सोच रहे थे। बगलमें एक पोथी दबी थी। कविवर आप हीं आप बड़बड़ाने लगे "लोगोंसे सुना है कि, जो कोई एक बार भी झूठ बोलता है, वह नरक निगोदके अनेक दु खोंमें पड़ता है, परन्तु मेरी न जाने क्या दशा होगी, जिसने झूठका एक पुंज बनाके रक्खा है। मैंने इस पुस्तकमें स्त्रियोंके कपोलकल्पित नख शिखकी रचनाकी है। हाय! मैंने यह अच्छा नहीं किया। मैं तो पापका भागी हो ही चुका, अब और लोग भी इसे पढ़कर पापके भागी होंगे, तथा चिरकालके लिये पाप परम्परा बढ़ेगी।" बस, इस उच्च विचारसे उनका हृदय डगमगाने लगा। वे और कुछ नहीं सोच सके और न किसीकी सम्मति ली, चुपचाप

वह पोथी गोमतीके अथाह और वेगप्रवाह युक्त जलमें फेंक दी। उनके मित्रगण पुस्तकके पन्ने अलग अलग होकर बहते हुए देखकर हाय हाय करने लगे, परन्तु गोमतीके गहरे जलमेंसे पुस्तक प्राप्त कर लेनेका साहस किसीसे न हो सका, सब लोग हताश होकर घर चले आये। उस दिनसे बनारसीदासजीने एक नवीन अवस्था धारणकी—

तिस दिनसों बानारसी, करी धर्मकी चाह।
तजी आसिखी फासिखी, पकरी कुलकी राह॥

खरगसेनजी पुत्रकी परणतिमें यह परिवर्तन देखकर बहुत प्रसन्न हुए। और कहने लगे—

कहै दोष कोउ न तजै, तजै अवस्था पाय।
जैसे बालककी दशा, तरुण भये मिट जाय॥

और—

उदय होत शुभ कर्मके, भई अशुभकी हानि।
तातैं तुरत बनारसी, गही धर्मकी बानि॥

जो बनारसी सन्तापजन्य रसके रसिया थे, वे अब जिनेन्द्रके शान्त रसमें मस्त रहने लगे। लोग जिन्हें गली कूचोंमें भटकते देखते थे, उन्हें अब जिनमन्दिरमें अष्टद्रव्ययुक्त जाते देखने लगे। बनारसीको जिन-दर्शनके बिना भोजनत्यागकी प्रतिज्ञा, चतुर्दश नियम, व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमणादि अनेक आचार विचारमें तन्मय देखने लगे।

तब अपजसी बनारसी, अब जस भयो विख्यात।

पश्चात्—

बानारसिके दूसरो, भयो और सुतकीर।
कछुक कालमें उडि गयो, तज पिंजरा शरीर॥

१ पापकाय

इस पोतेके मरनेसे खरगसेनजीको बहुत दु:ख हुआ, परन्तु पुत्रके रँग ढँग अच्छे देखकर उन्हें शान्तवन भी मिलता रहा। सवत् १६६७ में एक दिन खरगसेनजीने अपने पुत्रको एकान्तमें बुलाके कहा, "बेटा, अब तुम सयाने हो गये। हमारी वृद्ध अवस्था भी आई। पुत्रका धर्म है कि, योग्य वय प्राप्त होनेपर पिताकी सेवा करे, इसलिये अब तुम घरका सब काम काज सम्हालो और हम दोनोंको भोजन देओ।" यह सुनकर पुत्र लज्जित होकर रह गया, उससे कुछ नहीं कहा गया और आँखोंमें आँसू भर आये। पिताने उसे गोदमें लेकर हल्दीका तिलक कर दिया और घरका सब काम काज सौंप दिया। पीछे दो मुद्रिका, चौबीस माणिक, चौतीस मणि, नौ नीलम, बीस पन्ना, और चार गाठ फुटकर चुन्नी, इस प्रकार तो जवाहिरात, बीस मन घी, दो कुप्पे तैल, दो सौ रुपयेका कपडा और कुछ रुपये नकद देकर व्यापारके लिये आगरा जानेकी आज्ञा दी। बनारसीदासजीने सब माल गाडियोंमें लदाकर अनेक साथियोंके साथ आगरेको चल दिया। वहाँ वे मोती कटलेमें अपने छोटे बहनेऊके यहाँ ठहरे और उनकी सम्मतिसे किरायेसे मकान ले लिया, और खरीद बेंच शुरू कर दी। इन्होंने कपड़ा, घी और तेलकी बिक्रीका रुपया हुंडीसे जौनपुर भेज दिया। आगरेमें अच्छे अच्छे ठगा जाते हैं, परन्तु अच्छा हुआ कि, किसी लुच्चे लफंगेकी दृष्टि इनपर नहीं पडी। फिर भी अशुभ कर्मने इन्हें रस दिया, इन्होंने रूमालमें कुछ छुट्टा जवाहिरात बाँध लिया था, वह न जाने कहाँ खिसक गया। इतने हीमें विपत्तिपर और विपत्ति आई कि कुछ माणिक कपडेमें बँधे हुए डेरेमें रक्खे थे, उन्हें चूहे घसीट ले गये! दो जड़ाऊ पहुँची एक शराफको बेची थीं, दूसरे दिन उसका दिवाला निकल गया! एक जड़ाऊ मुद्रिका सडकपर गाठ लगाते समय नीचे गिर पड़ी, परन्तु जब नीचे देखा तब कुछ पता नहीं लगा,

किसी उठाईगीरेके हाथकी सफाई चल गई। इस प्रकार एकपर एक आपत्तियोंके आनेसे बनारसीका कोमल हृदय क्षुभित हो गया। सौंझको खूब जोरसे ज्वर चढ़ आया। चिन्ताके कारण बीमारी बढ़ गई। वैद्यने दस लंघने कराईं पीछे पथ्य दिया। अशक्तताके कारण महीने भर तक बाजारका आना जाना न हो सका। इस बीचमें पिताके कई पत्र आये, परन्तु किसीका भी उत्तर नहीं दिया। तो भी बात प्रगट हो ही गई। उत्तमचद जौहरी जो बनारसीके बडे बहनेऊ थे, उन्होंने खरगसेनजीको पत्र लिखा कि, बनारसीदास जमा पूंजी सब खोके भिखारी हो गये हैं। इस समाचारसे खरगसेनजीके घरमें रोना पीटना होने लगा। वे कलह-पूर्वक अपनी स्त्रीसे कहने लगे कि, मैं तो पहिले ही जानता था, कि पूत धूल लगावेगा परन्तु तेरे कहनेसे निश्चय किया था, उसका यह परिणाम हुआ—

> कहा हमारा सब थया, भया भिखारी पूत।
> पूंजी खोई बेहया, गया बनज गय सूत॥

यहाँ बनारसीदासजीके पास जो कुछ वस्तु थी, सो सब बेंच बेंच कर खाने लगे, जब धनके दो चार टके रह गये, तब हाट बाजारका जाना भी छोड़ दिया। दिन व्यतीत करनेके लिये डेरेमें बैठे हुए पुस्तकें पढ़ा करते थे। पोथियाँ सुननेके लिये दो चार रसिक पुरुष भी आ बैठते थे, और सुनकर प्रसन्न होते थे। श्रोताओंमें एक कचौड़ीवाला था, उसके यहाँसे आप प्रतिदिन दोनों वक्त कचोड़ी उधार खाया करते थे। जब उधार खाते खाते बहुत दिन हो गये, तब एक दिन पोथी सुनकर जाते समय कचौरीवालेको एकान्तमें बुलाकर लज्जित होते हुए बनारसीदासजीने कहा कि—

न बनारसी औरहि भयो।
स्याद्वाद परणति परणयो।
सुनि सुनि रूपचन्दके बैन।
बानारसी भयो दिढ़ जैन॥
मे कछु कालिमा, हुती सरदहन बीच।
मिटी समता भई, रही न ऊँच न नीच॥

८४ में बनारसीदासजीको तीसरी भार्यासे पुत्र अवतरित थोड़े ही दिन जीकर चल बसा। फिर संवत् १६८५ में दूसरा दो वर्ष जीकर परलोक पधारा। संवत् १६८७ में तीसरा पुत्र ९ में एक पुत्री हुई। पुत्री तो थोड़े दिनकी होकर मर गई परन्तु बढ़ने लगा। इस सात आठ वर्षके बीचमें इन्होंने सूक्तिमुक्ता- अध्यात्मबत्तीसी, मोक्षपैडी, फाग, धमाल, सिन्धुचतुर्दशी कवित्त, शिवपचीसी, भावना, सहस्रनाम, कर्मछत्तीसी, गीत, वचनिका आदि कविताओंकी रचना की। ये सब कवितायें गमके अनुकूल ही हुई हैं—

सोलह सौ बानवे लौं, कियो नियत रस पान।
पै कवीसुरी सब भई, स्याद्वाद परमान॥

गोम्मटसारके पढ़ चुकनेपर जब इनके हृदयके पट खुल गये, तब भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत समयसारका भाषा पद्यानुवाद करना प्रारंभ किया। भाषा-साहित्यमें यह ग्रन्थ अद्वितीय और अनुपम है। इसमें बड़ी सरलतासे अध्यात्म जैसे कठिन विषयका वर्णन किया है। संवत् १६९६ में इनका प्रिय इकलौता पुत्र भी इस असार संसारसे विदा माँग गया। इस पुत्रशोककी इनके हृदयपर बड़ी गहरी चोट लगी, उन्हें यह संसार नक दिखाई देने लगा। क्योंकि—

१६८० में खैराबादके बेगासाहजीकी पुत्रीके साथ इनका तीसरा विवाह हो गया।

आगरेमें अर्थमल्लजी नामक अध्यात्म-रसके रसिक एक सज्जन थे। कविवरका उनके साथ विशेष समागम रहता था। वे कविवरकी विलक्षण काव्यशक्ति देखकर आनन्दित होते थे, परंतु उनकी कवितामें आध्यात्मिक विचारोंका अभाव देखकर कभी कभी दुःखी भी होते थे। एक दिन अवसर पाकर उन्होंने कविवरको पं० राजमल्लजीकृत समयसारटीका देकर कहा कि, आप इसको एक बार पढ़िये और सत्यकी खोज कीजिये। उन्होंने उस ग्रंथको कई बार पढ़ा, परन्तु बिना गुरुके उन्हें अध्यात्मका यथार्थ मार्ग नहीं सूझ सका, और वे निश्चय नयमें इतने लवलीन हो गये कि, बाह्य क्रियाओंसे विरक्त होने लगे—

करनीको रस मिट गयो, भयो न आतमस्वाद।
भई बनारसिकी दशा, जथा ऊँटको पाद॥

उन्होंने जप, तप, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंको बिलकुल छोड़ दिया, यहाँतक कि भगवानका चढ़ा हुआ नैवेद्य (निर्माल्य) भी खाने लगे। यह दशा केवल इनकी ही नहीं हुई थी, वरन इनके मित्र चन्द्रभान, उदयकरन और थानमल्लजी आदि भी इसी अँधेरेमें पड़ गये थे। और निश्चय नयको इतने एकान्तरूपसे ग्रहण कर लिया था कि—

नगन होहि चारों जने, फिरहिं कोठरी माहिं।
कहहिं भये मुनिराज हम, कछु परिग्रह नाहिं॥

सौभाग्यवश पं० रूपचन्दजीका आगरेमें आगमन हुआ। पंडितजीने इन्हें अध्यात्मके एकान्त रोगसे ग्रसित देखकर गोम्मटसाररूप औषधका उपचार किया। गुणस्थानोंके अनुसार ज्ञान और क्रियाओंका विधान भली भाँति समझते ही उनकी आँखें खुल गईं—

तब बनारसी औरहि भयो।
स्याद्वाद परणति परणयो।
सुनि सुनि रूपचन्दके बैन।
बानारसी भयो दिढ़ चैन ॥
हिरदेमे कछु कालिमा, हुती सरदहन बीच।
सोउ मिटी समता भई, रही न ऊँच न नीच ॥

सवत् १६८४ में बनारसीदासजीको तीसरी भार्यासे पुत्र अवतरित हुआ, परंतु थोड़े ही दिन जीकर चल बसा। फिर सवत् १६८५ में दूसरा पुत्र हुआ जो दो वर्ष जीकर परलोक पधारा। सवत् १६८७ में तीसरा पुत्र और १६८९ में एक पुत्री हुई। पुत्री तो थोड़े दिनकी होकर मर गई परंतु पुत्र क्रमशः बढने लगा। इस सात आठ वर्षके बीचमें इन्होंने सूक्तिमुक्तावली, अध्यात्मबत्तीसी, मोक्षपैडी, फाग, धमाल, सिन्धुचतुर्दशी फुटकर कवित्त, शिवपचीसी, भावना, सहस्रनाम, कर्मछत्तीसी, अष्टकगीत, वचनिका आदि कविताओंकी रचना की। ये सब कवितायें जिनागमके अनुकूल ही हुई हैं—

सोलह सौ बानवे लौं, कियो नियत रस पान।
पै कवीसुरी सब भई, स्यादवाद परमान ॥

गोम्मटसारके पढ चुकनेपर जब इनके हृदयके पट खुल गये, तब भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत समयसारका भाषा पद्यानुवाद करना प्रारंभ किया। भाषा-साहित्यमें यह ग्रन्थ अद्वितीय और अनुपम है। इसमें बड़ी सरलतासे अध्यात्म जैसे कठिन विषयका वर्णन किया है। संवत् १६९६ में इनका प्रिय इकलौता पुत्र भी इस असार ससारसे विदा माँग गया। इस पुत्रशोककी उनके हृदयपर बड़ी गहरी चोट लगी, उन्हें यह ससार भयानक दिखाई देने लगा। क्योंकि—

नौ बालक हूए मुवे, रहे नारिनर दोय ।
ज्यों तरुवर पतझार ह्वै, रह ठूठसे होय ॥

व विचारने लगे कि—

तत्त्वदृष्टि जो देखिये, सत्यारथकी भाँति ।
ज्यों जाको परिग्रह घटे, त्यों ताको उपशांति ॥

परन्तु—

संसारी जाने नहीं, सत्यारथकी बात ।
परिग्रहमों माने विभव, परिग्रह बिन उतपात ॥

विदित हो कि अभाग्यवश कविवरका पूर्ण जीवनचरित प्राप्त नहीं है। शुभोदयमें जो कुछ प्राप्त है, वह उनकी ५५ वर्षकी अवस्था तक का वृत्तान्त है, और यह पुस्तक अर्द्धकथानकके नामसे प्रसिद्ध है। उसे कविवरने स्वयं अपनी पवित्र लेखनीसे लिखा है। लेखकने प्रथमें अपने गुण और दोष दोनों निष्पक्ष रीतिसे वर्णन किये हैं, वे यहाँ अक्षरशः उद्धृत करते हैं —

अब बनारसीके कहौं, वर्तमान गुणदोष ।
विद्यमान पुर आगरे, सुखसों रह सजोष ॥

कहै सबनिसों हित उपदेश। हिरद सुष्ट दुष्ट नहिं लेश॥
पररमनीको त्यागी सोय। कुव्यसन और न ठानै कोय॥
हृदय शुद्ध समकितकी टेक। इत्यादिक गुन और अनेक॥
अल्प जघन्य कहे गुन जोय। नहिं उतकिष्ट न निर्मल होय॥

दोष कथन।

क्रोध मान माया जलरेख। पै लक्ष्मीको मोह विशेख॥
पोतै हास्य कर्मदा उदा। घरसों हुआ न चाहै जुदा॥
करै न जप तप संजमरीत। नहीं दान पूजामों प्रीत॥
थोरे लाभ हर्ष बहु धरै। अल्प हानि बहु चिन्ता करै॥
मुख अवद्य भाषत न लजाय। सीखै भंडकला मन लाय॥
भाखै अकथ-कथा विरतंत। ठानै नृत्य पाय एकन्त॥
अनदेखी अनसुनी बनाय। कुकथा कहै सभामें आय॥
होय निमग्न हास्य रस पाय। मृषावाद बिन रह्यो न जाय॥
अकस्मात भय व्यापै घनी। ऐसी दशा आयकर बनी॥

उपसंहार।

कबहूं दोष कबहुं गुन कोय। जाको उदय सु परगट होय॥
यह बनारसीजीकी बात। कही थूल जो हुती विख्यात॥
और जो सूच्छम दशा अनंत। ताकी गति जानै भगवंत॥
जे जे बातें सुमिरन भई। तेते वचनरूप परनई॥
जे बूझी प्रमाद इहि माहिं। ते काहूपै कहीं न जाहिं॥
अल्प थूल भी कहै न कोय। भाषै सो जु केवली होय॥

एक जीवकी एक दिन, दशा होत जेतीक।
सो कहि सकै न केवली, यद्यपि जानै ठीक॥

सब लोगोंकी नाईं दर्शन पूजनको जाना ठीक नहीं जँचा, जब तक कि मुनि परीक्षित न हों। इसलिये परीक्षाके लिये उद्यत हुए। एक दिन उक्त दोनों मुनिराज मन्दिरके दालानमें एक झरोखेके निकट बैठे हुए थे और सम्मुख भक्तजन धर्मोपदेश सुननेकी आशासे बैठे थे। झरोखेके दूसरी ओर एक बाग था। उस बागमें मुनियोंकी दृष्टि भलीभाँति पहुँचती थी और बागमें टहलनेवाले पुरुषकी दृष्टि भी मुनियोंपर सहजमें पड़ती थी। बनारसीदासजी उस बगीचेमें पहुँचे और झरोखेके पास खड़े हो गये। जब किसी मुनिकी दृष्टि उनकी ओर जाती थी, तब वे अंगुली हिलाके उसे चिढ़ाते थे। मुनियोंने उनकी यह कृति कई बार देखकर मुख फेर लिया, परन्तु कविवरने अपनी अंगुली मटकाना बन्द नहीं किया। निदान मुनिद्वय क्षमा विसर्जन करनेको तैयार हो गये, और भक्तजनोंकी ओर मुँह करके बोले कि, देखो तो बागमें कोई दुष्ट ऊधम मचा रहा है। इतने शब्दोंके सुनते ही जब तक कि, लोग बागमें देखनेको आवें, कविवर लम्बे लम्बे पैर रखते चल दिये। देखा तो वहाँ कोई न था, बनारसीदासजी पद बढ़ाये हुए चले जा रहे थे। लोगोंने विनयसे मुनि महाशयोंसे कहा, महाराज, वहाँ और तो दूसरा कोई नहीं था, हमारे यहाँके सुप्रतिष्ठित पण्डित बनारसीदासजी थे, जो हम लोगोंके पहुँचनेके पहिले ही वहाँसे चले गये। यह जानकर कि, वह कोई विद्वान् परीक्षक था, मुनियोंको कुछ चिन्ता हुई, और दो चार दिन रहकर वे अन्यत्र विहार कर गये। कहते हैं कि, कविवर परीक्षा कर चुकनेपर फिर मुनियोंके दर्शनोंको नहीं गये।

६ एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी बनारसीदासजीकी काव्य प्रशंसा सुनकर अपने कुछ चेलोंके साथ आगरे आये तथा कविवरसे मिले। कई दिनोंके समागमके पश्चात् वे अपनी बनाई हुई रामायणकी एक प्रति भेंट

देकर विदा हो गये, और पार्श्वनाथ स्वामीकी स्तुति मय दो तीन कविताओंके जो बनारसीदासजीने भेंट में दी थीं, साथमें लेते गये। इसके दो तीन वर्षके उपरान्त जब दोनों कवि श्रेष्ठोंका पुन मिलाप हुआ, तब तुलसीदासजीने रामायणके सौन्दर्य्यके विषयमें प्रश्न किया। जिसके उत्तरमें कविवरने एक कविता उसी समय रचके सुनाई—

विराजै रामायण घटमाहिं। मरमी होय मरम
सो जानै, मूरख मानै नाहिं। विराजै रामायण० ॥ १ ॥
आतम राम ज्ञान गुन लछमन, सीता सुमति समेत।
शुभपयोग वानरदल मंडित, वर विवेक रनखेत, विराजै० ॥२॥
ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि, गई विषयदिति भाग।
भई भस्म मिथ्यामत लंका, उठी धारणा आग, विराजै० ॥३॥
जरे अज्ञान भाव राक्षसकुल, लरे निकांछित सूर।
जूझे रागद्वेष सेनापति, ससै गढ़ चकचूर, विराजै० ॥ ४ ॥
विलखत कुंभकरण भव विभ्रम, पुलकित मन दरयाव।
थकित उदार वीर महिरावण, सेतुबंध समभाव, विराजै० ॥५॥
मूर्छित मंदोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति परणति सेना, छुटे छपकगुण वान, विराजै० ॥६॥
निरखि सकति गुन चक्रसुदर्शन, उदय विभीषण दीन।
फिरै कबंध मही रावणकी, प्राणभाव शिरहीन, विराजै० ॥७॥
इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम,।
यह विवहारदृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम, विराजै० ॥८॥

बनारसीविलास पृष्ठ २४२

१—सूपनखा राक्षसी।

तुलसीदासजी इस अध्यात्मचातुर्यको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले "आपकी कविता मुझे बहुत प्रिय लगी है," मैं उसके बदलेमें आपको क्या सुनाऊं? उस दिन आपकी पार्श्वनाथस्तुति पढ़के मैंने भी एक पार्श्वनाथ स्तोत्र बनाया था, उसे आपकी ही भेंट करता हूँ। ऐसा कहके "भक्तिविरदावली" नामक एक सुन्दर कविता कविवरको अर्पण की। कविवरको उस कवितासे बहुत संतोष हुआ, और पीछे बहुत दिनों तक दोनों सज्जनोंकी भेंट समय समय पर होती रही।

७ कविवरका देहोत्सर्गकाल अविदित है, परंतु मृत्युकालकी एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि, अन्तकालमें कविवरका कंठ रुँध गया था, इस कारण वे बोल नहीं सकते थे। और अपने अन्त समयका निश्चय कर ध्यानावस्थित हो रहे थे। लोगोंको विश्वास हो गया था कि, ये अब घड़े दो घड़ेसे अधिक जीवित नहीं रहेंगे। परन्तु जब घड़े दो घड़ेमें कविवरकी ध्यानावस्था पूर्ण नहीं हुई, तब लोग तरह तरह के ख्याल करने लगे। मूर्ख लोग कहने लगे कि, इनके प्राण माया और कुटुम्बियोंमें अटक रहे हैं, जब तक कुटुम्बी जन इनके सम्मुख न होंगे और दौलतकी गठरी इनके समक्ष न होगी, तब तक प्राण विसर्जन न होंगे। इस प्रस्तावमें सबने अनुमति प्रकाश की, किसीने भी विरोध नहीं किया। परन्तु लोगोंके इस मूर्खतापूर्ण विचारोंको कविवर सहन नहीं कर सके। उन्होंने इस लोकमूढ़ताका निवारण करना चाहा, इसलिये एक पटिका और लेखनीके लानेके लिये निकटस्थ लोगोंको इशारा किया। बड़ी कठिनतासे लोगोंने उनके इस संकेतको समझा। जब लेखनी आ गई, तब उन्होंने दो छन्द गढ़कर लिख दिये। उन्हें पढ़कर लोग अपनी भूलको समझ गये, और कविवरको कोई परम विद्वान् और धर्मात्मा समझकर वैयावृत्यमें तल्लीन हुए।

ज्ञान कुतका हाथ, मारि अरि मोहना ।
प्रगट्यौ रूप स्वरूप, अनंत सु सोहना ॥
जा परजैको अंत, सत्य कर मानना ।
चले बनारसिदास, फेर नहिं आवना ॥

बनारसीदासजीकी रचना ।

कविवरके रचे हुए १ नाटक समयसार, २ बनारसीविलास, ३ नाममाला और ४ अर्द्धकथानक ये चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जो भाषाके जैनसाहित्यमें अनुपम रत्न हैं। न० १ का ग्रंथ आपके हाथमें है, न० २ का ग्रंथ २३ वर्ष पहले छपा था, जो अब अप्राप्य हो रहा है, नाममाला भी छपनेवाली है, अर्द्धकथानक का सम्पादन प० नाथूरामजी प्रेमी ने किया है, जो शीघ्र ही विद्वत्तापूर्ण भूमिका सहित प्रकाशित होगी।

देवरीकलां (सागर)
कार्तिक कृष्णा १४
वी० सं० २४५४

सज्जनोंका सेवक—
हीरालाल नेगी।



श्रीपरमात्मने नमः ।

स्व० पं० बनारसीदासविरचित

समयसार नाटक

भाषाटीका सहित ।



हिन्दी टीकाकारकी ओरसे मंगलाचरण ।

दोहा।

निज स्वरूपकौ परम रस, जामैं भरौ अपार ।
बन्दौं परमानन्द मय, समयसार अविकार ॥ १ ॥
कुन्दकुन्द मुनि-चन्दवर, अमृतचंद मुनि-इंद ।
आत्मरसी बानारसी, बंदौ पद अरविंद ॥ २ ॥

ग्रन्थकारकी ओरसे मंगलाचरण।

श्रीपार्श्वनाथजीकी स्तुति। वर्ण ३१ छन्द मनहर।

(चार-अक्षराकी)

करम भरम जग-तिमिर हरन खग,
उरग-लखन पग सिवमगदरसी।
निरखत नयन भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविकजन-सरसी॥
मदन-कदन जित परम धरमहित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी।
सजल-जलद-तन मुकुट सपत फन,
कमठ दलन जिन नमत बनरसी॥ १॥

शब्दार्थ—खग=(ख=आकाश, ग=गमन) सूर्य। कदन=युद्ध। सजल=पानी सहित। जलद=(जल=पानी, द=देनेवाले) मेघ। सपत=सात।

अर्थ—जो संसारमें कर्मके भ्रमरूप अंधकारको दूर करनेके लिये सूर्यके समान हैं, जिनके चरणमें सांपका चिह्न है, जो मोक्षका मार्ग दिखाने वाले हैं, जिनके दर्शन करनेसे भव्य जीवोंके नेत्रोंसे आनंदके आँसू बह निकलते हैं और अनेक भव्यरूपी सरोवर

१ इस छन्दमें अन्त वर्णको छोड़कर सब वर्ण लघु हैं, मनहर छन्दमें 'अन्त एक गुरु पद अवशहिं धरिये' ऐसा छन्द धारका नियम है।

प्रसन्न हो जाते हैं, जिन्होंने कामदेवको युद्धमें हरा दिया है, जो उत्कृष्ट जैन धर्मके हितकारी हैं, जिनका स्मरण करनेसे भक्तजनोंके सब डर दूर भागते हैं, जिनका शरीर पानीसे भरे हुए मेघके समान नीला है, जिनका मुकुट सात फणका है, जो कमठके जीवको असुर पर्यायमें परास्त करनेवाले हैं, ऐसे पार्श्वनाथ जिनराजको (पंडित) बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

छन्द छप्पय। (इस छन्दमें सब वर्ण लघु हैं।)

सकल-करम-खल-दलन,
कमठ-सठ-पवन कनक-नग।
धवल परम-पद-रमन,
जगत-जन-अमल-कमल-खग ॥
परमत-जलधर-पवन,
सजल-घन-सम-तन समकर।
पर-अघ-रजहर जलद,
सकल जन-नत भव-भय-हर ॥

१ जब भगवान पार्श्वनाथ स्वामीकी मुनि अवस्थामें कमठके जीवने उपसर्ग किया था तब प्रभुकी राज्य अवस्थामें उपदेश पाये हुए नाग नागनीके जीवने धरणेन्द्र पद्मावतीकी पर्यायमें उपसर्ग निवारण किया था और सात फनका सर्प बनकर प्रभुके ऊपर छाया करके असह्य जल वृष्टिसे रक्षा की थी, इसी प्रयोजनसे इन भगवानकी प्रतिमापर सात फणका चिह्न प्रचलित है और इसी लिये कविने मुकुटकी उपमा दी है।

जमदलन नरकपद-छयकरन,
अगम अतट भवजलतरन ।
वर-सवल मदन वन-हरदहन,
जय जय परम अभयकरन ॥ २ ॥

शब्दार्थ—कनक-नग=(कनक सोना, नग=पहाड़) सुमेरु । परमत=जैनमतके सिवाय दूसरे सब मिथ्यामत । नम=वंदनीय । हर दहन=रुद्रकी अग्नि ।

अर्थ—जो संपूर्ण दुष्टकर्मोंको नष्ट करनेवाले हैं, कमठकी वायुके समक्ष मेरुके समान हैं अर्थात् कमठके जीवकी चलाई हुई तेज आंधीके उपसर्गसे जो नहीं हिलनेवाले हैं, निर्विकार सिद्ध पदमें रमण करते हैं, संसारी जीवों रूप कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यके समान हैं, मिथ्यामतरूपी मेघोंको उड़ा देनेके लिये प्रचण्ड वायु रूप हैं, जिनका शरीर पानीसे भरे हुए मेघके समान नीलवर्ण है, जो जीवोंको समता देनेवाले हैं, अशुभ कर्मोंकी धूल धोनेके लिये मेघके समान हैं, संपूर्ण जीवोंके द्वारा वन्दनीय हैं, जन्म मरणका भय हरनेवाले हैं, जिन्होंने मृत्युको जीता है, जो नरक गतिसे बचानेवाले हैं, जो बड़े और गम्भीर संसार सागरसे तारनेवाले हैं, अत्यन्त बलवान कामदेवके वनको जलानेके लिये रुद्रकी अग्निके समान हैं, जो जीवोंको बिलकुल निडर बनानेवाले हैं, उन (पार्श्वनाथ भगवान) की जय हो ! जय हो ! ! ॥ २ ॥

१ यह वैष्णवमतका दृष्टान्त है, उनके मतमें कथन है कि महादेवजीने तीसरा नेत्र निकाला और कामदेवको भस्म कर दिया। यद्यपि जैनमतमें यह बात अप्रमाण है तथापि दृष्टान्त मात्र प्रमाण है।

सवैया इक्तीसा।

जिन्हिके वचन उर धारत जुगल नाग,
भए धरनिंद पदुमावति पलकमें।
जाकी नाममहिमासौं कुधातु कनक करे,
पारस पखान नामी भयौ है खलकमें॥
जिन्हकी जनमपुरी-नामके प्रभाव हम,
अपनो स्वरूप लख्यौ भानुसौ भलकमें।
तेई प्रभु पारस महारसके दाता अब,
दीजै मोहि साता हगलीलाकी ललकमें॥३॥

शब्दार्थ—कुधातु=लोहा। पारसपखान=पारस पत्थर। खलक=जगत। झलक=प्रभा। महारस=अनुभवका स्वाद। साता=शान्ति।

अर्थ—जिनकी वाणी हृदयमें धारण करके सांपका जोडा क्षणभरमें धरणेन्द्र पद्मावती हुआ, जिनके नामके प्रतापसे जगतमें पत्थर भी पारसके नामसे प्रसिद्ध है जो लोहेको सोना बना देता है, जिनकी जन्मभूमिके नामके प्रभावसे हमने अपना आत्मस्वरूप देखा है—मानों सूर्यकी ज्योति ही प्रगट हुई है, वे अनुभव रसका स्वाद देनेवाले पार्श्वनाथ जिनराज अपनी प्यारी चितवनसे हमें शान्ति देवें॥ ३॥

श्रीसिद्धस्तुति। अडिल्ल छन्द।

अविनासी अविकार परमरसधाम है।
समाधान सरवंग सहज अभिराम है॥

सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत हैं।
जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत हैं ॥४॥

शब्दार्थ—सरवंग (सर्वांग)=सब आत्म प्रदेश। परमसुख=आत्मीय सुख। अभिराम=प्रिय।

अर्थ—जो नित्य और निर्विकार हैं, उत्कृष्ट सुखके स्थान हैं, साहजिक शान्तिसे सर्वांग[1] सुन्दर हैं, निर्दोष हैं, पूर्ण ज्ञानी हैं, विरोधरहित हैं, अनादि अनंत हैं, वे लोकके शिरोमणि सिद्ध भगवान सदा जयवंत होवें ॥ ४ ॥

श्रीसाधुस्तुति। सवैया इकतीसा।

ग्यानकौ उजागर सहज-सुखसागर,
सुगुन-रतनागर विराग रस भर्‌यौ है।
सरनकी रीति हरै मरनकौ न भै करै,
करनसौं पीठि दे चरन अनुसर्‌यौ है॥
धरमकौ मंडन भरमकौ विहंडन है,
परम नरम ह्वैके करमसौं लर्‌यौ है॥
ऐसौ मुनिराज भुवलोकमैं विराजमान,
निरखि वनारसी नमसकार कर्‌यौ है॥५॥

शब्दार्थ—उजागर=प्रकाशक। रतनागर (रत्नाकर)=मणियोंकी खानि। भै (भय)=डर। करन (करण)=इन्द्रिय। चरन (चरण)=

१ जिनका प्रत्येक आत्म प्रदेश निरुपम शान्तिसे भरपूर है।

चारित्र। विहडन=विनाश करनेवाला। नरम=कोमल अर्थात् निष्कषाय। भुव (भू)=पृथ्वी।

अर्थ—जो ज्ञानके प्रकाशक हैं, साहजिक आत्मसुखके समुद्र हैं, सम्यक्त्वादि गुणरत्नोंकी खानि हैं, वैराग्य रससे परिपूर्ण हैं, किसीका आश्रय नहीं चाहते, मृत्युसे नहीं डरते, इन्द्रिय विषयोंसे विरक्त होकर चारित्र पालन करते हैं, जिनसे धर्मकी शोभा है, जो मिथ्यात्वका नाश करनेवाले हैं, जो कर्मोंके साथ अत्यन्त शान्तिपूर्वक लडते हैं; ऐसे साधु महात्मा जो पृथ्वी तलपर शोभायमान हैं उनके दर्शन करके प० बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ ५ ॥

सम्यग्दृष्टीकी स्तुति। सवैया छन्द (८ भगण)

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट,
सीतल चित्त भयौ जिम चंदन।
केलि करै सिव मारगमैं,
जग माहि जिनेसुरके लघु नंदन॥
सत्यसरूप सदा जिन्हकै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।
सांतदसा तिन्हकी पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वंदन॥ ६॥

१ जो आत्म जनित है, किसीके द्वारा उत्पन्न नहीं होता। २ यह कर्मोंकी लडाई क्रोध आदि कषायोंके उद्वेग रहित होती है। ३ हृदयमें दर्शन करनेका अभिप्राय है।

शब्दार्थ—भेद विज्ञान=निज और परका विवेक। केलि=मौज। लघुनदन=छोटे पुत्र। अवदात=स्वच्छ। मिथ्यात निकन्दन=मिथ्यात्वको नष्ट करनेवाला।

अर्थ—जिनके हृदयमें निजपरका विवेक प्रगट हुआ है, जिनका चित्त चन्दनके समान शीतल है अर्थात् कषायोंका आताप नहीं है, और निज पर विवेक होनेसे जो मोक्ष मार्गमें मौज करते हैं, जो संसारमें अरहंत देवके लघु पुत्र हैं अर्थात् थोड़े ही कालमें अरहंत पद प्राप्त करनेवाले हैं, जिन्हें मिथ्या दर्शनको नष्ट करनेवाला निर्मल सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है; उन सम्यग्दृष्टी जीवोंकी आनन्दमय अवस्थाको निश्चय करके पं० बनारसीदासजी हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं॥ ६॥

सवैया इकतीसा।

स्वारथके साचे परमारथके साचे चित्त,
साचे साचे बैन कहें साचे जैनमती हैं।
काहूके विरुद्धि नाहि परजाय-बुद्धि नाहि,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं॥
सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घटमें प्रगट सदा,
अंतरकी लच्छिसौं अजाची लच्छपती हैं।
दास भगवंतके उदास रहें जगतसौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं॥७॥

शब्दार्थ—स्वारथ (स्वार्थ स्व=आत्मा, अर्थ=पदार्थ) आत्म पदार्थ । परमारथ (परमार्थ)=परम अर्थ अर्थात् मोक्ष । परजाय (पर्याय)= शरीर । लच्छि=लक्ष्मी । अजाची=नहीं माँगनेवाले ।

अर्थ—जिन्हें निज आत्माका सच्चा ज्ञान है और मोक्ष पदार्थसे सच्चा प्रेम है, जो हृदयके सच्चे हैं और सत्य वचन बोलते हैं तथा सच्चे जैनी हैं, किसीसे भी जिनका विरोध नहीं है, शरीरमें जिनको अहं बुद्धि नहीं है, जो आत्मस्वरूपके खोजक हैं न अणुव्रती हैं न महाव्रती हैं, जिन्हे सदैव अपने ही हृदयमें आत्महितकी सिद्धि, आत्मशक्तिकी रिद्धि और आत्मगुणोंकी वृद्धि प्रगट दिखती है, जो अंतरङ्ग लक्ष्मीसे अजाचि लक्षपति अर्थात् सम्पन्न हैं, जो जिनराजके सेवक हैं, संसारसे उदासीन रहते हैं, जो आत्मीय सुखसे सदा आनंदरूप रहते हैं, इन गुणोंके धारक सम्यग्दृष्टी जीव होते हैं ॥ ७ ॥

सवैया इकतीसा ।

जाके घट प्रगट विवेक गणधरकोसौ,
हिरदै हरखि महामोहको हरतु है ।

---

१ जैन धर्ममें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पदार्थ कहे हैं उनमें मोक्ष परम पदार्थ है । २ जिनराजके वचनों पर जिनका अटल विश्वास है । ३ समस्त नयोंके ज्ञाता होनेसे उनके ज्ञानमें किसी भी मतका विरोध नहीं भासता । ४ यहां असंजत सम्यग्दृष्टीको ध्यानमें रखके कहा है जिन्हें "चरित मोह वश लेश न संयम पै सुरनाथ जजै है ।"

साचौ सुख मानै निजमहिमा अडौल जानै,
आपुहीमें आपनौ सुभाउ ले धरतु है ॥
जैसें जल-कर्दम कतकफल भिन्न करै,
तैसें जीव अजीव विलछनु करतु है ।
आतम सकति साधै ग्यानकौ उदौ आराधै,
सोई समकिती भवसागर तरतु है ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—कर्दम=कीचड़ । कतकफल=निर्मली । विलछनु=पृथक्-करण । सकति=शक्ति ।

अर्थ—जिसके हृदयमें गणधर जैसा निज परका विवेक प्रगट हुआ है, जो आत्मानुभवसे आनन्दित होकर मिथ्यात्वको नष्ट करता है, सच्चे स्वाधीन सुखको सुख मानता है, अपने ज्ञानादि गुणोंको अविचल श्रद्धान करता है, अपने सम्यग्दर्शनादि स्वभावको आपहीमें धारण करता है, जो अनादिके मिले हुए जीव और अजीवका पृथक्करण जल कर्दमसे कतकफलके समान करता है, जो आत्मबल बढ़ानेमें उद्योग करता है और ज्ञानका प्रकाश करता है, वही सम्यग्दृष्टी संसार समुद्रसे पार होता है ॥ ८ ॥

---

१ गंदे पानीमें निर्मली डालनेसे कीचड़ नीचे बैठ जाता है और पानी साफ हो जाता है ।

मिथ्यादृष्टिका लक्षण। सवैया इकतीसा।

धरम न जानत बखानत भरमरूप,
ठौर ठौर ठानत लराई पच्छपातकी।
भूल्यौ अभिमानमैं न पाउ धरे धरनीमैं,
हिरदैमैं करनी विचारै उतपातकी॥
फिरै डांवाडोलसौ करमके कलोलिनिमें,
व्है रही अवस्था सु बघूलेकेसे पातकी।
जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी,
ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी॥९॥

शब्दार्थ—धरम (धर्म)=वस्तु स्वभाव। उतपात=उपद्रव।

अर्थ—जो वस्तु स्वभावसे अनभिज्ञ है, जिसका कथन मिथ्यात्वमय है और एकान्तका पक्ष लेकर जगह जगह लड़ाई करता है, अपने मिथ्याज्ञानके अहंकारमें भूलकर धरतीपर पाँव नहीं टिकाता और चित्तमें उपद्रव ही सोचता है, कर्मके झकोरोंसे संसारमें डाँवाडोल हुआ फिरता है अर्थात् विश्राम नहीं पाता सो ऐसी दशा हो रही है जैसे बघूलेमें पत्ता उड़ता फिरता है, जो हृदयमें (क्रोधसे) तप्त रहता है, (लोभसे) मलिन रहता है, (मायासे) कुटिल है, (मानसे) बड़े कुबोल बोलता है, ऐसा आत्मघाती और महापापी मिथ्यात्वी होता है ॥ ९ ॥

दोहा।

वंदौ सिव अवगाहना, अरु वंदौ सिव पंथ।
जसुप्रसाद भाषा करौं, नाटकनाम गरंथ॥ १०॥

शब्दार्थ—अवगाहना=आकृति।

अर्थ—मैं सिद्ध भगवानको और मोक्षमार्ग (रत्नत्रय)को नमस्कार करता हूँ, जिनके प्रसादसे देश भाषामें नाटक समयसार ग्रन्थ रचता हूँ॥ १०॥

कविस्वरूप वर्णन। सवैया मत्तगयन्द। (वर्ण २३)

चेतनरूप अनूप अमूरति,
सिद्धसमान सदा पद मेरौ[1]।
मोह महातम आतम अंग,
कियौ परसंग महा तम घेरौ[2]॥
ग्यानकला उपजी अब मोहि,
कहौं गुन नाटक आगमकेरौ।
जासु प्रसाद सधै सिवमारग,
वेगि मिटै भववास वसेरौ॥ ११॥

शब्दार्थ—अमूरति (अमूर्ति)=निराकार। परसंग (प्रसंग)=सम्बंध।

---

१ यहां निश्चय नयकी अपेक्षा कथन है। २ यहां व्यवहार नयकी अपेक्षा कथन है।

अर्थ—मेरा स्वरूप सदैव चैतन्यरूप उपमा रहित और निराकार सिद्ध सदृश है। परन्तु मोहके महा अंधकारका सम्बन्ध होनेसे अंधा बन रहा था। अब मुझे ज्ञानकी ज्योति प्रगट हुई है इसलिये नाटक समयसार ग्रन्थको कहता हूँ, जिसके प्रसादसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है और जल्दी संसारका निवास अर्थात् जन्म मरण छूट जाता है ॥ ११ ॥

कविलघुता वर्णन । छन्द मनहर । (वर्ण ३१)

जैसें कोऊ मूरख महा समुद्र तिरिवेकौं,
भुजानिसौं उद्यत भयौ है तजि नावरौ ।
जैसें गिरि ऊपर विरखफल तोरिवेकौं,
बावनु पुरुष कोऊ उमगै उतावरौ ॥
जैसें जलकुंडमें निरखि ससि-प्रतिबिंब,
ताके गहिवेकौं कर नीचौ करै टावरौ ।
तैसें मैं अलपबुद्धि नाटक आरंभ कीनौ,
गुनी मोहि हसैंगे कहैंगे कोऊ बावरौ ॥१२॥

शब्दार्थ—विरख (वृक्ष)=पेड़ । बावनु (बौना)=बहुत छोटे कदका मनुष्य । टावरौ[१]=बालक । बावरौ=पागल ।

अर्थ—जिस प्रकार कोई मूर्ख अपने बाहुबलसे बड़ा भारी समुद्र तैरनेका प्रयत्न करे, अथवा कोई बावनकूट पहाड़के वृक्षमें

१ यह शब्द मारवाड़ी भाषाका है।

लगे हुए फलको तोड़नेके लिये जल्दीसे उछले, जिस प्रकार कोई बालक पानीमें पड़े हुए चन्द्रबिम्बको हाथसे पकड़ता है, उसी प्रकार मुझ मन्द बुद्धिने नाटक समयसार (महाकार्य) प्रारंभ किया है, विद्वान् लोग हँसी करेंगे और कहेंगे कि कोई पागल होगा ॥ १२ ॥

सवैया इकतीसा।

जैसें काहू रतनसौं बींधो है रतन कोऊ,
तामें सूत रेसमकी डोरी पोई गई है।
तैसें बुध टीकाकरि नाटक सुगम कीनौं,
तापरि अलपबुधि सूधी परिनई है॥
जैसें काहू देसके पुरुष जैसी भाषा कहैं,
तैसी तिनिहूके बालकनि सीख लई है।
तैसें ज्यौं गरथकौ अरथ कह्यौ गुरु त्यौंहि,
हमारी मति कहिवेकौं सावधान भई है॥१३॥

शब्दार्थ—बुध=विद्वान्। परनई (परणई)=हुई है।

अर्थ—जिस प्रकार हीराकी कनीसे किसी रत्नमें छेदकर रक्खा हो तो उसमें रेशमका धागा डाल देते हैं उसी प्रकार विद्वान् स्वामी अमृतचन्द्रने टीका करके समयसारको सरल कर दिया है इससे मुझ अल्पबुद्धिकी समझमें आ गया। अथवा जिस प्रकार किसी देशके निवासी जैसी भाषा बोलते हैं वैसी

उनके बालक सीख लेते हैं उसी प्रकार मुझको गुरु परपरासे जैसा अर्थ ज्ञान हुआ है वैसा ही कहनेको मेरी बुद्धि तत्पर हुई है ॥ १३ ॥

अब कवि कहते हैं कि भगवानकी भक्तिसे हमें बुद्धिबल प्राप्त हुआ है ।

सवैया इकतीसा ।

कबहू सुमति व्है कुमतिको विनास करै,
कबहू विमल जोति अंतर जगति है ।
कबहू दया व्है चित्त करत दयालरूप,
कबहू सुलालसा व्है लोचन लगति है ॥
कबहू आरती व्है कै प्रभु सनमुख आवै,
कबहू सुभारती व्है बाहरि बगति है ।
धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारे भगवतकी भगति है ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—सुभारती=सुन्दरवाणी । लालसा=अभिलाषा । लोचन=नेत्र ।

अर्थ—हमारे हृदयमें भगवानकी ऐसी भक्ति है जो कभी तो सुबुद्धिरूप होकर कुबुद्धिको हटाती है, कभी निर्मल ज्योति होकर हृदयमे प्रकाश डालती है, कभी दयालु होकर चित्तको दयालु बनाती है, कभी अनुभवकी पिपासारूप होकर नेत्रोंको स्थिर करती है, कभी आरतीरूप होकर प्रभुके सन्मुख आती है, कभी सुन्दर वचनोंमे स्तोत्र बोलती है, जब जैसी अवस्था होती है तब तैसी क्रिया करती है ॥ १४ ॥

अथ नाटक समयसारकी महिमा वर्णन करते हैं। सवैया इकतीसा

मोख चलिवेकों सौंन करमको करे वौंन,
जाके रस-भौन बुध लौंन ज्यौं घुलत है।
गुनको गरथ निरगुनकों सुगम पथ,
जाको जसु कहत सुरेश अकुलत है॥
याहीके जु पच्छी ते उडत ग्यानगगनमें,
याहीके विपच्छी जगजालमें रुलत हैं।
हाटकसौ विमल विराटकसौ विसतार,
नाटक सुनत हीये फाटक खुलत है॥ १५

शब्दार्थ—सौंन=सीढ़ी, वौन=वमन, हाटक=सुवर्ण, भौ(भवन) जल।

अर्थ—यह नाटक मोक्षको चलनेके लिये सिढ़ि स्वरूप कर्म रूपी विकारका वमन करता है, इसके रसरूप ज विद्वान् लोग नमकके समान लीन हो जाते हैं, यह सम्य दर्शनादि गुणोंका गहा है, मुक्तिका सरल रास्ता है, इस महिमा वर्णन करते हुए इन्द्र भी लज्जित होते हैं, जिन्हें ग्रन्थकी पक्षरूप पखे प्राप्त हैं वे ज्ञानरूपी आकाशम वि करते हैं और जिनको इस ग्रन्थकी पक्षरूप पख नहीं हैं जगतके जजालमे फँसता है, यह ग्रन्थ शुद्ध सुवर्णके सम निर्मल है, विष्णुके विराटरूपके सदृश विस्तृत है, इस ग्रन्थ सुननेसे हृदयके कपाट खुल जाते हैं॥ १५॥

अनुभवका वर्णन। दोहा।

कहौं सुद्ध निहचैकथा, कहौं सुद्ध विवहार।
मुकतिपंथकारन कहौं अनुभौको अधिकार ॥ १६ ॥

अर्थ—शुद्ध निश्चय नय, शुद्ध व्यवहार नय और मुक्ति-मार्गमे कारण भूत आत्मानुभवकी चर्चा वर्णन करता हूँ ॥१६॥

अनुभवका लक्षण। दोहा।

वस्तु विचारत ध्यावतै, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभौ याकौ नाम ॥१७॥

अर्थ—आत्म पदार्थका विचार और ध्यान करनेसे चित्तको जो शान्ति मिलती है तथा आत्मीक रसका आस्वादन करनेसे जो आनद मिलता है उसीको अनुभव कहते है ॥ १७ ॥

अनुभवकी महिमा। दोहा।

अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोखकौ, अनुभव मोख सरूप॥१८॥

शब्दार्थ—चिंतामणि=मनोवांछित पदार्थोंका देनेवाला।

अर्थ—अनुभव चिंतामणि रत्न है, शान्ति रसका कुआ है, मुक्तिका मार्ग है और मुक्ति स्वरूप है ॥ १८ ॥

सवैया मनहर।

अनुभौके रसकौ रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथकी ठौर है।

अनुभौकी जो रसा कहावे सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसासों ऊरधकी दौर है ॥
अनुभौकी केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौको स्वाद पंच अमृतको कौर है।
अनुभौ करम तोरै परमसो प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरम कोऊ और है ॥१९॥

शब्दार्थ—रसा=पृथ्वी। अधोरसा=नरक। पोरसा=उपजाऊ भूमि। चित्रावेलि=एक तरहकी जड़ीका नाम।

अर्थ—अनुभवके रसको जगतके ज्ञानी लोग रसायन कहते हैं, अनुभवका अभ्यास एक तीर्थभूमि है, अनुभवकी भूमि सकल पदार्थोंको उपजानेवाली है, अनुभव नर्कसे निकालकर स्वर्ग मोक्षमें ले जाता है, इसका आनंद कामधेनु और चित्रावेलिके समान है, इसका स्वाद पंचामृत भोजनके समान है। यह कर्मोंको क्षय करता है और परम पदसे प्रेम जोड़ता है, इसके समान अन्य कोई धर्म नहीं है ॥ १९ ॥

नोट—संसारमें पंचामृत रसायन कामधेनु चित्रावेलि आदि सुखदायक पदार्थ प्रसिद्ध हैं, सो इनका दृष्टान्त दिया है परन्तु अनुभव इन सबसे निराला और अनुपम है।

छह द्रव्योंका ज्ञान अनुभवके लिये कारण है अतः उनका विवेचन किया जाता है। जीव द्रव्यका स्वरूप। दोहा।

चेतनवंत अनंत गुन, परजै सकति अनंत।
अलख अखंडित सर्वगत, जीव दरव चिरतंत॥२०॥

शब्दार्थ—अलख=इन्द्रियगोचर नहीं है। सर्वगत=सब लोकमें।

अर्थ—चैतन्यरूप है, अनंत गुण अनंत पर्याय और अनंत शक्ति सहित है, अमूर्तीक है, अखंडित है, सर्व व्यापी है। यह जीव द्रव्यका स्वरूप कहा है ॥ २० ॥

पुद्गल द्रव्यका लक्षण। दोहा।

फरस-वरन-रस-गंध मय, नरद-पास-संठान।
अनुरूपी पुदगल दरव, नभ-प्रदेश-परवान ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—फरस=स्पर्श। नरद पास=चौपड़का पासा। संठान=आकार। परवान (प्रमाण)=बराबर।

अर्थ—पुद्गल द्रव्य परमाणु रूप, आकाशके प्रदेशके बराबर, चौपड़के पाशेके आकारका स्पर्श, रस, गंध, वर्णवन्त है ॥ २१ ॥

धर्म द्रव्यका लक्षण। दोहा।

जैसैं सलिल समूहमैं, करै मीन गति-कर्म।
तैसैं पुदगल जीवकौं, चलनसहाई धर्म ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—सलिल=पानी। गति-कर्म=गमन क्रिया।

अर्थ—जिस प्रकार मछलीकी गमन क्रियामें पानी सहायक होता है, उसी प्रकार जीव पुद्गलकी गतिमें सहकारी धर्म द्रव्य है ॥ २२ ॥

---

१ लोक अलोक प्रतिबिम्बित होनेसे पूर्ण ज्ञानकी अपेक्षा सर्व व्यापी है। २ छह पहलका जैसे चपेटा होता है। ३ उदासीन निमित्त कारण है, प्रेरक नहीं है।

अधर्म द्रव्यका लक्षण । दोहा ।

ज्यौं पथी ग्रीपमसमै, वैठे छायामाँहि ।
त्यौं अधर्मकी भूमिमैं, जड चेतन ठहराँहि ॥२३॥

शब्दार्थ—पंथी=पथिक ।

अर्थ—जिस प्रकार ग्रीष्म कालमें पथिक छायाका निमित्त पाकर बैठते हैं उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी स्थितिमें निमित्त कारण है ॥ २३ ॥

आकाश द्रव्यका लक्षण । दोहा ।

सतत जाके उदरमैं, सकलपदारथवास ।
जो भाजन सब जगतकौ, सोई दरब अकास॥२४॥

शब्दार्थ—सतत=सदाकाल । भाजन=वर्तन, पात्र ।

अर्थ—जिसके पेटमें सदैव सम्पूर्ण पदार्थ निवास करते हैं, जो सम्पूर्ण द्रव्योंको पात्रके समान आधारभूत है, वही आकाश द्रव्य है ॥ २४ ॥

नोट—अवगाहना आकाशका परम धर्म है, सो आकाशद्रव्य अन्य द्रव्योंको अवकाश दिये हुए है और अपनेको भी अवकाश दिये हुए है । जैसे—ज्ञान जीवका परम धर्म है सो जीव अन्य द्रव्योंको जानता है और अपनेको भी जानता है ।

काल द्रव्यका लक्षण । दोहा ।

जो नवकरि जीरन करै, सकल वस्तुथिति ठांनि ।
परावर्त वर्तन धरै, काल दरव सो जानि ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—जीरन (जीर्ण)=पुराना।

अर्थ—जो वस्तुका नाश न करके सम्पूर्ण पदार्थोंकी नवीन हालतोंके प्रगट होने और पूर्व पर्यायोंके लय होनेमें निमित्त कारण है, ऐसा वर्तना लक्षणका धारक काल द्रव्य है ॥ २५ ॥

नोट—काल द्रव्यका परम धर्म वर्तना है, सो वह अन्य द्रव्योंकी पर्यायोंका वर्तन करता है और अपनी भी पर्याय पलटता है।

नव पदार्थोंका ज्ञान अनुभवके लिये कारण है अतः उनका विवेचन किया जाता है। जीवका वर्णन। दोहा।

समता-रमता उरधता, ग्यायकता सुखभास।
वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविलास ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—समता=राग द्वेष रहित वीतराग भाव। रमता=लीन रहना। उरधता (ऊर्ध्वता)=ऊपरको चढ़नेका स्वभाव। ग्यायकता=जानपना। वेदकता=स्वाद लेना।

अर्थ—वीतराग भावमें लीन होना, ऊर्ध्वगमन, ज्ञायक स्वभाव, साहजिक सुखका सम्भोग, सुखदुखका स्वाद और चैतन्यता ये सब जीवके निज गुण हैं ॥ २६ ॥

अजीवका वर्णन। दोहा।

तनता मनता वचनता, जड़ता जडसम्मेल।
लघुता गुरुता गमनता, ये अजीवके खेल ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—सम्मेल=बंध। लघुता=हलकापन। गुरुता=भारीपन। मगनता=लीन होना।

अर्थ—तन, मन, वचन, अचेतनता, एक दूसरेसे मिलना, हलका और भारीपन तथा अपने स्वभावमें तल्लीनता ये सब अजीवकी परणति हैं ॥ २७ ॥

पुण्यका वर्णन । दोहा ।

जो विशुद्धभावनि बंधै, अरु ऊरधमुख होइ ।
जो सुखदायक जगतमैं, पुन्य पदारथ सोइ ॥ २८ ॥

अर्थ—जो शुभभावोंसे बँधता है, स्वर्गादिके सन्मुख होता है और लौकिक सुखका देनेवाला है वह पुण्य पदार्थ है ॥२८॥

पापका वर्णन । दोहा ।

सकलेश भावनि बंधै, सहज अधोमुख होइ ।
दुखदायक ससारमैं, पाप पदारथ सोइ ॥ २९ ॥

अर्थ—जो अशुभ भावोंसे बँधता है तथा अपने आप नीच गतिमें गिरता है और संसारमें दुखका देनेवाला है, वह पाप पदार्थ है ॥ २९ ॥

आस्रवका वर्णन । दोहा ।

जोई करमउदोत धरि, होइ क्रिया रसरत्त ।
करषै नूतन करमकौ, सोई आस्रव तत्त ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—करम उदोत=कर्मका उदय होना । क्रिया=योगोंकी प्रवृत्ति । रस रत्त=राग सहित । रत्त=मग्न होना । तत्त=तत्त्व ।

अर्थ—कर्मके उदयमें योगोंकी जो राग सहित प्रवृत्ति होती है वह नवीन कर्मोंको खींचती है उसे आस्रव पदार्थ कहते हैं ॥ ३० ॥

१ यहां सांपरायिक आस्रवकी मुख्यता और ऐर्यापथिक आस्रवकी गौणता पूर्वक कथन है ।

सवरका वर्णन । दोहा ।

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग विरत्त ।
रोकै आवत करमकौ, सो है संवर तत्त ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—विरत्त=अलहदा होना ।

अर्थ—जो ज्ञान दर्शन उपयोगको प्राप्त करके योगोंकी क्रियासे विरक्त होता है और आस्रवको रोक देता है वह सवर पदार्थ है ॥ ३१ ॥

निर्जरा वर्णन । दोहा ।

जो पूरव सत्ता करम, करि थिति पूरन आउ ।
खिरवेकौं उद्यत भयौ, सो निर्जरा लखाउ ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—थिति=स्थिति । सत्ता=अस्तित्व । खिरवेकौं=झड़नेके लिये । उद्यत=तैयार, तत्पर ।

अर्थ—जो पूर्वस्थित कर्म अपनी अवधि पूर्ण करके झडनेको तत्पर होता है उसे निर्जरा पदार्थ जानो ॥ ३२ ॥

बधका वर्णन । दोहा ।

जो नवकरम पुरानसौं, मिलैं गांठि दिढ़ होइ ।
सकति वढ़ावै वंसकी, वध पदारथ सोइ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—गांठि=गाठ । दिढ़ (दृढ)=पक्की ।

१ बधके नष्ट होनेसे मोक्ष अवस्था प्राप्त होती है इससे यहां मोक्षके पूर्व बध तत्त्वका कथन किया है और आस्रवके निरोध पूर्वक सवर होता है इस लिये सवरसे पहिले [illegible] । कथन किया है ।

अर्थ—जो नवीन कर्म पुराने कर्मसे परस्पर मिलकर मजबूत बँध जाता है और कर्मशक्तिकी परपराको बढ़ाता है वह बध पदार्थ है ॥ ३३ ॥

मोक्षका वर्णन । दोहा ।

थिति पूरन करि जो करम, खिरै बंधपद भानि ।
हंस अंस उज्जल करै, मोक्ष तत्त्व सो जानि ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—भानि=नष्ट करके ।

अर्थ—जो कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके बंध दशाको नष्ट कर लेता है और आत्मगुणोको निर्मल करता है उसे मोक्ष पदार्थ जानो ॥ ३४ ॥

वस्तुके नाम । दोहा ।

भाव पदारथ समय धन, तत्त्व वित्त वसु दर्व ।
द्रविन अरथ इत्यादि बहु, वस्तु नाम ये सर्व॥३५॥

अर्थ—भाव, पदार्थ, समय, धन, तत्त्व, वित्त, वसु, द्रव्य, द्रविण, आदि सब वस्तुके नाम हैं ॥ ३५ ॥

शुद्ध जीव द्रव्यके नाम । सवैया इकतीसा ।

परमपुरुष परमेसुर परमज्योति,
परब्रह्म पूरन परम परधान है ।
अनादि अनंत अविगत अविनाशी अज,
निरदुंद मुकत मुकुंद अमलान है ॥
निराबाध निगम निरंजन निरविकार,
निराकार संसारसिरोमनि सुजान है ।

सरवदरसी सरवज्ञ सिद्ध स्वामी सिव,
धनी नाथ ईस जगदीस भगवान है ॥३६॥

सामान्यत जीव द्रव्यके नाम ।

चिदानंद चेतन अलख जीव समेसार,
बुद्धरूप अबुद्ध असुद्ध उपजोगी है ।
चिद्रूप स्वयभू चिनमूरति धरमवत,
प्रानवंत प्रानी जंतु भूत भवभोगी है ॥
गुनधारी कलाधारी भेपधारी विद्याधारी,
अंगधारी सगधारी जोगधारी जोगी है ।
चिन्मय अखंड हस अक्षर आतमराम,
करमको करतार परम विजोगी है ॥ ३७ ॥

अर्थ—परमपुरुष, परमेश्वर, परमज्योति, परब्रह्म, पूर्ण, परम, प्रधान, अनादि, अनत, अव्यक्त, अविनाशी, अज, निर्द्वंद, मुक्त, मुकुद, अमलान, निराबाध, निगम, निरजन, निर्विकार, निराकार, ससारशिरोमणि, सुज्ञान, सर्वदर्शी सर्वज्ञ, सिद्ध, स्वामी, शिव, धनी, नाथ, ईश, जगदीश, भगवान॥३६॥

अर्थ—चिदानद, चेतन, अलक्ष, जीव, समयसार, बुद्धरूप, अबुद्ध, अशुद्ध, उपयोगी चिद्रूप, स्वयभू, चिन्मूर्ति, धर्मवंत, प्राणवत, प्राणी, जतु, भूत, भवभोगी, गुणधारी कलाधारी, भेपधारी, विद्याधारी, अगधारी, सगधारी, योगधारी, योगी, चिन्मय, अखंड, हंस, अक्षर, आत्माराम, कर्मकर्ता, परम-वियोगी ये सब जीवद्रव्यके नाम हैं ॥ ३७ ॥

आकाशके नाम। दोहा।

ख विहाय अंबर गगन, अंतरिच्छ जगधाम।
व्योम वियत नभ मेघपथ, ये अकासके नाम॥३८॥

अर्थ—ख, विहाय, अंबर, गगन, अंतरिच्छ, जगधाम, व्योम, वियत, नभ, मेघपथ ये आकाशके नाम हैं॥ ३८॥

कालके नाम। दोहा।

जम कृतांत अंतक त्रिदस, आवर्ती मृतथान।
प्रानहरन आदिततनय, काल नाम परवान॥३९॥

अर्थ—यम, कृतांत, अंतक, त्रिदश, आवर्ती, मृत्युस्थान, प्राणहरण, आदित्यतनय ये कालके नाम हैं॥ ३९॥

पुन्यके नाम। दोहा।

पुन्य सुकृत ऊरधवदन, अकररोग शुभकर्म।
सुखदायक संसारफल, भाग बहिर्मुख धर्म॥४०॥

अर्थ—पुण्य, सुकृत, ऊर्ध्ववदन, अकररोग, शुभकर्म, सुखदायक, संसारफल, भाग्य, बहिर्मुख, धर्म ये पुन्यके नाम हैं ४०

पापके नाम। दोहा।

पाप अधोमुख एन अघ, कंप रोग दुखधाम।
कलिल कलुस किल्विस दुरित, असुभ करमके नाम

अर्थ—पाप, अधोमुख, एन, अघ, कंप, रोग, दुखधाम, कलिल, कलुष, किल्विष और दुरित ये अशुभ कर्मके नाम हैं॥ ४१॥

मोक्षके नाम । दोहा ।

सिद्धक्षेत्र त्रिभुवनमुकुट, शिवथल अविचलथान ।
मोख मुकति वैकुंठ सिव, पंचमगति निरवान॥४२॥

अर्थ—सिद्धक्षेत्र, त्रिभुवनमुकुट, शिवथल, अविचलस्थान, मोक्ष, मुक्ति, वैकुंठ, शिव, पंचमगति, निर्वाण ये मोक्षके नाम हैं ॥ ४२ ॥

बुद्धिके नाम । दोहा ।

प्रज्ञा धिसना सेमुसी, धी मेधा मति बुद्धि ।
सुरति मनीषा चेतना, आसय अंश विसुद्धि ॥४३॥

अर्थ—प्रज्ञा, धिषणा, सेमुषी, धी, मेधा, मति, बुद्धि, सुरती, मनीषा, चेतना, आशय, अंश और विशुद्धि ये बुद्धिके नाम हैं ॥ ४३ ॥

विचक्षण पुरुषके नाम । दोहा ।

निपुन विचच्छन विबुध बुध, विद्याधर विद्वान ।
पटु प्रवीन पंडित चतुर, सुधी सुजन मतिमान॥४४॥
कलावंत कोविद कुसल, सुमन दच्छ धीमंत ।
ज्ञाता सज्जन ब्रह्मविद, तज्ञ गुनीजन संत ॥ ४५ ॥

अर्थ—निपुण, विचक्षण, विबुध, बुद्ध, विद्याधर, विद्वान्, पटु, प्रवीण, पंडित, चतुर, सुधी, सुजन, मतिमान् ॥ ४४ ॥ कलावंत, कोविद, कुशल, सुमन, दक्ष, धीमंत, ज्ञाता, सज्जन, ब्रह्मवित्, तज्ञ, गुणीजन, संत ये विद्वान् पुरुषके नाम हैं ॥ ४५ ॥

मुनीश्वरके नाम । दोहा ।

मुनि महत तापस तपी, भिच्छुक चारितधाम ।
जती तपोधन सयमी, व्रती साधु ऋषि नाम ॥४६॥

अर्थ—मुनि, महत, तापस, तपी, भिक्षुक, चारित्रधाम, यती, तपोधन, सयमी, व्रती, साधु और ऋषि ये मुनिके नाम हैं ॥ ४६ ॥

दर्शनके नाम । दोहा ।

दरस विलोकनि देखनौ, अवलोकनि दृगचाल ।
लखन दृष्टि निरखनि जुवनि, चितवनि चाहनि भाल

अर्थ—दर्शन, विलोकन, देखना, अवलोकन, दृगचाल, लखन, दृष्टि, निरीक्षण, जोवना, चितवन, चाहन, भाल, ये दर्शनके नाम है ॥ ४७ ॥

ज्ञान और चारित्रके नाम । दोहा ।

ग्यान बोध अवगम मनन, जगतभान जगजान ।
सजम चारित आचरन, चरन वृत्ति थिरवान ॥४८॥

अर्थ—ज्ञान, बोध, अवगम, मनन, जगत्‌भानु, जगत्‌जान, ये ज्ञानके नाम है । सयम चारित्र आचरण, चरण, वृत्त, थिरवान, ये चारित्रके नाम हैं ॥ ४८ ॥

सत्यके नाम । दोहा ।

सम्यक सत्य अमोघ सत, निसदेह निरधार ।
ठीक जथारथ उचित तथ, मिथ्या आदि अकार ॥

अर्थ—सम्यक्, सत्य, अमोघ, सत्, निसंदेह, निरधार, ठीक, यथार्थ, उचित, तथ्य, ये सत्यके नाम है। इन शब्दोंके आदिमें अकार लगानेसे झूठके नाम होते हैं ॥ ४९ ॥

झूठके और नाम। दोहा।

अजथारथ मिथ्या मृपा, वृथा असत्त अलीक।
मुधा मोघ निःफल वितथ, अनुचित असत अठीक॥

अर्थ—अयथार्थ, मिथ्या, मृपा, वृथा, असत्य, अलीक, मुधा, मोघ, निःफल, वितथ, अनुचित, असत्य, अठीक ये झूठके नाम है ॥ ५० ॥

नाटक समयसारके बारह अधिकार। सवैया इकतीसा।

जीव निरजीव करता करम पुन्न पाप,
आस्रव संवर निरजरा बंध मोष है।
सरब विसुद्धि स्यादवादसाध्य साधक,
दुवादस दुवार धरे समैसार कोष है॥
दरवानुयोग दरवानुजोग दूरि करै,
निगमकौ नाटक परमरसपोष है।
ऐसौ परमागम बनारसी बखानै जामैं,
ग्यानकौ निदान सुद्ध चारितकी चोप है ५१

अर्थ—समयसारजीके भंडारमें [1]जीव, [2]अजीव, [3]कर्ताकर्म, [4]पुण्यपाप, [5]आस्रव, [6]संवर, [7]निर्जरा, [8]बंध, [9]मोक्ष, सर्वविशुद्धि, स्याद्वाद

और साध्य साधक ये बारह अधिकार हैं। यह उत्कृष्ट ग्रंथ द्रव्यानुयोग रूप है आत्माको पर द्रव्योंके संयोगसे पृथक करता है अर्थात् मोक्षमार्गमें लगाता है। यह आत्माका नाटक परमशान्ति रसको पुष्ट करनेवाला है, सम्यग्ज्ञान और शुद्धचारित्रका कारण है इसे पण्डित बनारसीदासजी पद्य रचनामें वर्णन करते हैं॥ ५१॥

समयसार नाटक।

जीवद्वार।

(१)

चिदानद भगवानकी स्तुति। दोहा।

शोभित निज अनुभूति जुत, चिदानंद भगवान।
सार पदारथ आतमा, सकल पदारथ जान॥ १॥

शब्दार्थ—निज अनुभूति=अपनी आत्माका स्वसंवेदित ज्ञान। चिदानद (चित्+आनंद)=जिसे आत्मीय आनद हो।

अर्थ—वह चिदानद प्रभु अपने स्वानुभवसे सुशोभित है। सब पदार्थोंमे सारभूत आत्मपदार्थ है और सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता है॥ १॥

सिद्ध भगवानकी स्तुति, जिसमें शुद्ध आत्माका वर्णन है।
सवैया तेईसा।

*** जो अपनी दुति आप विराजत,**
है परधान पदारथ नामी।

---

*नीचे टिप्पणीमें जो श्लोक दिये गये हैं वे श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित नाटक समयसार कलसाके श्लोक हैं। जिन श्लोकोंका प० बनारसीदासजीने पद्यानुवाद किया है।

नम समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे॥ १॥

चेतन अंक सदा निकलंक,
महा सुख सागरकौ विसरामी ॥
जीव अजीव जिते जगमें,
तिनकौ गुन ज्ञायक अंतरजामी।
सो सिवरूप वसै सिव थानक,
ताहि विलोकि नमैं सिवगामी ॥ २ ॥

शब्दार्थ—द्युति (द्युति)=ज्योति। विराजत=प्रकाशित। परधान=प्रधान। विसरामी (विश्रामी)=शान्तिरसका भोक्ता। शिवगामी=मोक्षको जानेवाले सम्यग्दृष्टि, श्रावक, साधु, तीर्थंकर आदि।

अर्थ—जो अपने आत्मज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशित हैं, सब पदार्थोंमें मुख्य हैं, जिनका चैतन्य चिह्न है, जो निर्विकार हैं, बड़े भारी सुख समुद्रमें आनंद करते हैं, संसारमें जितने चेतन अचेतन पदार्थ हैं उनके गुणोंके ज्ञाता घटघटकी जानने वाले हैं, वे सिद्ध भगवान मोक्षरूप हैं, मोक्षपुरीके निवासी हैं, उन्हें मोक्षगामी जीव ज्ञानदृष्टिसे देखकर नमस्कार करते हैं ॥२॥

जिनवाणीकी स्तुति। सवैया तेईसा।

जोग धरै रहै जोगसौं भिन्न,
अनंत गुनातम केवलज्ञानी।

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्त्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

तासु हृदै-द्रहसौं निकसी,
सरितासम व्है श्रुत-सिधु समानी ॥
याते अनंत नयातम लच्छन,
सत्य स्वरूप सिधंत वखानी।
वुद्ध लखै न लखै दुरवुद्ध,
सदा जगमाँहि जगै जिनवानी ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—वुद्ध=पवित्र जैनधर्मके विद्वान्। दुरवुद्ध=मिथ्यादृष्टी, कोरे व्याकरण कोष आदिके ज्ञाता परन्तु नय ज्ञानसे शून्य[1]।

अर्थ—अनंत गुणोंके धारक केवलज्ञानी भगवान यद्यपि संयोगी है तथापि योगोंसे पृथक् है[2]। उनके हृदय रूप द्रहसे नदी रूप जिनवाणी निकलकर शास्त्र रूप समुद्रमे प्रवेश कर गई है, इससे सिद्धान्तमे इसे सत्य स्वरूप और अनत नयात्मक कहा है। इसे जैन धर्मके मर्मी सम्यग्दृष्टी जीव पहचानते हैं, मूर्ख मिथ्यादृष्टी लोग नहीं समझते। ऐसी जिनवाणी जगतमे सदा जयवत होवे ॥ ३ ॥

---

१ ऐसे लोगोंको आदिपुराणमे अक्षर म्लेक्ष कहा है। २ तेरहवें गुणस्थानमें मन, वचन, कायके सात योग कहे है परन्तु योगोंद्वारा ज्ञानका अनुभव नहीं करते इस लिये अयोगी ही है।

बनि व्यवस्था। छन्द छप्पय।

हौ निहचै तिहुँकाल, सुद्ध चेतनमय मूरति।
पर परनति सजोग, भई जडता विसफूरति॥
मोहकर्म पर हेतु पाइ, चेतन पर रच्चइ।
ज्यों धतूर-रस पान करत, नर बहुविध नच्चइ॥
अब समयसार बरनन करत,
परम सुद्धता होहु मुझ।
अनयास बनारसिदास कहि,
मिटहु सहज भ्रमकी अरुझ॥ ४॥

शब्दार्थ—पर परणति=निज आत्माके सिवाय अन्य चेतन अचेतन पदार्थमें अहंबुद्धि और रागद्वेष। विसफूरति (विस्फूर्ति)=मालूम तिहुँकाल=तीनकाल (भूत, वर्तमान, भविष्यत)। रच्चइ=रागकरना नच्चइ=नाचना। अनायास=ग्रन्थ पढ़ने आदिका प्रयत्न किये बिना अकस्मात्। अरुझ=उलझन।

अर्थ—मैं निश्चयनयसे सदाकाल शुद्ध चैतन्य मूर्ति परन्तु पर परणतिके समागमसे अज्ञान दशा प्राप्त हुई है। मो

१ था, हूँ और रहूंगा।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्य व्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः॥ ३॥

कर्मका पर निमित्त पाकर आत्मा पर पदार्थोंमे अनुराग करता है, इससे धतूरेका रस पीकर नाचनेवाले मनुष्य जैसी दशा हो रही है। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि अब समयसारका वर्णन करनेसे मुझे परम विशुद्धता प्राप्त होवे और बिना प्रयत्न ही मिथ्यात्वकी उलझन अपने आप मिट जावे ॥ ४ ॥

शास्त्रका माहात्म्य। सवैया इकतीसा।

निहचैमे रूप एक विवहारमें अनेक,
याही नै-विरोधमे जगत भरमायौ है।
जगके विवाद नासिवेकौ जिन आगम है,
जामे स्याद्वादनाम लच्छन सुहायौ है॥
दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप,
आगम प्रमान ताके हिरदैमे आयौ है।
अनैसौ अखंडित अनूतन अनंत तेज,
ऐसौ पद पूरन तुरंत तिनि पायौ है॥ ५॥

शब्दार्थ—नै=नय। दर्शन मोह=जिसके उदयसे जीव तत्त्व श्रद्धानसे गिर जाता है। पूरणपद (पूर्णपद)=मोक्ष।

अर्थ—निश्चयनयमे पदार्थ एक रूप है और व्यवहारमे अनेक रूप है। इस नय विरोधमे संसार भूल रहा है, सो इस विवादको

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥ ४ ॥

नष्ट करनेवाला जिनागम है जिसमें स्याद्वादका शुभ चिह्न[1] है। जिस जीवको दर्शन मोहनीय उदय नहीं होता उसके हृदयमें स्वतः स्वभाव यह प्रमाणिक जिनागम प्रवेश करता है और उसे तत्काल ही नित्य, अनादि और अनंत प्रकाशवान मोक्षपद प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

निश्चय नयकी प्रधानता। सवैया तेईसा।

ज्यों नर कोउ गिरै गिरिसों तिहि,
सोइ हितू जो गहै दिढबाहीं।
त्यों बुधकों विवहार भलौ
तबलौं जबलौं शिव प्रापति नाहीं॥
यद्यपि यों परवान तथापि,
सधै परमारथ चेतनमाहीं।
जीव अव्यापक है परसों,
विवहारसों तौ परकी परछाहीं॥ ६ ॥

शब्दार्थ—गिरि=पर्वत। बाहीं=भुजा। बुध=ज्ञानी।

---

१ मुहर छाप लगी हुई है—स्याद्वादसे ही पहिचाना जाता है कि यह जिनागम है।

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित् ॥ ५ ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य पहाड़परसे फिसल पड़े और कोई हितकारी बनकर उसकी भुजा मजबूतीसे पकड़ लेवे उसी प्रकार ज्ञानियोंको जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है तब तक व्यवहारका अवलम्ब है, यद्यपि यह बात सत्य है तो भी निश्चय नय चैतन्यको सिद्ध करता है तथा जीवको परसे भिन्न दर्शाता है और व्यवहारनय तो जीवको परके आश्रित करता है।

भावार्थ—यद्यपि चौथे गुणस्थानसे चौदहवें गुणस्थान तक व्यवहारका ही अवलम्बन है, परन्तु व्यवहारनयकी अपेक्षा निश्चयनय उपादेय है, क्योंकि उससे पदार्थका असली स्वरूप जाना जाता है और व्यवहार नय अभूतार्थ होनेसे परमार्थमें प्रयोजनभूत नहीं है ॥ ६ ॥

सम्यग्दर्शनका स्वरूप। सवैया इकतीसा।

शुद्धनय निहचै अकेलौ आपु चिदानंद,
अपनैंही गुन परजायकौं गहतु है।
पूरन विग्यानघन सो है विवहारमाहि,
नव तत्त्वरूपी पंच दर्वमें रहतु है॥
पंच दर्व नव तत्त्व न्यारे जीव न्यारौ लखै,
सम्यकदरस यहै और न गहतु है।

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मन
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्य पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम्
तन्मुक्ता नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु न. ॥ ६ ॥

सम्यकदरस जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटो बनारसी कहतु है ॥ ७॥

शब्दार्थ—लेखै=श्रद्धान करे। घट=हृदय।

अर्थ—शुद्ध निश्चय नयसे चिदानंद अकेला ही है और अपने गुण पर्यायोंमें परिणमन करता है। व्यवहारनयमें वह पूर्णज्ञानका पिण्ड वा पाच द्रव्य नव तत्त्वमें एकसा हो रहा है। पाच द्रव्य और नव तत्त्वोंसे चेतियता चेतन निराला है, ऐसा श्रद्धान करना और इसके सिवाय अन्य भांति श्रद्धान नहीं करना सो सम्यक्दर्शन है, और सम्यक्दर्शन ही आत्माका स्वरूप है। प० बनारसीदासजी कहते हैं कि वह सम्यक्दर्शन अर्थात् आत्माका स्वरूप मेरे हृदयमें प्रगट होवे ॥ ७ ॥

जीवकी दशापर अग्निका दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

जैसें तृण काठ वास आरने इत्यादि और,
ईंधन अनेक विधि पावकमें दहिये।

१ लखन दर्शन, अवलोकन आदि शब्दोंका अर्थ जैनागममें कहीं तो 'देखना' होता है जो दर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखता है और कहीं इन शब्दोंका अर्थ 'श्रद्धान करना' लिया जाता है जो दर्शन मोहनीयके अनोदयकी अपेक्षासे है सो यहां दर्शनमोहनीयके अनोदयका ही प्रयोजन है।

२ जैनागममें छह द्रव्य कहे हैं पर यहां काल द्रव्यको गौणकरके पचास्तिकायको ही द्रव्य कहा है।

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति ॥ ७ ॥

आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप,
दीसै एक दाहक सुभाव जब गहिये ॥
तैसैं नव तत्त्वमैं भयौ है बहु भेषी जीव,
सुद्धरूप मिश्रित असुद्ध रूप कहिये।
जाही छिन चेतना सकतिकौ विचार कीजे,
ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये ॥ ८॥

शब्दार्थ—आरने=जंगलके। दाहक=जलानेवाला। अलख=अरूपी। अभेद=भेद व्यवहारसे रहित।

अर्थ—जैसे कि घास, काठ, बांस वा जंगलके अनेक ईंधन आदि अग्निमें जलते हैं, उनकी आकृतिपर ध्यान देनेसे अग्नि अनेक रूप दिखती है, परन्तु यदि मात्र दाहक स्वभावपर दृष्टि डाली जावे तो सब अग्नि एक रूप ही है, उसी प्रकार जीव (व्यवहारनयसे) नव तत्त्वोंमें शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र आदि अनेक रूप हो रहा है, परन्तु जब उसकी चैतन्य शक्तिपर विचार किया जाता है तब वह (शुद्धनयसे) अरूपी और अभेद रूप ग्रहण होता है ॥ ८॥

जीवकी दशा पर सुवर्णका दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

जैसैं बनवारीमैं कुधातके मिलाप हेम,
नानाभांति भयौ पै तथापि एक नाम है।

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८॥

कसिकै कसोटी लीकु निरखै सराफ ताहि,
धानके प्रवान करि लेतु देतु दाम है ॥
तैसें ही अनादि पुदगलसौं संजोगी जीव,
नव तत्त्वरूपमें अरूपी महा धाम है।
दीसे उनमानसौं उदोतवान ठौर ठौर,
दूसरो न और एक आतमाही राम है ॥९॥

शब्दार्थ—बनवारी=घरिया। लीकु=रेखा। उनमान (अनुमान)=साधनमें साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं, जैसे धूमको देखकर अग्निका ज्ञान करना। धान=चमक।

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्ण कुधातुके संयोगसे अग्निके तावमें अनेक रूप होता है, परन्तु तो भी उसका नाम एक सोना ही रहता है तथा सर्राफ कसौटीपर कसकर उसकी रेखा देखता है और उसकी चमकके अनुसार दाम देता लेता है, उसी प्रकार अरूपी महा दिप्तवान जीव अनादिकालसे पुद्गलके समागममें नव तत्त्वरूप दिखता है, परन्तु अनुमान प्रमाणसे सब हालतोंमें ज्ञानस्वरूप एक आतमरामके सिवाय और दूसरा कुछ नहीं है।

भावार्थ—जब आत्मा अशुभ भावमें वर्तता है तब पाप तत्त्व रूप होता है, जब शुभ भावमें वर्तता है तब पुण्य तत्त्व रूप होता है, और जब शम, दम, संयमभावमें वर्तता है तब संवर रूप होता है, इसी प्रकार भावास्रव भावबंध आदिमें वर्तता हुआ आस्रवबंधादि रूप होता है, तथा जब शरीरादि जड़ पदार्थोंमें

अहबुद्धि करता है तब जड़ स्वरूप होता है, परन्तु वास्तवमे इन सब अवस्थाओंमे वह शुद्ध सुवर्णके समान निर्विकार है ॥ ९ ॥

अनुभवकी दशामें सूर्यका दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

जैसें रवि-मंडलके उदै महि-मंडलमें,
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसें परमातमाको अनुभौ रहत जौलों,
तौलों कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है॥
नयको न लेस परवानको न परवेस,
निच्छेपके वंसको विधुंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक है तेऊ तहां बाधक है,
बाकी राग दोषकी दसाकी कौन बातु है॥१०

शब्दार्थ—महिमंडल=पृथ्वीतल। परवान=प्रमाण। परवेस(प्रवेश)=पहुँच।

अर्थ—जिस प्रकार सूर्यके उदयमे भूमंडल पर धूप फैल जाती है और अंधकारका लोप हो जाता है उसी प्रकार जब तक शुद्ध आत्माका अनुभव रहता है तब तक कोई विकल्प या नय आदिका पक्ष नहीं रहता। वहा नय विचारका लेश नहीं

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९॥

है, प्रमाणकी पहुँच नहीं है और निक्षेपोंका समुदाय नष्ट हो जाता है। पूर्वकी दशामें जो जो बातें सहायक थीं वे ही अनुभवकी दशामें बाधक होती हैं और राग द्वेष तो बाधक हैं ही।

भावार्थ—नय तो वस्तुका गुण सिद्ध करता है और अनुभव सिद्ध वस्तुका होता है इससे अनुभवमें नयका काम नहीं है, प्रत्यक्ष परोक्ष आदि प्रमाण असिद्ध वस्तुको सिद्ध करते हैं सो अनुभवमें वस्तु सिद्ध ही है अत प्रमाण भी अनावश्यक हैं, निक्षेपसे वस्तुकी स्थिति समझमें आती है सो अनुभवमें शुद्ध आत्म पदार्थका भान रहता है अत निक्षेप भी निष्प्रयोजन है, इतना ही नहीं ये तीनों अनुभवकी दशामें बाधा कारक हैं परन्तु इन्हें हानिकर समझकर प्रथम अवस्थामें छोड़नेका उपदेश नहीं है, क्योंकि इनके बिना पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता। ये नय आदि साधक हैं और अनुभव साध्य है, जैसे कि दंड चक्र आदि साधनोंके बिना घटकी सृष्टि नहीं होती। परन्तु जिस प्रकार घट पदार्थ सिद्ध हुए पीछे दंड चक्र आदि विडंबना रूप ही होते हैं उसी प्रकार अनुभव प्राप्त होनेके उपरान्त नय निक्षेप आदिके विकल्प हानिकारक हैं॥ १०॥

शुद्धनयकी अपेक्षा जीवका स्वरूप। अडिल्ल।

आदि अंत पूरन सुभाव संयुक्त है।
पर-सरूप पर-जोग-कल्पनामुक्त है॥

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं।
विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥ १०॥

सदा एकरस प्रगट कही है जैनमें।
सुद्धनयातम वस्तु विराजै वैनमैं॥ ११॥

शब्दार्थ—आदि अंत=सदैव। जोग=संयोग।

अर्थ—जीव, आदि अवस्था निगोदसे लगाकर अंत अवस्था सिद्ध पर्याय पर्यन्त अपने परिपूर्ण स्वभावसे संयुक्त है और परद्रव्योंके संयोगकी कल्पनासे रहित है, सदैव एक चैतन्य रससे सम्पन्न है ऐसा शुद्ध नयकी अपेक्षा जिनवाणीमें कहा है॥११॥

हितोपदेश। कवित्त (३१ मात्रा)।

सदगुरु कहै भव्यजीवनिसौं,
तोरहु तुरित मोहकी जेल।
समकितरूप गहौ अपनौगुन,
करहु सुद्ध अनुभवको खेल॥
पुदगलपिंड भाव रागादिक,
इनसौं नहीं तुम्हारौ मेल।
ए जड प्रगट गुपत तुम चेतन,
जैसें भिन्न तोय अरु तेल॥ १२॥

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक् स्वभावं॥ ११॥

शब्दार्थ—विभाव=पर वस्तुके संयोगसे जो विकार हों। विभूति=सम्पदा।

अर्थ—शुद्ध नयके विषयभूत आत्माको अनुभव ही ज्ञान सम्पदा है, आत्मा और ज्ञानमें नामभेद है वस्तुभेद नहीं है। (आत्मा गुणी है ज्ञान गुण है सो गुण और गुणीको पहिचान कर जब) कोई आत्म-ध्यान करता है तब उसकी रागादि अशुद्ध दशा नष्ट होकर शुद्ध अवस्था प्राप्त होती है।

भावार्थ—आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है, इनमें वस्तुभेद नहीं है। जैसे अग्निका गुण उष्णता है, यदि कोई अग्नि और उष्णताको पृथक् पृथक् करना चाहे तो नहीं हो सकते। उसी प्रकार ज्ञान और आत्माका सहभावी संबंध है पर नाम भेद अवश्य है कि यह गुणी है और यह उसका गुण है॥ १४॥

ज्ञानियोंका चिंतवन। सवैया इकतीसा।

अपनेंही गुन परजायमैं प्रवाहरूप,
परिनयौ तिहूं काल अपनै अधारसौं।
अन्तर-बाहर-परकासवान एकरस,
खिन्नता न गहै भिन्न रहै भौ विकारसौं॥

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं॥ १४॥

चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ जीव,
जैसे लौंन-कांकर भर्‌यो है रस खारसौं।
पूरन-सुरूप अति उज्जल विग्यानघन,
मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवारसौं ॥१५॥

शब्दार्थ—भौ (भव)=संसार। लौन कांकर=नमककी डली। निरवार=निवारण।

अर्थ—जीव पदार्थ सदैव अपने ही आधार रहता है और अपने ही धारा प्रवाह गुण पर्यायोंमें परिणमन करता है, बाह्य और अभ्यन्तर एकसा प्रकाशमान रहता है कभी कमती नहीं होता, वह संसारके विकारोंसे पृथक् है, उसमें चैतन्य रस ऐसा ठसाठस भर रहा है, जैसे कि नमककी डली खारेपनसे भरपूर रहती है। ऐसा परिपूर्ण स्वरूप, अत्यन्त निर्विकार, विज्ञानघन आत्मा मोहके अत्यन्त क्षयसे मुझे प्रगट होवे ॥ १५ ॥

साध्य साधकका स्वरूप वा द्रव्य और गुण पर्यायोंकी अभेद विवक्षा।

कवित्त।

जंह ध्रुवधर्म कर्मछय लच्छन,
सिद्धि समाधि साधिपद सोई।
सुद्धपयोग जोग महिमंडित,
साधक ताहि कहै सब कोई ॥

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥ १५ ॥

यों परतच्छ परोच्छ रूपसों,
साधक साधि अवस्था दोई।
दुहुकों एक ग्यान सचय करि,
सेवै सिववछक थिर होई॥ १६॥

शब्दार्थ—ध्रुव=नित्य। साध्य=जो इष्ट अबाधित और असि
हो। सुद्धपयोग=वीतराग परणति। थिर=स्थिर।

अर्थ—सम्पूर्ण कर्म समुदायसे रहित और अविनाश
स्वभाव सहित सिद्ध पद साध्य है और मन, वचन, काय
योगों सहित शुद्धोपयोग रूप अवस्था साधक है। उनमें ए
प्रत्यक्ष और एक परोक्ष है, ये दोनों अवस्थाएं एक जीवकी
ऐसा जो ग्रहण करता है वही मोक्षका अभिलाषी स्थिर-चि
होता है।

भावार्थ—सिद्ध अवस्था साध्य है और अरहत, सा
श्रावक, सम्यक्त्वी आदि अवस्थाएँ साधक हैं, इनमें प्रत्य
परोक्षका भेद है। ये सब अवस्थाएँ एक जीवकी हैं ऐ
जाननेवाला ही सम्यग्दृष्टि होता है॥ १६॥

द्रव्य और गुण पर्यायोंकी भेद विवक्षा। कवित्त।

दरसन ग्यान चरन त्रिगुनातम,
समलरूप कहिये विवहार।

---

१ पूर्व अवस्था साधक और उत्तर अवस्था साध्य होती है।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वत स्वयम्।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणत॥ १६॥

निहचै-दृष्टि एकरस चेतन,
भेदरहित अविचल अविकार ॥
सम्यकदसा प्रमान उभै नय,
निर्मल समल एक ही वार ।
यौं समकाल जीवकी परिनति,
कहै जिनेद गहै गनधार ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—समल=यहां समल शब्दसे असत्यार्थ, अभूतार्थका प्रयोजन है। निर्मल=इस शब्दसे यहां सत्यार्थ, भूतार्थका प्रयोजन है। उभै नय=दोनों नय (निश्चय और व्यवहार नय)। गणधार=गणधर (समवशरणके प्रधान आचार्य)।

अर्थ—व्यवहार नयसे आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन गुणरूप है, यह व्यवहार नय निश्चयकी अपेक्षा अभूतार्थ है, निश्चय नयसे आत्मा एक चैतन्य रस सम्पन्न, अभेद, नित्य और निर्विकार है। ये दोनों निश्चय और व्यवहार नय सम्यग्दृष्टिको एक ही कालमें प्रमाण है ऐसी एक ही समयमें जीवकी निर्मल समल परणति जिनराजने कही है और गणधर स्वामीने धारण की है ॥ १७ ॥

व्यवहार नयसे जीवका स्वरूप । दोहा ।

एकरूप आतम दरव, ग्यान चरन दृग तीन ।
भेदभाव परिनामसौं, विवहारै सु मलीन ॥ १८ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥

अर्थ—आत्म द्रव्य एक रूप है, उसको दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन भेदरूप कहना सो व्यवहार नय है—असत्यार्थ है ॥ १८ ॥

निश्चय नयसे जीवका स्वरूप । दोहा ।

जदपि समल विवहारसौं, पर्यय-सकति अनेक ।
तदपि नियत-नय देखिये, सुद्ध निरंजन एक ॥१९॥

शब्दार्थ—नियत=निश्चय । निरंजन=कर्म मल रहित ।

अर्थ—यद्यपि व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा अनेक गुण और पर्यायवन्त है तो भी निश्चय नयसे देखा जावे तो एक, शुद्ध, निरंजन ही है ॥ १९ ॥

शुद्ध निश्चय नयसे जीवका स्वरूप । दोहा ।

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर ।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और ॥

शब्दार्थ—रमि रहना=विश्राम लेना । ठौर=स्थान ।

अर्थ—आत्माको एक रूप श्रद्धान करना वा एक रूप ही जानना चाहिये, तथा एकमें ही विश्राम लेना चाहिये, निर्मल

---

१ दोहा—जेते भेद विकल्प हैं ते ते सब विवहार ।
निराबाध निरकल्प सो, निश्चय नय निरधार ॥

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥
आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥ १९ ॥

समलका विकल्प न करना चाहिये । इसीमें सर्वसिद्धि है, दूसरा उपाय नहीं है ।

भावार्थ—आत्माको निर्मल समलके विकल्प रहित एक रूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, एक रूप जानना सम्यक्ज्ञान है और एक रूपमें ही स्थिर होना सम्यक्चारित्र है, यही मोक्षका उपाय है ॥ २० ॥

शुद्ध अनुभवकी प्रशंसा । सवैया इकतीसा ।

जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत ग्यान,
विमल विकासवंत ज्योति लहलही है ।
यद्यपि त्रिविधिरूप विवहारमैं तथापि,
एकता न तजै यौं नियत अंग कही है ॥
सो है जीव कैसीहूं जुगतिकै सदीव ताकै,
ध्यान करिवेकौ मेरी मनसा उनही है ।
जातै अविचल रिद्धि होत और भांति सिद्धि,
नाहीं नाहीं नाहीं यामैं धोखो नाहीं सही है२१

शब्दार्थ—जुगति=युक्ति । मनसा=अभिलाषा । उनही है=तत्पर हुई है । अविचल रिद्धि=मोक्ष । धोखो=सन्देह ।

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नम्
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

अर्थ—आत्मा अनंत ज्ञानरूप लक्षणसे लक्षित है, उसके ज्ञानकी निर्मल प्रकाशवान ज्योति जग रही है, यद्यपि वह व्यवहार नयसे तीनें रूप है तौ भी निश्चय नयसे एक ही रूप है, उसका किसी भी युक्तिसे सदा ध्यान करनेको मेरा चित्त उत्साहित हुआ है, इसीसे मोक्ष प्राप्त होती है और कोई दूसरा तरीका कार्य सिद्ध होनेका नहीं है! नहीं है!! नहीं है!!! इसमें कोई सन्देह नहीं है बिलकुल सच है ॥ २१ ॥

ज्ञाताकी अवस्था। सवैया तेईसा।

कै अपनौ पद आप संभारत,
कै गुरुके मुखकी सुनि बानी।
भेदविग्यान जग्यौ जिन्हिके,
प्रगटी सुविवेक-कला-रजधानी ॥
भाव अनंत भए प्रतिबिंबित,
जीवन मोख दसा ठहरानी।
ते नर दर्पन ज्यौं अविकार,
रहैं थिररूप सदा सुखदानी ॥ २२ ॥

---

१ दर्शन, ज्ञान चारित्र अथवा बहिरात्मा, अंतरात्मा परमात्मा। २ यहां बार बार 'नहीं है' कहके कथनका समर्थन किया है।

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नाऽनन्तभावस्वभावै
र्मुकुरवदविकाराः सततं स्युस्त एव ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—रजधानी=शक्ति। जीवन मोक्षदशा=मानों यहाँ ही मोक्ष प्राप्त कर चुके।

अर्थ—अपने आप अपना स्वरूप सम्हालनेसे[1] अथवा श्रीगुरुके मुखारविंद द्वारा उपदेश सुननेसे[2] जिनको भेदविज्ञान जाग्रत हुआ है अर्थात् स्वपर विवेककी ज्ञान शक्ति प्रगट हुई है, उन महात्माओंको जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है। उनके निर्मल दर्पणवत् स्वच्छ आत्मामें अनंत भाव झलकते हैं परन्तु उनसे कुछ विकार नहीं होता। वे सदा आनंदमें मस्त रहते हैं ॥ २२ ॥

भेद विज्ञानकी महिमा। सवैया इकतीसा।

याही वर्तमानसमै भव्यनिको मिटो मोह,
लग्योहै अनादिको पग्यो है कर्ममलसों।
उदै करै भेदज्ञान महा रुचिको निधान,
उरको उजारो भारो न्यारो दुंद-दलसों ॥
जातैं थिर रहै अनुभौ विलास गहै फिरि,
कवहूं अपनपो न कहै पुदगलसों।

१ यह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है। २ यह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥ २२ ॥

यहै करतूति यों जुदाई करै जगतसों,
पावक ज्यों भिन्न करै कंचन उपलसों ॥२३॥

शब्दार्थ—निधान=खजाना। दुद (द्वंद)=संशय। उपल=पत्थर। महारुचि=दृढ़ श्रद्धान। जगत=जन्म मरण रूप संसार।

अर्थ—इस समय भव्य जीवोंका अनादिकालसे लगा हुआ और कर्म मलसे मिला हुआ मोह नष्ट हो जावे। इसके नष्ट हो जानेसे हृदयमें महाप्रकाश करनेवाला, संशय समूहको मिटानेवाला, दृढ़ श्रद्धानकी रुचि स्वरूप भेदविज्ञान प्रगट होता है। इससे स्वरूपमें विश्राम और अनुभवका आनंद मिलता है तथा शरीरादि पुद्गल पदार्थोंमें कभी अहंबुद्धि नहीं रहती। यह क्रिया उन्हें संसारसे ऐसे पृथक् बना देती है जिस प्रकार अग्नि स्वर्णको किट्टिकासे भिन्न कर देती है॥२३॥

परमार्थकी शिक्षा। सवैया इकतीसा।

बानारसी कहै भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
केहू भांति कैसेहूकै ऐसो काजु कीजिए।
एकहू मुहूरत मिथ्यातको विधुंस होइ,
ग्यानको जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए॥

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं॥२३॥

वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
यौंही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वासकौ विलास सविकाररूप,
अंतकरि मोहकौ अनंतकाल जीजिए ॥२४॥

शब्दार्थ—कैंहू भांति=किसी भी तरीकेसे। कैसैंहू कै=आप किसी प्रकारके बनकर। हंस=आत्मा। कौतूहल=क्रीड़ा। भव वासकौ विलास=जन्ममरणकी भटकना। अनंतकाल जीजिए=अमर हो जाओ अर्थात् सिद्ध पद प्राप्त करो।

अर्थ—पं० बनारसीदासजी कहते हैं—हे भाई भव्य! मेरा उपदेश सुनो कि किसी प्रयत्नसे और कैसे ही बनकर ऐसा काम करो जिससे मात्र अंतर्मुहूर्त[1]के लिये मिथ्यात्वका उदय न रहै, ज्ञानका अंश जाग्रत हो और आत्म स्वरूपकी पहिचान होवे। यावज्जीव उसहीका विचार, उसहीका ध्यान, उसहीकी लीलामें परमरसका पान करो और रागद्वेषमय संसारकी भटकना छोड़कर तथा मोहका नाश करके सिद्धपद प्राप्त करो॥ २४ ॥

तीर्थंकर भगवानके शरीरकी स्तुति। सवैया इकतीसा।

जाके देह-द्युतिसौं दसौं दिसा पवित्र भई,
जाके तेज आगैं सब तेजवंत रुके हैं।

---

१ दो घडी अर्थात् ४८ मिनिटमेंसे एक समय कम।

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण च।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतम्
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ २४ ॥

जाको रूप निरखि थकित महा रूपवंत,
जाकी वपु-वाससौं सुवास और लुके हैं ॥
जाकी दिव्यधुनि सुनि श्रवणको सुख होत,
जाके तन लच्छन अनेक आइ ढुके हैं ।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुन,
निहचै निरखि सुद्ध चेतनसौं चुके हैं ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—वपु-वाससौं=शरीरकी गंधसे । लुके=छुप गये । ढुके=प्रवेश किये । चुके=न्यारे ।

अर्थ—जिसके शरीरकी आभासे दशों दिशाएँ पवित्र होती हैं, जिसके तेजके आगे सब तेजवान लज्जित होते हैं, जिसका रूप देखकर महारूपवान हार मानते हैं, जिसके शरीरकी सुगंधसे सब सुगंध छिप जाती है, जिसकी दिव्यवाणी सुननेसे कानोंको सुख होता है, जिसके शरीरमें अनेक शुभ लक्षण आ बसे हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान हैं । उनके ये गुण व्यवहार नयसे कहे हैं, निश्चय नयसे देखो तो शुद्ध आत्माके गुणोंसे ये देहाश्रित गुण भिन्न हैं ॥ २५ ॥

जामैं बालपनौ तरुनापौ वृद्धपनौ नाहि,
आयु परजंत महारूप महाबल है ।

१ सूर्य, चन्द्रमा आदि । २ इन्द्र, कामदेव आदि । ३ मंदार, सुपारिजात आदि पुष्पोंकी । ४ कमल, चक्र, ध्वजा, कल्पवृक्ष, सिंहासन, समुद्र आदि १००८ ।

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यं ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेंद्ररूपं परं जयति ॥ २६ ॥

विना ही जतन जाके तनमैं अनेक गुन,
अतिसै-विराजमान काया निर्मल है ॥
जैसें विनु पवन समुद्र अविचलरूप,
तैसें जाकौ मन अरु आसन अचल है ।
ऐसौ जिनराज जयवंत होउ जगतमैं,
जाकी सुभगति महा सुकृतकौ फल है ॥२६॥

शब्दार्थ—तरुनापौ=जवानी । काया=शरीर । अविचल=स्थिर । सुभगति=शुभभक्ति ।

अर्थ—जिनके बालक, तरुण और वृद्धपनों नहीं है, जिनका जन्मभर अत्यन्त सुन्दर रूप और अतुल्य बल रहता है, जिनके शरीरमें स्वतः स्वभाव ही अनेक गुण व अतिशय विराजते है, तथा शरीर अत्यन्त उज्ज्वल है, जिनका मन और आसन पवनके झोकोंसे रहित समुद्रके समान स्थिर है, वे तीर्थंकर भगवान संसारमें जयवन्त होवें, जिनकी शुभभक्ति बडे भारी पुण्यके उदयसे प्राप्त होती है ॥ २६ ॥

जिनराजका यथार्थ स्वरूप । दोहा ।

जिनपद नांहि शरीरकौ, जिनपद चेतनमाँहि ।
जिनवर्नन कछु और है, यह जिनवर्नन नांहि ॥२७

१ बालकवत् अज्ञानता, युवावत् मदान्धपना और वृद्धवत् देह जीर्ण नहीं होती। २ चौंतीस अतिशय । ३ पसीना, नाक, राल आदि मल रहित हैं ।

शब्दार्थ—और=दूसरा। जिन=जीते सो जिन अर्थात् जिन्होंने कामक्रोधादि शत्रुओंको जीता है।

अर्थ—यह (ऊपर कहा हुआ) जिन वर्णन नहीं है, जिन वर्णन इससे निराला है, क्योंकि जिनपद शरीरमें नहीं है, चेतियता चेतनमें है॥ २७॥

पुद्गल और चैतन्यके भिन्न स्वभावपर दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

ऊंचे ऊंचे गढके कगूरे यों विराजत हैं,
मानों नभलोक गीलिवेकों दांत दीयो है।
मोहे चहुँओर उपवनकी सघनताई,
घेरा करि मानों भूमिलोक घेरि लीयो है॥
गहिरी गंभीर खाई ताकी उपमा बनाई,
नीचौ करि आनन पताल जल पीयो है।
ऐसो है नगर यामें नृपको न अंग कोऊ,
योंही चिदानंदसों शरीर भिन्न कीयो है॥२८

शब्दार्थ—गढ=किला। नभलोक=स्वर्ग। आनन=मुँह।

अर्थ—जिस नगरमें बडे बडे ऊंचे किले हैं जिनके कगूरे ऐसे शोभायमान होते हैं मानो स्वर्गलोक निगल जानेके लिये दांत ही फैलाये हैं, उस नगरके चारों ओर सघन बगीचे इस

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलं।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालं॥ २५॥

प्रकार सुशोभित होते हैं मानो मध्यलोक ही घेर रक्खा है और उस नगरकी ऐसी बड़ी गहरी खाइया हैं मानो उन्होंने नीचा मुँह करके पाताल लोकका जल पी लिया है, परन्तु उस नगरसे राजा भिन्न ही है उसी प्रकार शरीरसे आत्मा भिन्न है।

भावार्थ—आत्माको शरीरसे सर्वथा निराला गिनना चाहिये। शरीरके कथनको आत्माका कथन नहीं समझ जाना चाहिये॥

तीर्थंकरके निश्चय स्वरूपकी स्तुति। सवैया इकतीसा।

जामें लोकालोकके सुभाव प्रतिभासे सब,
जगी ग्यान सकति विमल जैसी आरसी।
दर्सन उद्योत लीयो अतराय अंत कीयो,
गयो महा मोह भयो परम महारसी॥
सन्यासी सहज जोगी जोगसौं उदासी जामें,
प्रकृति पचासी लगि रही जरि छारसी।
सोहे घट मंदिरमें चेतन प्रगटरूप,
ऐसो जिनराज ताहि वंदत बनारसी॥२९॥

शब्दार्थ—प्रतिभासे=प्रतिबिम्बित होता है। दर्सन=यहां केवल दर्शनका प्रयोजन है। छारसी=राखके समान।

अर्थ—जिन्हें ऐसा ज्ञान जाग्रत हुआ है कि जिसमें दर्पणके समान लोक अलोकके भाव प्रतिबिंबित होते हैं, जिन्हें केवल-दर्शन प्रगट हुआ है, जिनका अतराय कर्म नष्ट हुआ है, जिन्हे

महामोह कर्मके नष्ट होनेसे परम साधु वा महा सन्यासी अवस्था प्राप्त हुई है, जो स्वाभाविक योगोंको धारण किये हैं तौभी योगोंसे विरक्त हैं, जिन्हें मात्र पचासी प्रकृतियां जरी जेवरीकी भस्मके समान लगी हुई हैं, ऐसे तीर्थंकर देव देहरूप देवालयमें

---

१ (१) असाता वेदनीय (२) देवगति, पांच शरीर—(३) औदारिक (४) वैक्रियक (५) आहारक (६) तैजस (७) कार्माण। पांच बंधन—(८) औदारिक (९) वैक्रियक (१०) आहारक (११) तैजस (१२) कार्माण। पांच संघात—(१३) औदारिक (१४) वैक्रियक (१५) आहारक (१६) तैजस (१७) कार्माण छह संस्थान—(१८) समचतुरस्र संस्थान (१९) न्यग्रोधपरिमंडल (२०) स्वातिक (२१) वामन (२२) कुब्जक (२३) हुंडक। तीन आंगोपांग—(२४) औदारिक (२५) वैक्रियक (२६) आहारक। छह संहनन—(२७) वज्रवृषभनाराच (२८) वज्रनाराच (२९) नाराच (३०) अर्द्धनाराच (३१) कीलक (३२) स्फाटिक। पांच वर्ण—(३३) काला (३४) नीला (३५) पीला (३६) सफेद (३७) लाल। दो गंध—(३८) सुगंध (३९) दुर्गंध। पांच रस—(४०) तिक्त (तीखा) (४१) आम्ल (खट्टा) (४२) कडुवा (४३) मीठा (४४) कषायला। आठ स्पर्श—(४५) कोमल (४६) कठोर (कड़ा) (४७) शीत (४८) उष्ण (४९) हलका (५०) भारी (५१) स्निग्ध (५२) रूक्ष। (५३) देवगति प्रायोग्यानुपूर्व (५४) अगुरुलघु (५५) उपघात (५६) परघात (५७) उच्छ्वास (५८) प्रशस्त विहायोगति (५९) अप्रशस्तविहायोगति (६०) अपर्याप्तक (६१) प्रत्येक शरीर (६२) स्थिर (६३) अस्थिर (६४) शुभ (६५) अशुभ (६६) दुर्भग (६७) सुस्वर (६८) दुस्वर (६९) अनादेय (७) अयश कीर्ति (७१) निर्माण (७२) नीच गोत्र (७३) साता वेदनीय (७४) मनुष्य गति (७५) मनुष्यायु (७६) पंचेंद्रिय जाति (७७) मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व (७८) त्रस (७९) बादर (८०) पर्याप्तक (८१) सुभग (८२) आदेय (८३) यश कीर्ति (८४) तीर्थंकर (८५) उच्च गोत्र।

स्पष्ट चैतन्य मूर्ति शोभायमान होते है, उन्हे प० बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ २९ ॥

निश्चय और व्यवहार नयकी अपेक्षा शरीर ओर जिनवरका भेद ।

कवित्त ।

तन चेतन विवहार एकसे,
निहचै भिन्न भिन्न है दोइ ।
तनकी थुति विवहार जीवथुति,
नियतदृष्टि मिथ्या थुति सोइ ॥
जिन सो जीव जीव सो जिनवर,
तन जिन एक न मानै कोइ ।
ता कारन तनकी संस्तुतिसौं,
जिनवरकी सस्तुति नाहि होइ ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—सस्तुति=स्तुति ।

अर्थ—व्यवहार नयमे शरीर और आत्माकी ऐक्यता है, परन्तु निश्चय नयमे दोनों जुदे जुदे है । व्यवहार नयमे शरीरकी स्तुति जीवकी स्तुति गिनी जाती है परन्तु निश्चय नयकी दृष्टिसे वह स्तुति मिथ्या है । निश्चय नयमे जो जिनराज है वही जीव

एकत्व व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया
न्नु स्तोत्र व्यवहारतोऽस्ति वपुष स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्र निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्येव सैव भवे
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयो ॥ २७ ॥

है और जो जीव है वही जिनराज है, यह नय शरीर और आत्माको एक नहीं मानता इस कारण निश्चय नयसे शरीरकी स्तुति जिनराजकी स्तुति नहीं हो सकती ॥ ३० ॥

वस्तु स्वरूपकी प्राप्तिमें गुप्त लक्ष्मीका दृष्टान्त। सवैया तेईसा।

ज्यों चिरकाल गडी वसुधामहि,
भूरि महानिधि अंतर गूझी।
कोउ उखारि धरै महि ऊपरि,
जे दृगवंत तिन्हैं सब सूझी॥
त्यों यह आतमकी अनुभूति,
पडी जडभाउ अनादि अरूझी।
नै जुगतागम साधि कही गुरु,
लच्छन वेदि विचच्छन बूझी ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—चिरकाल=बहुत समय। वसुधा=पृथ्वी। भूरि=बहुतसी। गूझी=छुपी हुई। महि=पृथ्वी। अरूझी=उलझी। विचच्छन (विचक्षण)=चतुर। लच्छन वेदि=लक्षणोंके ज्ञाता। बूझी=समझी।

अर्थ—जिस प्रकार बहुत समयसे पृथ्वीके अंदर गडे हुए बहुतसे धनको उखाडकर कोई बाहिर रख देवे तो नेत्रवानोंको वह सब दिखने लगता है उसी प्रकार अनादि कालसे अज्ञान-

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकताया
नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥ २८ ॥

भावमे दबी हुई आत्मज्ञानकी सम्पदाको श्रीगुरुने नय, युक्ति और आगमसे सिद्ध कर समझाया है, उसे विद्वान लोग लक्षणसे पहिचान कर ग्रहण करते हैं।

विशेष—इस छन्दमें 'दृगवत' पद दिया है, सो जिस प्रकार बाहिर निकाला हुआ धन भी नेत्रवालोंको ही दिखता है—अंधोंको नहीं दिखता, उसी प्रकार श्रीगुरु द्वारा बताया हुआ तत्त्वज्ञान अंतरदृष्टि भव्योंको प्राप्त होता है, दीर्घ संसारी और अभव्योंकी बुद्धिमें नहीं आता ॥ २१ ॥

भेदविज्ञानकी प्राप्तिमें धोबीके वस्त्रका दृष्टान्त । सवैया इकतीसा ।

जैसे कोऊ जन गयौ धोबीकै सदन तिन,
पहिरयौ परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है ।
धनी देखि कह्यौ भैया यह तौ हमारौ वस्त्र,
चीन्हे पहिचानत ही त्याग भाव लह्यौ है ।
तैसेंही अनादि पुदगलसौं संजोगी जीव,
संगके ममत्वसौं विभाव तामैं बह्यौ है ।
भेदज्ञान भयौ जब आपौ पर जान्यौ तब,
न्यारौ परभावसौं स्वभाव निज गह्यौ है॥२२॥

अवतरति न यावद्वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—सदन=घर। धनी=मालिक। विभाव=पर वस्तुके संयोगसे जो विकार हो।

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य धोबीके घर जावे और दूसरेका कपड़ा पहिनकर अपना मानने लगे, परन्तु उस वस्त्रका मालिक देखकर कहे कि यह तो मेरा कपडा है, तो वह मनुष्य अपने वस्त्रका चिह्न देखकर त्याग बुद्धि करता है, उसी प्रकार यह कर्मसंयोगी जीव परिग्रहके ममत्वसे विभावमें रहता है, अर्थात् शरीर आदिको अपना मानता है परन्तु भेदविज्ञान होनेपर जब निजपरका विवेक हो जाता है तो रागादि भावोंसे भिन्न अपने निज स्वभावको ग्रहण करता है ॥ ३२ ॥

निजात्माका सत्य स्वरूप। अडिल्ल छन्द।

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।
अपने रससौं भर्यौ आपनी टेक हौं॥
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है।
सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है॥ ३३॥

शब्दार्थ—टेक=सहारा। सिंधु=समुद्र।

अर्थ—ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि मैं सदैव अकेला हूँ, अपने ज्ञान दर्शन रससे भरपूर अपने ही आश्रय हूँ। भ्रमजालका कूप मोहकर्म, मेरा स्वरूप नहीं है! नहीं[1] है!! मेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य सिंधु है॥ ३३॥

१ यहां दो बार 'नहीं है' कहकर विषयका समर्थन किया है।

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि॥ ३०॥

तत्त्वज्ञान होनेपर जीवकी अवस्थाका वर्णन। सवैया इकतीसा।

तत्त्वकी प्रतीतिसौं लख्यौ है निजपरगुन,
दृग ज्ञान चरन त्रिविधि परिनयौ है।
विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ,
आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है॥
कहत बनारसी गहत पुरुषारथकौं,
सहज सुभावसौं विभाव मिटि गयो है।
पन्नाके पकाये जैसैं कंचन विमल होत,
तैसैं सुद्ध चेतन प्रकास रूप भयो है॥२४॥

शब्दार्थ—प्रतीति=श्रद्धान। विशद=निर्मल। विसराम (विश्राम) =चैन। सोधि=खोज करके। पन्नाके पकायें जैसैं कंचन विमल होत= अशुद्ध सोनेके छोटे छोटे टुकड़े करके कागजके समान पतला पीटते हैं उन्हें पन्ना कहते हैं। इन पन्नोंको नमक तेल आदिकी रसायनसे अग्निमें पकाते हैं तो सोना अत्यंत शुद्ध हो जाता है, इस रीतिसे शोधा हुआ सोना नेशनल पाटला आदिसे बहुत उच्चतम होता है।

अर्थ—तत्त्वश्रद्धान होनेसे निज पर गुणकी पहिचान हुई जिससे अपने निज गुण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें परिणमन

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकं।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः॥ ३१॥

किया है, निर्मल भेदविज्ञान होनेसे उत्तम विश्राम मिला और अपने स्वरूपमें ही अपना सहायक खोज लिया। प० बनारसीदासजी कहते हैं कि इस प्रयत्नसे स्वय ही विभाव परिणमन नष्ट हो गया और शुद्ध आत्मा ऐसा प्रकाशमान हुआ जैसे रसायनमें स्वर्णके पत्र पकानेसे वह उज्ज्वल हो जाता है ॥ ३४ ॥

वस्तु स्वभावकी प्राप्तिमें नटीका दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आडौ पट करिकैं।
दूहओर दीवटि सवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभाके लोग देखें दृष्टि धरिकैं॥
तैसे ग्यान सागर मिथ्याति ग्रंथि भेदि करि,
उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहू लोक भरिकैं।
ऐसौ उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
सुद्धता सभारे जग जालसौं निसरिकैं॥३५

शब्दार्थ—पातुर (पात्रा) नटी, नाचनेवाली। अखारे=नाट्यशालामें निसि=रात्रि। पट=वस्त्र, परदा। ग्रंथि=गांठ।

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ता।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धु ॥ ३२ ॥
इति रंगभूमिका ॥ १ ॥

अर्थ—जिस प्रकार नटी रात्रिमे वस्त्राभूषणोसे सजकर नाट्यशालामे परदेकी ओटमे आ खड़ी होती है तो किसीको दिखाई नहीं देती, परन्तु जब दोनों ओरके शमादान ठीक करके पर्दा हटाया जाता है तो सभाकी सब मंडलीको साफ दिखाई देती है, उसी प्रकार ज्ञानका समुद्र आत्मा जो मिथ्यात्वके परदेमें ढॅक रहा था सो प्रगट हुआ जो त्रैलोक्यका ज्ञायक होंवेगा। श्रीगुरु कहते हैं कि हे जगवासी जीवो! ऐसा उपदेश सुनकर तुम्हे जगज्जालसे निकलकर अपनी शुद्धता सम्हालना चाहिये॥ ३५॥

प्रथम अधिकारका सार।

आत्म पदार्थ शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, देहातीत, चिचमत्कार, विज्ञानघन, आनंदकंद, परमदेव, सिद्ध सदृश है। जैसा वह अनादि है वैसा अनंत भी है अर्थात् न उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट भी होगा। यद्यपि वह अपने स्वरूपसे स्वच्छ है परन्तु संसारी दशामें जबसे यह है तभीसे अर्थात् अनादिकालसे शरीरसे सनद्ध है और कर्मकालिमासे मलिन है। जिस प्रकार कि सोना धाऊकी दशामे कर्दम सहित रहता है परन्तु भट्टीमें पकानेसे शुद्ध सोना अलग हो जाता है और किट्टिमा पृथक् हो जाती है उसी प्रकार सम्यक् तप मुख्यतया शुक्लध्यानकी अग्निके द्वारा जीवात्मा शुद्ध हो जाता है और कर्म कालिमा पृथक् हो जाती है। जिस प्रकार जौहरी लोग कर्दम मिले हुए सोनेको परखकर सोनेके दाम देते लेते है उसी प्रकार ज्ञानी लोग अनित्य और मलभरे

शरीरमें पूर्णज्ञान और पूर्ण आनंदमय परमात्माका अनुभव करते हैं।

जब कपडेपर मैल जम जाता है तब मलिन कहाता है, लोग उससे ग्लानि करते हैं और निरुपयोगी बतलाते हैं, परंतु विवेक दृष्टिसे विचारा जावे तो कपडा अपने स्वरूपसे स्वच्छ है साबुन पानीका निमित्त चाहिये। बस! मैल सहित वस्त्रके समान कर्दम सहित आत्माको मलिन कहना व्यवहार नयका विषय है, और मैलसे निराले स्वच्छ वस्त्रके समान आत्माको कर्मकालिमासे जुदा ही गिनना निश्चय नयका विषय है। अभिप्राय यह है कि, जीवपर वास्तवमें कर्मकालिमा लगती नहीं है कपड़ेके मैलके समान वह शरीर आदिसे बँधा हुआ है, भेदविज्ञानरूप साबुन और समता रसरूप जल द्वारा वह स्वच्छ हो सकता है। तात्पर्य यह कि जीवको देहसे भिन्न शुद्ध बुद्ध जाननेवाला निश्चय नय है और शरीरसे तन्मय, राग द्वेष मोहसे मलिन कर्मके आधीन करनेवाला व्यवहार नय है। सो प्रथम अवस्थामें इस नयज्ञानके द्वारा जीवकी शुद्ध और अशुद्ध परणतिको समझकर अपने शुद्ध स्वरूपमें लीन होना चाहिये इसीका नाम अनुभव है। अनुभव प्राप्त होनेके अनंतर फिर नयोंका विकल्प भी नहीं रहता इसलिये कहना होगा कि नय प्रथम अवस्थामें साधक हैं और आत्माका स्वरूप समझे पीछे नयोंका काम नहीं है।

गुणोंके समूहको द्रव्य कहते हैं, जीवके गुण चैतन्य, ज्ञान, दर्शन आदि हैं। द्रव्यकी हालतको पर्याय कहते हैं, जीवकी पर्यायें नर, नारक, देव, पशु आदि हैं। गुण और पर्यायोंके बिना द्रव्य

नहीं होता और गुण पर्याय विना द्रव्यके नहीं होते, इसलिये द्रव्य और गुण पर्यायोंमे अव्यतिरिक्त भाव है। जब पर्यायको गौण और द्रव्यको मुख्य करके कथन किया जाता है तब नय द्रव्यार्थिक कहलाता है और जब पर्यायको मुख्य तथा द्रव्यको गौण करके कथन किया जाता है तब नय पर्यायार्थिक कहलाता है। द्रव्य सामान्य होता है और पर्याय विशेष होता है, इसलिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके विषयमें सामान्य विशेषका अंतर रहता है। जीवका स्वरूप निश्चय नयसे ऐसा है, व्यवहार नयसे ऐसा है, द्रव्यार्थिक नयसे ऐसा है, पर्यायार्थिक नयसे ऐसा है, अथवा नयोंके भेद शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय, उपचरित व्यवहार-नय इत्यादि विकल्प चित्तमें अनेक तरगें उत्पन्न करते हैं, इससे चित्तको विश्राम नहीं मिल सकता इस लिये कहना होगा कि नयके कल्लोल अनुभवमें बाधक हैं परन्तु पदार्थका यथार्थ स्वरूप जानने और स्वभाव विभावके परखनेमें सहायक अवश्य हैं। इसलिये नय, निक्षेप और प्रमाणसे अथवा जैसे बने तैसे आत्म-स्वरूपकी पहिचान करके सदैव उसके विचार तथा चिंतवनमें लगे रहना चाहिये।

(२)

अजीव अधिकार वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा । दोहा ।

जीव तत्त्व अधिकार यह, कह्यौ प्रगट समुझाय ।
अब अधिकार अजीवकौ, सुनहु चतुर चित लाय॥१

शब्दार्थ—चतुर=विद्वान् । चित=मन । लाय=लगाकर ।

अर्थ—यह पहिला अधिकार जीवतत्त्वका समझाकर कहा, अब अजीवतत्त्वका अधिकार कहते हैं, हे विद्वानों ! उसे मन लगाकर सुनो ॥ १ ॥

मंगलाचरण-भेदविज्ञानद्वारा प्राप्त पूर्णज्ञानकी वंदना ।
सवैया इकतीसा ।

परम प्रतीति उपजाय गनधरकीसी,
अंतर अनादिकी विभावता विदारी है ।
भेदग्यान दृष्टिसौं विवेककी सकति साधि,
चेतन अचेतनकी दसा निरवारी है ॥
करमकौ नासकरि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिएमैं हरखि निज उद्धता सँभारी है ।

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याय्ययत्पार्षदा
नाससारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्ध स्फुटत् ।
आत्माराममनन्तधाममसहसाध्यक्षेण नित्योदित
धीरोदात्तमनाकुल विलसति ज्ञान मनोह्लादयत् ॥ १ ॥

अंतराय नास भयौ सुद्ध परकास थयौ,
ग्यानकौ विलास ताकौं वंदना हमारी है॥२॥

शब्दार्थ—प्रतीति=श्रद्धान । विभावता=से यहाँ मिथ्यादर्शनका प्रयोजन है। विदारी=नष्ट की। निरवारी=दूर की। हिएमैं=हृदयमें। हरखि=आनंदित होकर। उद्दता=उत्कृष्टता। विलास=आनंद।

अर्थ—गणधर स्वामी जैसा दृढ श्रद्धान उत्पन्न करके, अनादि कालसे लगे हुए अन्तरंगका मिथ्यात्व नष्ट किया और भेदज्ञानकी दृष्टिसे ज्ञानकी शक्ति सिद्ध करके जीव अजीवका निर्णय किया, पश्चात् अनुभवका अभ्यास करके कर्मोंको नष्ट किया तथा हृदयमें हर्षित होकर अपनी उत्कृष्टताको सम्हाला, जिससे अंतराय कर्म नष्ट हुआ और शुद्ध आत्माका प्रकाश अर्थात् पूर्णज्ञानका आनंद प्रगट हुआ। उसको मेरा नमस्कार है ॥ २ ॥

श्रीगुरुकी पारमार्थिक शिक्षा। सवैया इकतीसा।

भैया जगवासी तू उदासी व्हैकै जगतसौं,
एक छ महीना उपदेस मेरौ मानु रे।

---

१ आत्मानुशासनमें आज्ञा आदि दस प्रकारके सम्यक्त्वोंमेंसे गणधर स्वामीके अवगाढ सम्यक्त्व कहा है।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृत सन् पश्य षण्मासमेकं।
हृदयसरसि पुंस पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि ॥ २ ॥

और सकलप विकलपके विकार तजि,
बैठिकै एकत मन एक ठौरु आनु रे ॥
तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ,
तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे ।
प्रापति न व्हैहै कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही व्है है प्रापति सरूप योंही जानु रे॥३॥

शब्दार्थ—जगवासी=संसारी । उदासी=विरक्त । उपदेश=सिखापन । सकलप विकलप (सकल्प विकल्प)=राग द्वेष । विकार=विभाव परिणति । तजि=छोड़के । एकत (एकान्त)=अकेलेमें, जहां कोई आहट उपद्रव आदि न हो । ठौरु=स्थान । घट=हृदय । सर=तालाब । मधुकर=भौंरा । सुवास=अपनी सुगंधि । प्रापति (प्राप्ति)=मिलना । सही=सचमुच । योंही=ऐसा ही ।

अर्थ—हे भाई संसारी जीव ! तू संसारसे विरक्त होकर एक छह महिनेके[1] लिये मेरा सिखापन मान, और एकान्त स्थानमें बैठकर रागद्वेषकी तरङ्ग छोड़के चित्तको एकाग्र कर, तेरे हृदय रूप सरोवरमे तू ही कमल बन और तू ही भौंरा बनकर अपने स्वभावकी सुगंध ले । जो तू यह सोचे कि इससे कुछ नहीं मिलेगा,

---

१ यहां पाठमें जो छह महिना कहा है सो सामान्य कथन है। सम्यक्-दर्शनकी प्राप्तिका जघन्य काल अंतर मुहूर्त और उत्कृष्ट अनंत काल है, शिष्यको मार्गमें लगानेकी दृष्टिसे जघन्य और उत्कृष्ट काल न बताकर छह महिनेके लिये प्रेरणा की है। छह महिनेमें सम्यग्दर्शन उपजे ही उपजे ऐसा नियम नहीं है।

सो नियमसे स्वरूपकी प्राप्ति होगी, आत्मसिद्धिका यही उपाय है।

विशेष—यह पिंडस्थ ध्यान है। अपने चित्तरूप सरोवरमे सहस्र दलका कमल कल्पित करके प्राणायाम किया जाता है जिससे ध्यान स्थिर होता और ज्ञानगुण प्रगट होता है॥ ३॥

जीव और पुद्गलका लक्षण। दोहा।

चेतनवंत अनंत गुन, सहित सु आतमराम।
याते अनमिल और सब, पुदगलके परिनाम॥४॥

शब्दार्थ—आतमराम=निजस्वरूपमें रमण करनेवाला आत्मा। यातैं=इससे। अनमिल=भिन्न।

अर्थ—जीव द्रव्य, चैतन्य मूर्ति और अनत गुण सम्पन्न है, इससे भिन्न और सब पुद्गलकी परिणति है।

भावार्थ—चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि आत्माके अनत गुण हैं और आत्मगुणोंके सिवाय स्पर्श, रस, गध, वर्ण वा शब्द, प्रकाश, धूप, चादनी, छाया, अधकार, शरीर, भाषा, मन, श्वासोच्छ्वास तथा काम, क्रोध, लोभ, माया आदि जो कुछ इन्द्रिय और मन गोचर है वे सब पौद्गलिक हैं॥ ४॥

---

१ पिंडस्थ ध्यान संस्थान विचय ध्यानका भेद है, पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इस तरह चार प्रकारका संस्थान विचय ध्यान होता है।

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानय।
अतोऽतिरिक्ता सर्वेऽपि भावा पौद्गलिका अमी॥ ३॥

आत्मज्ञानका परिणाम। कवित्त।

जब चेतन सँभारि निज पौरुष,
निरखै निज दृगसौं निज मर्म।
तब सुखरूप विमल अविनासिक,
जानै जगत सिरोमनि धर्म॥
अनुभौ करै सुद्ध चेतनकौ,
रमै स्वभाव वमै सब कर्म।
इहि विधि सधै मुकतिकौ मारग,
अरु समीप आवै सिव सर्म॥ ५॥

शब्दार्थ—पौरुष=पुरुषार्थ। निरखै=देखै। दृग=नेत्र। मर्म=असलियत। अविनासी=नित्य। जगत सिरोमनि=संसारमें सबसे उत्तम। धर्म=स्वभाव। रमै=लीन होवे। वमै=कै करना (छोड़ना)। इहि विधि=इस प्रकार। मुकति। (मुक्ति)=मोक्ष। समीप=पास। सिव (शिव)=मोक्ष। शर्म=आनंद।

अर्थ—जब आत्मा अपनी शक्तिको सम्हालता है और ज्ञान-नेत्रोंसे अपने असली स्वभावको परखता है तब वह आत्माका

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तम्
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तं॥ ४॥

स्वभाव आनंदरूप, निर्मल, नित्य और लोकका शिरोमणि जानता है, तथा शुद्ध चैतन्यका अनुभव करके अपने स्वभावमें लीन होकर संपूर्ण कर्मदलको दूर करता है। इस प्रयत्नसे मोक्षमार्ग सिद्ध होता है और निराकुलताका आनंद निकट आता है ॥५॥

जड़ चेतनकी भिन्नता। दोहा।

वरनादिक रागादि यह, रूप हमारौ नांहि।
एक ब्रह्म नहि दूसरौ, दीसै अनुभव मांहि॥६॥

शब्दार्थ—ब्रह्म=शुद्ध आत्मा। दीसै=दिखता है।

अर्थ—शरीर सम्बन्धी रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि वा राग द्वेष आदि विभाव सब अचेतन हैं, ये हमारे स्वरूप नहीं हैं; आत्म अनुभवमें एक ब्रह्मके सिवाय अन्य कुछ नहीं भासता ॥६॥

देह और जीवकी भिन्नतापर दृष्टान्त। दोहा।

खांड़ौ कहिये कनककौ, कनक-म्यान-संयोग।
न्यारौ निरखत म्यानसौं, लोह कहैं सब लोग॥७॥

शब्दार्थ—खांड़ौ=तलवार। कनक=सोना। न्यारौ=अलग। निरखत=दिखता है।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥५॥
निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिं ॥ ६ ॥

अर्थ—सोनेके म्यानमे रक्खी हुई लोहेकी तलवार सोनेकी कही जाती है, परतु जव वह लोहेकी तलवार सोनेके म्यानसे अलग की जाती है तव लोग उसे लोहेकी ही कहते हैं।

भावार्थ—शरीर और आत्मा एकक्षेत्रावगाह स्थित हैं। सो ससारी जीव भेदविज्ञानके अभावसे शरीरहीको आत्मा समझ जाते हैं। परन्तु जब भेदविज्ञानमे उनकी पहिचान की जाती है तब चित्चमत्कार आत्मा जुदा भासने लगता है और शरीरमें आत्मबुद्धि हट जाती है ॥ ७ ॥

जीव और पुद्गलकी भिन्नता। दोहा।

वरनादिक पुदगल दसा, धरे जीव वहु रूप।
वस्तु विचारत करमसों, भिन्न एक चिद्रूप ॥८॥

शब्दार्थ—दशा=अवस्था। बहु=बहुतसे। भिन्न=अलग। चिद्रूप (चित्=रूप)=चैतन्य रूप।

अर्थ—रूप रस आदि पुद्गलके गुण हैं, इनके निमित्तसे जीव अनेक रूप धारण करता है। परन्तु यदि वस्तु स्वरूपका विचार किया जावे तो वह कर्मसे विलकुल भिन्न एक चैतन्य मूर्ति है।

भावार्थ—अनत ससार ससरण करता हुआ जीव, नर नारक आदि जो अनेक पर्याय प्राप्त करता है वे सब पुद्गलमय

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥ ७॥

है और कर्मजनित हैं, यदि वस्तु स्वभाव विचारा जावे तो वे जीवकी नहीं हैं, जीव तो शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, देहातीत और चैतन्य मूर्ति है ॥ ८ ॥

देह और जीवकी भिन्नतापर दूसरा दृष्टान्त । दोहा ।

ज्यों घट कहिये घीवकौ, घटकौ रूप न घीव ।
त्यों बरनादिक नामसौं, जड़ता लहै न जीव ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—ज्यौं=जैसे । घट=घड़ा । जड़ता=अचेतनता ।

अर्थ—जिस प्रकार घीके सयोगसे मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहते हैं परन्तु घडा घीरूप नहीं हो जाता, उसी प्रकार शरीरके सम्बन्धसे जीव, छोटा, बडा, काला, गोरा आदि अनेक नाम पाता है परन्तु वह शरीरके समान अचेतन नहीं हो जाता।

भावार्थ—शरीर अचेतन है और जीवका उसके साथ अनत कालसे संबंध है तो भी जीव शरीरके संबंधसे कभी अचेतन नहीं होता, सदा चेतन ही रहता है ॥ ९ ॥

आत्माका प्रत्यक्ष स्वरूप । दोहा ।

निराबाध चेतन अलख, जानै सहज स्वकीव ।
अचल अनादि अनंत नित, प्रगट जगतमैं जीव ॥

शब्दार्थ—निराबाध=साता असाताकी बाधा रहित । चेतन=ज्ञान-

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ ८ ॥
अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।
जीव [illegible] ॥ ९ ॥

दर्शन। अलख=चर्मचक्षुओंसे दिखाई नहीं देता। सहज=स्वभावसे। स्वकीव (स्वकीय)=अपना। प्रगट=स्पष्ट।

अर्थ—जीव पदार्थ निराबाध, चैतन्य, अरूपी, स्वाभाविक, ज्ञाता, अचल, अनादि, अनंत और नित्य है सो संसारमें प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भावार्थ—जीव साता असाताकी बाधासे रहित है इससे निराबाध है, सदा चेतता रहता है इससे चेतन है, इन्द्रिय-गोचर नहीं इससे अलख है, अपने स्वभावको आप ही जानता है इससे स्वकीय है, अपने ज्ञान स्वभावसे नहीं चिगता इससे अचल है, आदि रहित है इससे अनादि है, अनंत गुण सहित है इससे अनंत है, कभी नाश नहीं होता इससे नित्य है ॥१०॥

अनुभव विधान। सवैया इकतीसा।

रूप-रसवंत मूरतीक एक पुदगल,
रूप बिनु औरु यौं अजीव दर्व दुधा है।
चारि हैं अमूरतीक जीव भी अमूरतीक,
याहीतें अमूरतीक-वस्तु-ध्यान मुधा है॥
औरसौं न कबहू प्रगट आप आपुहीसौं,
ऐसौ थिर चेतन सुभाउ सुद्ध सुधा है।

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम् ॥ १० ॥

चेतनको अनुभौ अराधें जग तेई जीव,
जिन्हको अखंड रस चाखिवेकी छुधा है ॥

शब्दार्थ— दुधा=दो प्रकारका। मुधा=वृथा। थिर (स्थिर)= अचल। सुधा=अमृत। अखंड=पूर्ण। छुधा (क्षुधा)=भूख।

अर्थ—पुद्गलद्रव्य वर्ण रस आदि सहित मूर्तीक है, शेष धर्म, अधर्म आदि चार अजीवद्रव्य अमूर्तीक हैं इस प्रकार अजीवद्रव्य मूर्तीक और अमूर्तीक दो भेद रूप है, जीव भी अमूर्तीक है इसलिये अमूर्तीक वस्तुका ध्यान करना व्यर्थ है। [1]आत्मा स्वयं सिद्ध, स्थिर, चैतन्यस्वभावी, ज्ञानामृत स्वरूप है, इस संसारमें जिन्हें परिपूर्ण अमृतरसका स्वाद लेनेकी अभिलाषा है वे ऐसे ही आत्माका अनुभव करते हैं।

भावार्थ—लोकमें छह द्रव्य हैं, उनमें एक जीव और पांच अजीव हैं, अजीव द्रव्य मूर्तीक और अमूर्तीकके भेदसे दो प्रकारके हैं, पुद्गल मूर्तीक है और धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार अमूर्तीक हैं। जीव भी अमूर्तीक है जब कि जीवके सिवाय अन्य भी अमूर्तीक हैं तो अमूर्तीकका ध्यान करनेसे जीवका ध्यान नहीं हो सकता, अतः अमूर्तीकका ध्यान करना अज्ञानता है, जिन्हें स्वात्म रस आस्वादन करनेकी अभिलाषा है उन्हें मात्र अमूर्तीकताका ध्यान न करके शुद्ध चैतन्य, नित्य, स्थिर और ज्ञानस्वभावी आत्माका ध्यान करना चाहिये ॥ ११ ॥

१ इससे अतिव्याप्ति दोष आता है।

अर्थ—इस हृदयमें अनादि कालसे मिथ्यात्वरूप महा अज्ञानकी विस्तृत नाट्यशाला है, उसमें और कोई शुद्ध स्वरूप नहीं दिखता केवल एक पुद्गल ही बडा भारी नाच कर रहा है वह अनेक रूप पलटता है और रूप आदि विस्तार करके नाना कौतुक दिखाता है, परन्तु मोह और जडसे निराला सम्यग्दृष्टि आत्मा उस नाटकका मात्र देखने वाला है (हर्ष विषाद नहीं करता) ॥ १३ ॥

भेद विज्ञानका परिणाम । सवैया इकतीसा ।

जैसें करवत एक काठ बीच खड करे,
जैसे राजहस निरवारे दूध जलकों ।
तैसें भेदग्यान निज भेदक-सकतिसेती,
भिन्न भिन्न करे चिदानद पुदगलकों ॥
अवधिकों धावे मनपर्येंकी अवस्था पावे,
उमगिके आवे परमावधिके थलकों ।
याही भाति पूरन सरूपकौ उदोत धरे,
करे प्रतिबिंबित पदारथ सकलकों ॥ १४ ॥

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥ १३ ॥

इति जीवाजीवाधिकार ॥ २ ॥

शब्दार्थ—करवत=आरा । खड=टुकड़े । निरवारै=पृथक करे । सेती=से । उमगिकैं=बढ़कर ।

अर्थ—जिस प्रकार आरा काष्टके दो खण्ड कर देता है, अथवा जिस प्रकार राजहस क्षीर नीरका पृथक्करण कर देता है उसी प्रकार भेदविज्ञान अपनी भेदक-शक्तिसे जीव और पुद्गलको जुदा जुदा करता है। पश्चात् यह भेदविज्ञान उन्नति करते करते अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और परमावधि ज्ञानकी अवस्थाको प्राप्त होता है और इस रीतिसे वृद्धि करके पूर्ण स्वरूपका प्रकाश अर्थात केवलज्ञानस्वरूप हो जाता है जिसमे लोक अलोकके सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिंबित होते है ॥ १४ ॥

दूसरे अधिकारका सार ।

मोक्षमार्गमे मुख्य अभिप्राय केवलज्ञान आदि गुण सम्पन्न आत्माका स्वरूप समझानेका है । परन्तु जिस प्रकार सोनेकी परख समझानेके लिये सोनेके सिवाय पीतल आदिका स्वरूप समझाना अथवा हीराकी परख समझानेके लिये हीराके सिवाय काचकी पहिचान बताना आवश्यक है, उसी प्रकार जीव पदार्थका स्वरूप दृढ़ करनेके लिये श्रीगुरुने अजीव पदार्थका वर्णन किया है । अजीव तत्त्व जीव तत्त्वसे सर्वथा भिन्न है अर्थात् जीवका लक्षण चेतन और अजीवका लक्षण अचेतन है। यह अचेतन पदार्थ पुद्गल, नभ, धर्म, अधर्म, कालके नामसे पाच प्रकारका है। उनमेंसे पीछेके चार अरूपी और पहिला पुद्गल रूपी अर्थात् इन्द्रिय गोचर है। पुद्गल द्रव्य स्पर्श रस गध वर्णवंत है। यह जीव द्रव्यके चिह्नोंसे सर्वथा प्रतिकूल है, जीव

सचेतन है तो पुद्गल अचेतन है, जीव अरूपी है तो पुद्गल रूपी है, जीव अखड है तो पुद्गल सखड है। मुख्यतया जीवको ससार समरण करनेमें यही पुद्गल निमित्त कारण है इन्हीं पुद्गलोंमय शरीरसे वह सनद्ध है, इन्हीं पुद्गलमय कर्मोंसे वह सर्वात्म प्रदेशोंमें जकड़ा हुआ है, इन्हीं पुद्गलोंके निमित्तसे उसकी अनत शक्तियां ढँक रहीं हैं, इन्हीं पुद्गलोंके निमित्तसे उसमे विभाव उत्पन्न होते है अज्ञानके उदयमें वह इन्ही पुद्गलोंसे राग द्वेप करता है, वा इन्ही पुद्गलोंमें इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है, अगर पुद्गल न होते तो आत्मामे अन्य वस्तुका सनध नहीं होता न उसमे विकार वा राग द्वेष होता न ससार ससरण होता, ससारमे जितना नाटक है सब पुद्गल जनित है।

तुम शरीरमे कहीं चिउटीसे दबाओ तो तुम्हें बोध होगा कि हमे दवाया है–हमे दुखका बोध हुआ है। बस, यह जाननेकी शक्ति रखनेवाला जीव है वही तुम हो, चैतन्य हो, नित्य हो, आत्मा हो। आत्माके सिवाय एक और पदार्थ जिसे तुमने चिउटीसे दबाया है वह नरमसा कुछ मैला कालासा कुछ खारासा कुछ सुगध दुर्गंधवानसा प्रतीत होता है उसे शरीर कहते हैं। यह शरीर जड है, अचेतन है, नाशवान है, पर पदार्थ है आत्म स्वभावसे भिन्न है। इस शरीरसे अहबुद्धि करना अर्थात् शरीर और शरीरके सबधी धन, स्त्री, पुत्रादिको अपने मानना मिथ्याज्ञान है। लक्षण भेदके द्वारा निज आत्माको स्व और आत्माके सिवाय सब चेतन अचेतन पदार्थोंको पर जानना ही भेदविज्ञान है, इसीका नाम प्रज्ञा है। जिस प्रकार राजहंस दूध और पानीको पृथक् पृथक् कर देता है उसी प्रकार विवेकके

द्वारा जीव व पुद्गलको पृथकरण करना पुद्गलोंसे अहंबुद्धि वा राग द्वेष हटाकर निज स्वरूपमें लीन होना चाहिये और "तेरी घट सर तामें तूंही है कमल ताको, तूही मधुकर है स्ववास पहचान रे।" वाली शिक्षाका हमेशा अभ्यास करना चाहिये।

कर्त्ता कर्म क्रियाद्वार ।

(३)

प्रतिज्ञा । दोहा ।

यह अजीव अधिकारकौ, प्रगट वखानौ मर्म ।
अव सुनु जीव अजीवके, करता किरिया कर्म ॥१॥

शब्दार्थ—प्रगट=स्पष्ट । वखानौ=वर्णन किया । मर्म=रहस्य ।

अर्थ—यह अजीव अधिकारका रहस्य स्पष्ट वर्णन किया, अव जीव अजीवके कर्ता क्रिया कर्मको सुनो ॥ १ ॥

भेदविज्ञानमें जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है, निज स्वभावका कर्त्ता है । सवैया इकतीसा ।

प्रथम अग्यानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरौ न और मैं ही करता करमकौ ।
अतर-विवेक आयौ आपा-पर-भेद पायौ,
भयौ वोध गयौ मिटि भारत भरमकौ ।
भासे छहों दरवके गुन परजाय सव,
नासे दुख लख्यौ सुख पूरन परमकौ ।

एक कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञाना शमयदभित कर्तृकर्मप्रवृत्तिं ।
ज्ञानज्योति स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीर
साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्व ॥ १ ॥

करमकौ करतार मान्यौ पुदगल पिंड,
आप करतार भयौ आतम धरमकौ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सदीव=हमेशा। बोध=ज्ञान। भारत=बड़ा। भरम=भूल। भासे=ज्ञात हुए। परम=यहाँ परमात्माका प्रयोजन है।

अर्थ—जीव पहले अज्ञानकी दशामें कहता था कि, मैं सदैव अकेला ही कर्मका कर्ता हूँ दूसरा कोई नहीं है, परन्तु जब अतरंगमें विवेक हुआ और स्वपरका भेद समझा तब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, भारी भूल मिट गई, छहों द्रव्य गुण पर्याय सहित ज्ञात होने लगे, सब दुख नष्ट हो गये और पूर्ण परमात्माका स्वरूप दिखने लगा, पुद्गल पिंडको कर्मका कर्ता माना आप स्वभावका कर्त्ता हुआ।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान होनेपर जीव अपनेको स्वभावका कर्त्ता और कर्मका अकर्त्ता जानने लगता है ॥ २ ॥ पुनः

जाही समै जीव देह बुद्धिकौ विकार तजै,
वेदत सरूप निज भेदत भरमकौ।
महा परचंड मति मंडन अखंड रस,
अनुभौ अभ्यासि परगासत परमकौ॥

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादा-
निदमुदितमखण्ड ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥ २ ॥

भेद विज्ञानी जीव लोगोंको कर्मका कर्त्ता दिखता है पर
यह वास्तवमें अकर्त्ता है। सवैया इकतीसा।

जैसो जो दरव ताके तैसो गुन परजाय,
ताहीसौं मिलत पै मिलै न काहु आनसौं।
जीव वस्तु चेतन करम जड जातिभेद,
अमिल मिलाप ज्यौं नितम्ब जुरै कानसौं॥
ऐसो सुविवेक जाके हिरदै प्रगट भयौ,
ताकौ भ्रम गयौ ज्यौं तिमिर भागै भानसौं।
सोई जीव करमकौ करता सो दीसै पै,
अकरता कह्यौ है सुद्धताके परमानसौं॥५॥

शब्दार्थ—आनसौं (अन्यसे)=दूसरोंसे। अमिलाप=भिन्नता। नितम्ब=चोटी। सुविवेक=सम्यग्ज्ञान। भान (भानु)=सूर्य।

अर्थ—जो द्रव्य जैसा है उसके वैसे ही गुण पर्याय होते हैं और वे उसीसे मिलते हैं अन्य किसीसे नहीं मिलते। चैतन्य जीव और जड़ कर्ममें जाति भेद है सो इनका नितम्ब और कानके समान अमिलाप है, ऐसा सम्यग्ज्ञान जिसके हृदयमें जाग्रत होता है उसका मिथ्यात्व, सूर्यके उदयमें अंधकारके

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिन्दंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्॥ ४॥

समान दूर हो जाता है। वह लोगोंको कर्मका कर्त्ता दिखता है परन्तु राग द्वेष आदि रहित शुद्ध होनेसे उसे आगममें अकर्त्ता कहा है ॥ ५ ॥

जीव और पुद्गलके जुदे जुदे स्वभाव । छप्पय छन्द ।

जीव ग्यानगुन सहित, आपगुन-परगुन-ज्ञायक ।
आपा परगुन लखै, नांहि पुग्गल इहि लायक ॥
जीवदरब चिद्रूप सहज, पुदगल अचेत जड़ ।
जीव अमूरति मूरतीक, पुदगल अंतर बड़ ॥
जब लग न होइ अनुभौ प्रगट,
तब लग मिथ्यामति लसै ।
करतार जीव जड़ करमकौ,
सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—ज्ञायक=जानने वाला। इहि लायक=इस योग्य। अचेत=ज्ञान हीन। बड़=बहुत। मिथ्यामति=अज्ञान। लसै=रहै। भ्रम=भूल।

अर्थ—जीवमें ज्ञान गुण है, वह अपने और अन्य द्रव्योंके गुणोंका ज्ञाता है। पुद्गल इस योग्य नहीं है और न उसमें अपने

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥ ५ ॥

अर्थ—एक कर्मकी एक ही क्रिया व एक ही कर्ता होता है दो नहीं होते, सो जीव पुद्गलकी जब जुदी जुदी सत्ता है तब एक स्वभाव कैसे हो सकता है ?

भावार्थ—अचेतन कर्मका कर्ता या क्रिया अचेतन ही होना चाहिये। चैतन्य आत्मा जड कर्मका कर्ता नहीं हो सकता ॥९॥

कर्ता कर्म और क्रियापर विचार। सवैया इकतीसा।

एक परिनामके न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपने अपने रूप कोउ न टरतु है।
जड परनामनिको करता है पुदगल,
चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है॥ १०॥

शब्दार्थ—करतूति=क्रिया। एक खेत-अवगाही (एक क्षेत्रावगाही)=एक ही स्थानमें रहनेवाले। ना टरतु है=नहीं हटता है। आचरतु है=वर्तता है।

अर्थ—एक परिणामके कर्ता दो द्रव्य नहीं होते, दो परिणामोंको एक द्रव्य नहीं करता, एक क्रियाको दो द्रव्य कभी नहीं

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ९॥

करते, दो क्रियाओंको भी एक द्रव्य नहीं करता। जीव और पुद्गल यद्यपि एक क्षेत्रावगाह स्थित हैं तौ भी अपने अपने स्वभावको नहीं छोडते। पुद्गल जड है इसलिये अचेतन परिणामोंका कर्ता और चिदानंद आत्मा चैतन्य भावका करता है॥ १०॥

मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका स्वरूप। सवैया इकतीसा।

महा धीठ दुखकौ वसीठ परदर्वरूप,
अंधकूप काहूपै निवार्यौ नहि गयौ है।
ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौं अनादिहीकौ,
याही अहंबुद्धि लिए नानाभांति भयौ है॥
काहू समै काहूकौ मिथ्यात अंधकार भेदि,
ममता उछेदि सुद्ध भाव परिनयौ है।
तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि,
आतम सकतिसौं जगत जीत लयौ है॥११

शब्दार्थ—धीठ (धृष्ट)=ढीठ। वसीठ=दूत। निवार्यौ=हटायौ। समै (समय)=वक्त। उछेदि=हटाकर। परिनयौ=हुआ। सकति (शक्ति)=बल।

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः॥ १०॥

अर्थ—जो अत्यन्त कठोर है, दुःखोंका दूत है, परद्रव्य जनित है, अधकूपके समान है, किसीसे हटाया नहीं जा सकता ऐसा मिथ्यात्वभाव जीवको अनादि कालसे लग रहा है। और इसी कारण जीव, परद्रव्यमें अहबुद्धि करके अनेक अवस्थाएँ धारण करता है। यदि कोई जीव किसी समय मिथ्यात्वका अधकार नष्ट करे और परद्रव्यसे ममत्व भाव हटाकर शुद्ध-भावरूप परिणाम करे तो वह भेदविज्ञान धारण करके बधके कारणोंको हटाकर, अपनी आत्म शक्तिसे ससारको जीत लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

जैसा कर्म वैसा कर्त्ता। सवैया इकतीसा।

सुद्धभाव चेतन असुद्धभाव चेतन,
दुहूकौ करतार जीव और नहि मानिये।
कर्मपिंडको विलास वर्न रस गंध फास,
करता दुहूकौ पुदगल परवानिये ॥
तातै वरनादि गुन ग्यानावरनादि कर्म,
नाना परकार पुदगलरूप जानिये।

१ मिथ्यात्व विभाव भाव है उसे हटाकर अनत जीव मुक्त हुए हैं। पर हाँ, कठिनाईसे हटता है इस दृष्टिसे 'निवारयौ नहिं गयौ है' यह पद दिया है।
२ मिथ्यात्व, अव्रत प्रमाद, कषाय योग।

आत्मभावा करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावा परस्य पर एव ते ॥ ११ ॥

समल विमल परिनाम जे जे चेतनके,
ते ते सब अलख पुरुष यौं बखानिये ॥१२॥

शब्दार्थ—सुद्धभाव=केवलदर्शन केवलज्ञान अनंत सुख आदि। असुद्धभाव=राग द्वेष क्रोध मान आदि। और=दूसरा। फास=स्पर्श। समल=अशुद्ध। विमल=शुद्ध। अलख=अरूपी। पुरुष=परमेश्वर।

अर्थ—शुद्ध चैतन्य भाव और अशुद्ध चैतन्य भाव दोनों भावोंका कर्त्ता जीव है, दूसरा नहीं है। द्रव्यकर्म-परणति और वर्ण, रस, गंध, स्पर्श इन दोनोंका कर्त्ता पुद्गल है, इससे वर्ण रसादि गुण सहित शरीर और ज्ञानावरणादि कर्म-स्कंध, इन्हें अनेक प्रकारकी पुद्गल पर्यायें जानना चाहिये। आत्माके शुद्ध और अशुद्ध जो जो परिणाम हैं वे सब अमूर्तीक आत्माके हैं, ऐसा परमेश्वरने कहा है ॥ १२ ॥

नोट—अशुद्ध परिणाम कर्मके प्रभावसे होते हैं और शुद्ध परिणाम कर्मके अभावसे होते हैं, इससे दोनों प्रकारके भाव कर्म-जनित कहे जा सकते हैं।

भेदज्ञानका मर्म मिथ्यादृष्टि नहीं जानता इसपर दृष्टान्त।

सवैया इकतीसा।

जैसैं गजराज नाज घासके गरास करि,
भच्छत सुभाय नहि भिन्न रस लीयौ है।

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ॥ १२ ॥

७

जैसें मतवारो नहि जानै सिखरनि स्वाद,
जुगमे मगन कहै गऊ दूध पीयौ है ॥
तैसें मिथ्यादृष्टी जीव ग्यानरूपी है सदीव,
पग्यौ पाप पुन्नसौं सहज सुन्न हीयौ है ।
चेतन अचेतन दुहूंकौ मिश्र पिंड लखि,
एकमेक मानै न विवेक कछु कीयौ है॥१३॥

शब्दार्थ—गजराज=हाथी । गरास (ग्रास)=कौर, कवल । सिखरनि (श्रीखण्ड)=अत्यन्त गाढ़ा दही और मिश्रीका मिश्रण । जुग= नशा। सुन्न (शून्य)=विवेक रहित ।

अर्थ—जैसे हाथी अनाज और घासका मिला हुआ ग्रास खाता है । पर खानेहीका स्वभाव होनेसे जुदा जुदा स्वाद नहीं लेता, अथवा जिस प्रकार मद्यसे मतवालेको श्रीखण्ड खिलाया जाये, तो वह नशेमें उसका स्वाद न पहिचानकर कहता है, कि इसका स्वाद गौदुग्धके समान है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि सदा ज्ञानमूर्ति है, तौ भी पुण्य पापमें लीन होनेके कारण उसका हृदय आत्मज्ञानसे शून्य रहता है, इससे चेतन अचेतन दोनोंके मिले हुए पिण्डको देखकर एक ही मानता है और कुछ विचार नहीं करता ।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव स्वपर विवेकके अभावमें पुद्गलके मिलापसे जीवको कर्मका कर्ता मानता है ॥ १३ ॥

जीवको कर्मका कर्त्ता मानना मिथ्यात्व है इसपर दृष्टान्त ।
सवैया इकतीसा ।

जैसें महा धूपकी तपतिमैं तिसायौ मृग,
भरमसौं मिथ्याजल पीवनकौं धायौ है ।
जैसें अंधकार मांहि जेवरी निरखि नर,
भरमसौं डरपि सरप मानि आयौ है॥
अपनै सुभाव जैसें सागर सुथिर सदा,
पवन-संजोगसौं उछरि अकुलायौ है ।
तैसें जीव जड़सौं अव्यापक सहज रूप,
भरमसौं करमकौ करता कहायौ है ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—तपति=गर्मी । तिसायौ=प्यासा । मिथ्याजल=मृगजल । जेवरी=रस्सी । सरप (सर्प)=सांप । सागर=समुद्र । थिर=स्थिर अव्यापक=भिन्न । भरम=भूल ।

अर्थ—जिस प्रकार अत्यन्त तेज धूपमें प्यासका सताया हुआ हिरण भूलसे मृगजल[1] पीनेको दौड़ता है, अथवा जैसे कोई

[1] निर्जल देशमें रेतपर गिरी हुई सूर्यकी किरणोंमें पानीका भ्रम ।

अज्ञानान्मृगतृष्णिका जलधिया धावन्ति पातु मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जना ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिव
च्छुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुला ॥ १३ ॥

मनुष्य अंधेरेमें रस्सीको देख उसे सर्प जान भयभीत होकर भागता है, और जिस प्रकार समुद्र अपने स्वभावसे सदैव स्थिर है तथापि हवाके झकोरेसे लहराता है, उसी प्रकार जीव स्वभावत जड़ पदार्थोंसे भिन्न है, परन्तु मिथ्यात्वी जीव भूलसे अपनेको कर्मका कर्त्ता मानता है ॥ १४ ॥

भेद विज्ञानी जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है, मात्र दर्शक है।

सवैया इकतीसा।

जैसैं राजहंसके वदनके सपरसत,
देखिये प्रगट न्यारौ छीर न्यारौ नीर है।
तैसैं समकितीकी सुदृष्टिमैं सहज रूप,
न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही सरीर है॥
जब सुद्ध चेतनकौ अनुभौ अभ्यासै तब,
भासै आपु अचल न दूजौ और सीर है।
पूरव करम उदै आइके दिखाई देइ,
करता न होय तिन्हको तमासगीर है॥१५॥

शब्दार्थ—वदन=मुख। सपरसत (स्पर्शत)=छूनेसे। छीर (क्षीर)=दूध। नीर=पानी। भासै=दिखता है। सीर=साथी। तमासगीर=दर्शक।

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषं।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार हंसके मुखका स्पर्श होनेसे दूध और पानी पृथक् पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवोंकी सुदृष्टिमें स्वभावतः जीव कर्म और शरीर भिन्न भिन्न भासते हैं। जब शुद्ध चैतन्यके अनुभवका अभ्यास होता है, तब अपना अचल आत्मद्रव्य प्रतिभासित होता है उसका किसी दूसरेसे मिलाप नहीं दिखता। हा, पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आये हुए दिखते हैं पर अहंबुद्धिके अभावमें उनका कर्त्ता नहीं होता, मात्र दर्शक रहता है ॥ १५ ॥

मिले हुए जीव और पुद्गलकी पृथक् पृथक् परख।
सवैया इकतीसा।

जैसें उसनोदकमें उदक-सुभाव सीरौ,
आगकी उसनता फरस ग्यान लखियै।
जैसें स्वाद व्यंजनमें दीसत विविधरूप,
लौनकौ सुवाद खारौ जीभ-ग्यान चखियै॥
तैसें घट पिंडमें विभावता अग्यानरूप,
ग्यानरूप जीव भेद-ग्यानसौं परखियै।
भरमसौं करमकौ करता है चिदानंद,
दरब विचार करतार भाव नखियै॥ १६ ॥

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्॥ १५ ॥

शब्दार्थ—उसनोदक (उष्णादक)=गरम जल। उदक=जल। सीरौ=ठंडा। उसनता (उष्णता)=गर्मी। फरस=स्पर्श। व्यंजन=तरकारी। नेग्यिै=छोड़ देना चाहिये।

अर्थ—जिस प्रकार स्पर्शज्ञानसे शीत स्वभाववाले गरम जलकी अग्निजनित उष्णता पहिचानी जाती है, अथवा जिस प्रकार जिह्वा इन्द्रियसे अनेक स्वादवाली तरकारीमेंका नमक जुदा परख लिया जाता है, उसी प्रकार भेदविज्ञानसे घट-पिंडमेंका अज्ञानरूप विकार और ज्ञानमूर्ति जीव परख लिया जाता है, आत्माको कर्मका कर्त्ता मानना मिथ्यात्व है, द्रव्यदृष्टिसे 'आत्मा कर्मका कर्ता है' ऐसा भाव ही नहीं होना चाहिये ॥ १६ ॥

पदार्थ अपने स्वभावका कर्त्ता है। दोहा।

ग्यान भाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान।
दर्वकर्म पुदगल करै, यह निहचै परवान ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—द्रव्यकर्म=ज्ञानावरणादि कर्मदल। परवान (प्रमाण)= सच्चा ज्ञान।

अर्थ—ज्ञानभावका कर्त्ता ज्ञानी है अज्ञानका कर्त्ता अज्ञानी है और द्रव्य कर्मका कर्त्ता पुद्गल है ऐसा निश्चयनयसे जानो ॥१७॥

१ यह शब्द गुजराती भाषामें प्रचलित है।

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा।
स्यात्कर्त्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥ १६ ॥

ज्ञानका कर्त्ता जीव ही है, अन्य नहीं है। दोहा।

ग्यान सरूपी आतमा, करै ग्यान नहि और।
दरव करम चेतन करै, यह विवहारी दौर ॥ १८ ॥

अर्थ—ज्ञान रूप आत्मा ही ज्ञानका कर्त्ता है और दूसरा नहीं है। द्रव्य कर्मको जीव करता है यह व्यवहार वचन है ॥१८॥

इस विषयमें शिष्यकी शंका। सवैया तेईसा।

पुग्गलकर्म करै नहि जीव,
कही तुम मैं समुझी नहि तैसी।
कौन करै यह रूप कहौ अब,
को करता करनी कहु कैसी ॥
आपुही आपु मिलै बिछुरै जड़,
क्यौं करि मो मन संसय ऐसी ?
सिष्य सदेह निवारन कारन,
बात कहै गुरु है कछु जैसी ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—बिछुरै=पृथक् होवे। संसय (संशय)=सन्देह, शक।

अर्थ—पुद्गल कर्मको जीव नहीं करता है, ऐसा आपने कहा सो मेरी समझमें नहीं आता। कर्मका कर्त्ता कौन है और उसकी

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥ १७ ॥
जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥१८॥

कैसी किया है ? ये अचेतन कर्म अपने आप जीवसे कैसे बँधते छूटते हैं ? मुझे यह सन्देह है। शिष्यकी इस शंकाका निर्णय करनेके लिये श्रीगुरु यथार्थ बात कहते हैं॥ १९॥

ऊपर की हुई शंकाका समाधान। दोहा।

पुदगल परिनामी दरव, सदा परिनवै सोइ।
यातैं पुदगल करमकौ, पुदगल करता होइ॥ २०॥

शब्दार्थ—परिनामी (परिणामी)=अपना स्वभाव न छोड़कर पर्यायसे पर्यायान्तर होनेवाला। सोय=वह। यातैं=इससे।

अर्थ—पुद्गल द्रव्य परिणामी है, वह सदैव परिणमन किया करता है, इससे पुद्गल कर्मका पुद्गल ही कर्त्ता है॥ २०॥

जीव चेतना संजुगत, सदा पूरण सब ठौर।
तातैं चेतन भावकौ, करता जीव न और॥ २१॥

अर्थ—जीव चेतना संयुक्त है, सब जगह सदा पूर्ण है, इस कारण चेतन भावोंका कर्त्ता जीव ही है और कोई नहीं है॥२१॥

शिष्यका पुनः प्रश्न। अडिल्ल छन्द।

ग्यानवंतकौं भोग निरजरा-हेतु है।
अज्ञानीकौं भोग बंध फल देतु है॥

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्त्ता॥१९॥
स्थितेति जीवस्य निरंतरा या स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्त्ता॥२०॥
ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः॥ २१॥

यह अचरजकी वात हिये नहि आवही ।
पूछै कोऊ सिष्य गुरू समझावही ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—भोग=शुभ अशुभ कर्मोंका विपाक । निर्जरा हेतु=कर्म झड़नेके वास्ते ।

अर्थ—कोई शिष्य प्रश्न करता है, कि हे गुरुजी ! ज्ञानीके भोग निर्जराके लिये हैं और अज्ञानीके भोगोंका फल बंध है, यह अचरज भरी हुई बात मेरे चित्तपर नहीं जमती ? इसको श्रीगुरु समझाते हैं ॥ २२ ॥

ऊपर की हुई शंकाका समाधान । सवैया इकतीसा ।

दया-दान-पूजादिक विषय-कषायादिक,
दोऊ कर्मबंध पै दुहूकौ एक खेतु है ।
ग्यानी मूढ़ करम करत दीसैं एकसे पै,
परिनामभेद न्यारौ न्यारौ फल देतु है ॥
ग्यानवंत करनी करै पै उदासीन रूप,
ममता न धरै तातैं निर्जराकौ हेतु है ।
वहै करतूति मूढ करै पै मगनरूप,
अंध भयौ ममतासौं बंध-फल लेतु है ॥ २३ ॥

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ २२ ॥

ऐसी नयकक्ष ताको पक्ष तजि ग्यानी जीव,
समरसी भए एकतामों नहि टले हैं ।
महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि निज,
बल परगासि सुखरासि मांहि रले हैं ॥२७॥

शब्दार्थ—नियत=निश्चय । फलावत=विस्तार करो तो । फलै=उपजे । कल्लोल=तरंग । उछलै=बढ़े । पक्ष=कोटि । रलै=मिले ।

अर्थ—पहिला निश्चय और दूसरा व्यवहार नय है, इनका प्रत्येक द्रव्यके गुण पर्यायोंके साथ विस्तार किया जाय तो अनंत भेद हो जाते हैं। जैसे जैसे नयके भेद बढ़ते हैं, वैसे वैसे चंचल स्वभावी चित्तमें तरङ्गें भी उपजती हैं, जो लोक और अलोकके प्रदेशोंके बराबर हैं । जो ज्ञानी जीव ऐसी नयकोटिका पक्ष छोडकर समता रस ग्रहण करके आत्म स्वरूपकी एकताको नहीं छोडते, वे महामोहको नष्ट करके अनुभवके अभ्याससे निजात्म बल प्रगट करके पूर्ण आनंदमें लीन होते हैं ॥ २७ ॥

सम्यग्ज्ञानसे आत्मस्वरूपकी पहिचान होती है ।
सवैया इकतीसा ।

जैसें काहू बाजीगर चौहटै बजाइ ढोल,
नानारूप धरिकें भगल विद्या ठानी है ।
तैसें मैं अनादिको मिथ्यातकी तरंगनिसौं,
भरममें धाइ बहु काय निज मानी है ॥

१ यह शब्द मारवाड़ी भाषामें प्रचलित है ।

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभि ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षण कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ४६ ॥

अव ग्यानकला जागी भरमकी दृष्टि भागी,
अपनी पराई सव सौंज पहिचानी है ।
जाके उदै होत परवांन ऐसी भांति भई,
निहचे हमारी जोति सोई हम जानी है॥२८॥

शब्दार्थ—बाजीगर=खेल करनेवाला । चौहटे=चौराहे पर । भगल-विद्या=धोखेबाजी । धाय=भटककर । काया=शरीर । सौंज=वस्तु ।

अर्थ—जैसे कोई तमासगीर चौराहेपर ढोल वजावे और अनेक स्वांग बनाके ठग विद्यासे लोगोंको भ्रममें डाल देवे, उसी प्रकार मैं अनादि कालसे मिथ्यात्वके झकोरोंसे भ्रममें भूला रहा और अनेक शरीरोंको अपनाया । जब ज्ञान-ज्योतिका उदय हुआ जिससे मिथ्यादृष्टि हट गई, सब स्वपर वस्तुकी पहिचान हुई और उस ज्ञान कलाके प्रगट होते ही ऐसी अवस्था प्राप्त हुई कि हमने अपनी असली आत्मज्योति पहिचान ली ॥ २८ ॥

ज्ञानीका आत्मानुभवमें विचार । सवैया इकतीसा ।

जैसै महा रतनकी ज्योतिमैं लहरि उठै,
जलकी तरग जैसैं लीन होय जलमैं ।
तैसैं सुद्ध आतम दरव परजाय करि,
उपजै बिनसै थिर रहै निज थलमैं ॥

चित्स्वभावभरभावितभावा भावभावपरमार्थतयैक ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारं ॥ ४७ ॥

फिरि काल पाइ दरवानुजोग दूरि होत,
अपने सहज नीचे मारग ढरतु है ॥
तैसें यह चेतन पदारथ विभाव तासौं,
गति जोनि भेस भव-भांवरि भरतु है।
सम्यक सुभाइ पाइ अनुभौके पथ धाइ,
बंधकी जुगति भानि मुकति करतु है ॥३१॥

शब्दार्थ—दरवानुजोग=अन्य वस्तुओंका संयोग, मिलावट। भेस (वेष)=रूप। भव भांवरि=जन्म मरण रूप संसारका चक्कर। भानि=नष्ट करके।

अर्थ—जिस प्रकार जलका एक वर्ण है, परन्तु गेरु, राख, रंग आदि अनेक वस्तुओंका संयोग होनेपर अनेक रूप हो जानेसे पहचानमें नहीं आता, फिर संयोग दूर होनेपर अपने स्वभावमें बहने लगता है, उसी प्रकार यह चैतन्य पदार्थ विभाव अवस्थामें गति, योनि, कुलरूप संसारमें चक्कर लगाया करता है, पीछे अवसर मिलनेपर निजस्वभावको पाकर अनुभवके मार्गमें लगकर कर्म बन्धनको नष्ट करता है और मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

मिथ्यादृष्टी जीव कर्मका कर्ता है। दोहा।

निसि दिन मिथ्याभाव बहु, धरै मिथ्याती जीव।
तातैं भावित करमकौ, करता कह्यौ सदीव ॥३२॥

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—निशिदिन=सदाकाल। तातैं=इससे। भावितकर्म=राग द्वेष मोह आदि।

अर्थ—मिथ्यादृष्टी जीव सदैव मिथ्याभाव किया करता है इससे वह भाव कर्मोंका कर्त्ता है।

भावार्थ—मिथ्यात्वी जीव अपनी भूलसे पर द्रव्योंको अपना मानता है, जिससे मैंने यह किया, यह लिया, यह दिया इत्यादि अनेक प्रकारके रागादि भाव किया करता है, इससे वह भाव कर्मका कर्त्ता होता है॥ ३२॥

मिथ्यात्वी जीव कर्मका कर्त्ता और ज्ञानी अकर्त्ता है। चौपाई।

करै करम सोई करतारा।
जो जानै सो जाननहारा॥
जो करता नहि जानै सोई।
जानै सो करता नहि होई॥ ३३॥

शब्दार्थ—करतारा=कर्त्ता। जाननहारा=ज्ञाता।

अर्थ—जो कर्म करे वह कर्त्ता है, और जो जाने सो ज्ञाता है, जो कर्त्ता है वह ज्ञाता नहीं होता और जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं होता।

भावार्थ—मूढ़ और ज्ञानी दोनो देखनेमें एकसी क्रिया करते हैं, परन्तु दोनोंके भावोंमें बड़ा भेद रहता है। अज्ञानी

यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलं।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्॥५१

जीव ममत्व भावके सद्भावमें बन्धनको प्राप्त होता है और ज्ञानी ममत्वके अभावमें अबंध रहता है ॥ ३३ ॥

जो ज्ञानी है वह कर्त्ता नहीं है। सोरठा।

ग्यान मिथ्यात न एक, नहि रागादिक ग्यान महि।
ग्यान करम-अतिरेक, ग्याता सो करता नहि ॥३४॥

शब्दार्थ—महि=में। अतिरेक (अतिरिक्त)=भिन्न भिन्न।

अर्थ—ज्ञानभाव और मिथ्यात्वभाव एक नहीं है और न ज्ञानमें रागादि भाव होते हैं। ज्ञानसे कर्म भिन्न है, जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं है ॥ ३४ ॥

जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है। छप्पय।

करम पिंड अरु रागभाव, मिलि एक होंहि नहि।
दोऊ भिन्न-सरूप वसहि, दोऊ न जीवमहि॥
करमपिंड पुग्गल, विभाव रागादि मूढ भ्रम।
अलख एक पुग्गल अनत, किमि धरहि प्रकृति सम॥
निज निज विलासजुत जगतमहि,
जथा सहज परिनमहि तिम।

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥५२॥
कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किं ॥ ५३ ॥

करतार जीव जड़ करमकौ,
मोह-विकल जन कहहि इम ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—वसहिं=रहते हैं। महि=में। अलख=आत्मा। किमि=कैसे। प्रकृति=स्वभाव। सम=एकसा। जुत (युत)=सहित। विकल=दुखी।

अर्थ—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागद्वेष आदि भावकर्म ये दोनों भिन्न भिन्न स्वभाव वाले हैं, मिलकर एक नहीं हो सकते, और न ये जीवके स्वभाव हैं। द्रव्यकर्म पुद्गल रूप हैं और भावकर्म जीवके विभाव हैं। आत्मा एक है और पुद्गलकर्म अनंत हैं दोनोंकी एकसी प्रकृति कैसे हो सकती है? क्योंकि संसारमें सब द्रव्य अपने अपने स्वभावमें परिणमन करते हैं इसलिये जो मनुष्य जीवको कर्मका कर्त्ता कहते हैं सो केवल मोहकी विकलता है ॥ ३५ ॥

शुद्ध आत्मानुभवका माहात्म्य। छप्पय।

जीव मिथ्यात न करै, भाव नहि धरै भरम मल।
ग्यान ग्यानरस रमै, होइ करमादिक पुदगल ॥
असंख्यात परदेस सकति, जगमगै प्रगट अति।
चिदविलास गंभीर धीर, थिर रहै विमलमति ॥

कर्त्ता कर्त्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥ ५४ ॥

जब लगि प्रबोध घटमहि उदित,
तब लगि अनय न पेखिये।
जिमि धरम-राज वरतंत पुर,
जहं तह नीति परेखिये ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—भरम (भ्रम)=अज्ञान। प्रबोध=सम्यग्ज्ञान। उदित=प्रकाशित। अनय=अन्याय। धरम-राज=धर्मयुक्तराज्य। वरतंत=प्रवर्तित।

अर्थ—जीव मिथ्याभावको नहीं करता और न रागादि भावमलका धारक है। कर्म पुद्गल है, और ज्ञान तो ज्ञानरस ही-में लीन रहता है, उसकी जीवके असंख्यात प्रदेशोंमें स्थिर, गंभीर, धीर, निर्मल ज्योति अत्यन्त जगमगाती है, सो जब तक हृदयमें प्रकाशित रहता है, तब तक मिथ्यात्व नहीं रहता। जैसे कि नगरमें धर्मराज वर्तनेसे जहाँ तहाँ नीति ही नीति दिखाई देती है, अनीतिका लेश भी नहीं रहता ॥ ३६ ॥

तृतीय अधिकारका सार।

करना सो क्रिया, किया जाय सो कर्म, जो करे सो कर्त्ता है। अभिप्राय यह कि जो क्रियाका व्यापार करे अर्थात् काम करनेवालेको कर्त्ता कहते हैं, जिसमें क्रियाका फल रहता है अर्थात् किये हुए कामको कर्म कहते हैं, जो (करतूति) कार्रवाई की जावे उसे क्रिया कहते हैं। जैसे कि कुंभकार कर्त्ता है, घट कर्म है और घट बनानेकी विधि क्रिया है। अथवा ज्ञानीराम आम तोड़ता है, इस वाक्यमें ज्ञानीराम कर्त्ता, आम कर्म और तोड़ना क्रिया है।

स्मरण रहे कि ऊपरके दो दृष्टान्तोंसे जो स्पष्ट किया है वह भेद-विवक्षासे है, क्योंकि कर्त्ता कुंभकार पृथक् पदार्थ है, कर्म घट पृथक् पदार्थ है, घट सृष्टिकी क्रिया पृथक् है। इसी प्रकार दूसरे वाक्यमें ज्ञानीराम कर्त्ता पृथक् है, आम कर्म पृथक् है, और तोड़नेकी क्रिया पृथक् है। जैसे भेद-व्यवहारमें कर्त्ता कर्म क्रिया भिन्न भिन्न रहते हैं, वैसे अभेद-दृष्टिमें नहीं होते—एक पदार्थमें ही कर्त्ता कर्म क्रिया तीनों रहते हैं। जैसे कि "चिद्भाव कर्म चिदेश करता चेतना किरिया तहाँ" अर्थात् चिदेश आत्मा कर्त्ता, चैतन्यभाव कर्म और चेतना (जानना) क्रिया है, अथवा मृत्तिका कर्ता, घट कर्म और मृत्तिकाका पिंडपर्यायसे घटपर्याय रूप होना क्रिया है। इस अधिकारमें कर्त्ता कर्म क्रिया शब्द कहीं भेद-दृष्टिसे और कहीं अभेद-दृष्टिसे आये हैं, सो खूब गहन विचारपूर्वक समझना चाहिये।

अज्ञानकी दशामें जीव शुभाशुभ कर्म और शुभाशुभ प्रवृत्तिको अपनी मानता है और उनका कर्त्ता आप बनता है, परन्तु खूब ध्यान रहे कि लोकमें अनंत पौद्गलिक कार्माण वर्गणाएँ भरी हुई हैं, इन कार्माण वर्गणाओंमें ऐसी शक्ति है कि आत्माके रागद्वेषका निमित्त पाकर वे कर्मरूप हो जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म पुद्गल रूप हैं, अचेतन हैं, पुद्गल ही इनका कर्त्ता है—आत्मा नहीं है, हाँ, रागद्वेष मोह आत्माके विकार हैं। ये आत्म-जनित हैं या पुद्गल-जनित हैं इसका बृहद्द्रव्यसंग्रहमें बड़ा अच्छा समाधान किया है, वह इस प्रकार है, कि—जैसे संतानको न तो अकेली माताहीसे उत्पन्न कह सकते हैं और न अकेले पितासे उत्पन्न कह सकते हैं, किन्तु

सो प्रबोध ससि निरखि बनारसि,
सीस नवाइ देत पग धोक ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मोह-महातम=मोह रूपी घोर अंधकार। दुविधा=भेद। इक थोक=एक ही। प्रबोध-ससि=केवलज्ञानरूप चन्द्रमा। पग धोक=चरणवन्दना।

अर्थ—जिसके उदय होनेपर हृदयसे मोहरूपी महा अंधकार नष्ट हो जाता है, और शुभकर्म अच्छा है वा अशुभ कर्म बुरा है, यह भेद मिटकर दोनो एकसे भासने लगते हैं। जिसकी पूर्ण कलाके प्रकाशमे लोक अलोक मन झलकने लगते हैं, उस केवलज्ञानरूप चन्द्रमाका अवलोकन करके प० बनारसीदासजी मस्तक नवाकर वन्दना करते है ॥ २ ॥

पुण्य पापकी समानता। सवैया इकतीसा।

जैसे काहू चंडाली जुगल पुत्र जने तिनि,
एक दीयौ बाभनके एक घर राख्यौ है।
बाभन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्यमांस चाख्यौ है॥

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥ २ ॥

तैसें एक वेदनी करमके जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है ।
दुहूं मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप,
यातें ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है ३ ॥

शब्दार्थ—जुगल=दो । भिन्न=जुदे । भाख्यौ=कहा । दौर धूप=भटकना । अभिलाख्यौ=चाहा ।

अर्थ—जैसे किसी चांडालनीके दो पुत्र हुए, उनमेंसे उसने एक पुत्र ब्राह्मणको दिया और एक अपने घरमें रक्खा । जो ब्राह्मणको दिया वह ब्राह्मण कहलाया और मद्य मांसका त्यागी हुआ, पर जो घरमें रहा वह चांडाल कहलाया और मद्य मांसभक्षी हुआ । उसी प्रकार एक वेदनीय कर्मके पाप और पुण्य भिन्न भिन्न नाम वाले दो पुत्र हैं, सो दोनोंमें संसारकी भटकना है और दोनों बंध परंपराको बढ़ाते हैं इससे ज्ञानी लोग दोनों हीकी अभिलाषा नहीं करते ।

भावार्थ—जिस प्रकार पापकर्म बंधन है तथा संसारमें भ्रमानेवाला है, उसी प्रकार पुण्य भी बंधन है, और उसका विपाक संसार ही है, इसलिये दोनों एकहीसे हैं, पुन्य सोनेकी बेड़ीके समान और पाप लोहेकी बेड़ीके समान है, पर दोनों बंधन हैं ॥ ३ ॥

पाप पुण्यकी समानतामें शिष्यकी शंका। चौपाई।

कोऊ सिष्य कहै गुरु पांहीं।
पाप पुन्न दोऊ सम नाहीं॥
कारन रस सुभाव फल न्यारे।
एक अनिष्ट लगें इक प्यारे॥ ४॥

शब्दार्थ—गुरु पांहीं=गुरुके पास। रस=स्वाद, विपाक। अनिष्ट=अप्रिय।

अर्थ—श्रीगुरुके समीप कोई शिष्य कहता है कि, पाप और पुण्य दोनों समान नहीं हैं, क्योंकि उनके कारण, रस, स्वभाव तथा फल चारों ही जुदे जुदे हैं। एकके (कारण, रस, स्वभाव, फल) अप्रिय और एकके प्रिय लगते हैं॥ ४॥ पुन.

सवैया इकतीसा।

सकलेस परिनामनिसौं पाप बंध होइ,
विसुद्धसौं पुन्न बंध हेतु-भेद मानियें।
पापकै उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद,
पुन्न उदै साता मिष्ट रस भेद जानियें॥
पाप सकलेस रूप पुन्न है विसुद्ध रूप,
दुहूकौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियें।

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेदः।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः॥ ३॥

पापसौं कुगति होइ पुन्नसौं सुगति होइ,
ऐसौ फलभेद परतच्छि परमानियैं ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—संकलेस=तीव्र कषाय । विसुद्ध=मंद कषाय । असाता=दुख । कटुक=कड़वा । साता=सुख । परतच्छ (प्रत्यक्ष)=साक्षात् ।

अर्थ—संक्लिष्ट भावोंसे पाप और निर्मल भावोंसे पुण्य बंध होता है, इस प्रकार दोनोंके बंधमें कारण भेद हैं । पापका उदय असाता है, जिसका स्वाद कड़ुवा है और पुण्यका उदय साता है जिसका स्वाद मधुर है, इस प्रकार दोनोंके स्वादमें अंतर है । पापका स्वभाव तीव्र कषाय और पुण्यका स्वभाव मंद कषाय है, इस प्रकार दोनोंके स्वभावमें भेद है । पापसे कुगति और पुण्यसे सुगति होती है, इस प्रकार दोनोंमें फल भेद प्रत्यक्ष जान पड़ता है ॥ ५ ॥

शिष्यकी शंकाका समाधान । सवैया इकतीसा ।

पाप बंध पुन्न बंध दुहूंमें मुकति नांहि,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गलकौ पेखिए ।
संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,
कुगति सुगति जगजालमैं विसेखिए ॥
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टिमैं न लेखिए ।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबंधरूप,
दुहूंकौ विनास मोख मारगमैं देखिए ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—मुकति (मुक्ति)=मोक्ष। मधुर=मिष्ट। तोहि=तुझे। सूझत=दिखते। द्वैत=दुविधा।

अर्थ—पाप बंध और पुण्य बंध दोनों मुक्तिमार्गमें बाधक हैं, इससे दोनों ही समान हैं, इनके कटु और मिष्ट स्वाद पुद्गलके हैं इसलिये दोनोंके रस भी समान हैं, संक्लेश और विशुद्ध भाव दोनों विभाव हैं इसलिये दोनोंके भाव भी समान हैं, कुगति और सुगति दोनों संसारमय हैं, इससे दोनोंका फल भी समान है। दोनोंके कारण, रस, स्वभाव और फलमें तुझे अज्ञानसे भेद दिखता है, परन्तु ज्ञानदृष्टिसे दोनोंमें कुछ अंतर नहीं है— दोनों आत्मस्वरूपको भुलानेवाले हैं, इसलिये महा अधरूप हैं, और दोनों ही कर्म बंधरूप हैं, इससे मोक्षमार्गमें इन दोनोंका त्याग कहा है॥ ६॥

मोक्षमार्गमें शुद्धोपयोग ही उपादेय है। सवैया इकतीसा।

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषैभोग है।
कोऊ सुभरूप कोऊ असुभ स्वरूप मूल,
वस्तुके विचारत दुविध कर्मरोग है॥
ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरममें करम त्याग-जोग है।
भौ-जल तरैया रागद्वेषकौ हरैया महा,
मोखकौ करैया एक सुद्ध उपयोग है॥ ७॥

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः॥ ४॥

शब्दार्थ—सील (शील)=ब्रह्मचर्य । तप=इच्छाओंका रोकना। संजम (संयम)=छह कायके जीवोंकी रक्षा और इन्द्रियों तथा मनको वशमें करना । विरति (व्रत)=हिंसादि पाच पापोंका त्याग । असजम= छह कायके जीवोंकी हिंसा और इन्द्रियों तथा मनकी स्वतंत्रता । भौ (भव)=संसार । सुद्ध उपयोग=वीतराग परणति ।

अर्थ—ब्रह्मचर्य, तप, सयम, व्रत, दान, पूजा, आदि अथवा असयम, कषाय, विषय भोग आदि इनमें कोई शुभ और कोई अशुभ है, सो आत्म स्वभाव विचारा जावे तो दोनों ही कर्म-रूपी रोग हैं। भगवान वीतरागदेवने दोनोंको बंधकी परिपाटी बतलाया है, आत्मस्वभावकी प्राप्तिमें दोनों त्याज्य है। एक शुद्धोपयोग ही संसार समुद्रसे तारनेवाला, रागद्वेष नष्ट करनेवाला और परम पदका देनेवाला है ॥ ७ ॥

शिष्य गुरुका प्रश्नोत्तर । सवैया इकतीसा ।

सिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ सुभ,
कीनी है निषेध मेरे संसै मन मांही है।
मोखके सधैया ग्याता देसविरती मुनीस,
तिनकी अवस्था तो निरावलंब नांही है ॥

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥ ५ ॥

कहै गुरु करमको नास अनुभौ अभ्यास,
ऐसौ अवलव उनहीकौ उन पांही है।
निरुपाधि आतम समाधि सोई सिवरूप,
और दौर धूप पुदगल परछांही है॥ ८॥

शब्दार्थ—संसै (संशय)=सन्देह। देसविरती=श्रावक। मुनीस=साधु। निरावलन=निराधार। समाधि=ध्यान।

अर्थ—शिष्य कहता है कि हे स्वामी! आपने शुभ अशुभ क्रियाका निषेध किया सो मेरे मनमे सन्देह है, क्योंकि मोक्ष-मार्गी ज्ञानी अणुव्रती श्रावक वा महाव्रती मुनि तो निरावलव नही होते अर्थात् दान, समिति, सयम आदि शुभ क्रिया करते ही हैं। इसपर श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि कर्म निर्जरा अनुभवके अभ्याससे है, सो वे अपने ही ज्ञानमे स्वात्मानुभव करते हैं, रागद्वेष मोह रहित निर्विकल्प आत्मध्यान ही मोक्ष रूप है, इसके बिना और सब भटकना पुद्गल जनित है।

भावार्थ—शुभ क्रिया समिति व्रत आदि आश्रव ही हैं, इनसे साधु वा श्रावककी कर्म निर्जरा नहीं होती, निर्जरा तो आत्मानुभवसे होती है[1]॥ ८॥

---

१ 'येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥ इत्यादि (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

मुनि श्रावककी दशामें बंध और मोक्ष दोनों हैं। सवैया तेईसा।

मोख सरूप सदा चिनमूरति,
बंधमई करतूति कही है।
जावतकाल बसै जहां चेतन,
तावत सो रस रीति गही है॥
आतमको अनुभौ जबलौं,
तबलौं सिवरूप दसा निबही है।
अंध भयौ करनी जब ठानत,
बंध बिथा तब फैल रही है॥ ९॥

शब्दार्थ—चिमूरति=आत्मा। करतूति=शुभाशुभ विभाव परणति। जावत काल=जितने समय तक। तावत=तब तक। निबही=रहती है। अंध=अज्ञानी। बिथा (व्यथा)=दुःख।

अर्थ—आत्मा सदैव शुद्ध अर्थात् अबंध है और क्रिया बंधमय कही है, सो जितने समय तक जीव जिसमें (स्वरूप या क्रियामें) रहता है उतने समय तक उसका स्वाद लेता है, अर्थात् जब तक आत्म अनुभव रहता है तब तक अबंध दशा

यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितं॥ ६॥

रहती है, परन्तु जब स्वरूपसे चिगकर क्रियामें लगता है तब बंधका प्रपंच बढ़ता है ॥ ९ ॥

मोक्षकी प्राप्ति अंतर्दृष्टिसे है। सोरठा।

अंतर दृष्टि लखाउ, निज सरूपकौ आचरन।
ए परमातम भाउ, सिव कारन येई सदा ॥ १० ॥

शब्दार्थ—अंतर दृष्टि=अंतरंग ज्ञान। स्वरूपकौ आचरण=स्वरूपमें स्थिरता।

अर्थ—अंतरंग ज्ञानदृष्टि और आत्म-स्वरूपमें स्थिरता यह परमात्माका स्वभाव है और यही मोक्षका उपाय है।

भावार्थ—सम्यक्त्व सहित ज्ञान और चारित्र परमेश्वरका स्वभाव है और यही परमेश्वर बननेका उपाय है ॥ १० ॥

बाह्यदृष्टिसे मोक्ष नहीं है। सोरठा।

करम सुभासुभ दोइ, पुदगलपिंड विभाव मल।
इनसौं मुकति न होइ, नहि केवल पद पाइए ॥११॥

शब्दार्थ—सुभासुभ=भले बुरे। विभाव=विकार। मल=कलंक।

अर्थ—शुभ और अशुभ ये दोनों कर्म मल हैं, पुद्गलपिण्ड हैं, आत्माके विभाव हैं, इनसे मोक्ष नहीं होता और केवलज्ञान भी नहीं पा सकता है ॥ ११ ॥

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ ७ ॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ ८ ॥

इसपर शिष्य गुरूका प्रश्नोत्तर। सवैया इकतीसा।

कोऊ शिष्य कहै स्वामी! असुभक्रिया असुद्ध,
सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यों न वरनी।
गुरु कहैं जवलौं क्रियाके परिनाम रहैं,
तवलौं चपल उपयोग जोग धरनी॥
थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होइ,
याते दोऊ क्रिया मोख-पंथकी कतरनी।
वंधकी करैया दोऊ दुहूमें न भली कोऊ,
बाधक विचारि मैं निसिद्ध कीनी करनी १२॥

शब्दार्थ—असुभ क्रिया=पाप। सुभ क्रिया=पुण्य। क्रिया=शुभाशुभ परणति। चपल=चंचल। उपयोग=ज्ञान दर्शन। कतरनी=कैंची। निसिद्ध=वर्जित। करनी=क्रिया।

अर्थ—कोई शिष्य पूछता है कि हे स्वामी! आपने अशुभ क्रियाको अशुद्ध और शुभ क्रियाको शुद्ध क्यों न कहा? इसपर श्रीगुरु कहते हैं कि, जब तक शुभ अशुभ क्रियाके परिणाम रहते हैं तब तक ज्ञान दर्शन उपयोग और मन वचन कायके योग चंचल रहते हैं तथा जब तक ये स्थिर न होवें तब तक शुद्ध अनुभव नहीं होता। इससे दोनो ही क्रियाएँ मोक्षमार्गमें

मोक्षहेतुतिरोधानद्बन्धत्वात्स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायि भावत्वात्तन्निषिध्यते॥ ९॥

बाधक हैं, दोनो ही बंध उपजाने वाली हैं, दोनोंमेसे कोई अच्छी नहीं है। दोनों मोक्षमार्गमे बाधक है, ऐसा विचार कर मैंने क्रियाका निषेध किया है ॥ १२ ॥

ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग है। सवैया इकतीसा।

मुकतिके साधककों बाधक करम सब,
आतमा अनादिको करम मांहि लुक्यौ है।
एते पर कहे जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ,
सोई महा मूढ मोख मारगसौं चुक्यौ है॥
सम्यक सुभाउ लिये हियेमें प्रगट्यौ ग्यान,
उरध उमगि चल्यौ काहूपें न रुक्यौ है।
आरसीसौ उज्जल बनारसी कहत आपु,
कारन सरूप हैके कारजकों ढुक्यौ है ॥१३॥

शब्दार्थ—साधक=सिद्धि करनेवाला। लुक्यौ=छिपा। चुक्यौ (चूकौ)=भूला। ऊरध (ऊर्ध्व)=ऊपर। उमगि=उत्साह पूर्वक। आरसी=दर्पण। ढुक्यौ=बढ़ा।

अर्थ—मुक्तिके साधक आत्माको सब कर्म बाधक हैं, आत्मा अनादिकालसे कर्मोंमें छुपा हुआ है, इतनेपर भी जो पापको बुरा

सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
सन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥ १० ॥

और पुण्यको भला कहता है वही महामूर्ख मोक्षमार्गसे विमुख है। जब जीवको सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान प्रगट होता है तब वह अनिवार्य उन्नति करता है। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि वह ज्ञान दर्पणके समान उज्ज्वल स्वय कारण स्वरूप होकर कार्यमें रुजू होता है अर्थात् सिद्ध पद प्राप्त करता है।

भावार्थ—विशुद्धतापूर्वक बढ़ा हुआ ज्ञान किसीका रोका नहीं रुकता बढ़ता ही जाता है, सो पूर्व अवस्थामें जो ज्ञान उत्पन्न हुआ था वह कारण रूप था, वही कार्य रूप परिणमन करके सिद्ध स्वरूप होता है॥ १३॥

ज्ञान और शुभाशुभ कर्मोंका ब्यौरा। सवैया इकतीसा।

जौलौं अष्ट कर्मकौ विनास नांही सरवथा,
तौलौं अंतरातमामें धारा दोइ वरनी।
एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा,
दुहूंकी प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी॥
इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी।
ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार,
दोखकी हरनहार भौ-समुद्र-तरनी॥ १४॥

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ्‌ न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किं त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय त-
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥ ११॥

शब्दार्थ—सरवथा(सर्वथा)=बिलकुल । पराधीन=दूसरेके आश्रित । विविध=भाँति भाँतिके । भौ (भव)=संसार । तरनी=नौका ।

अर्थ—जब तक आठों कर्म बिलकुल नष्ट नहीं होते तब तक सम्यग्दृष्टीमे ज्ञानधारा और शुभाशुभ कर्मधारा दोनों वर्तती है। दोनो धाराओंका जुदा जुदा स्वभाव और जुदी जुदी सत्ता है। विशेष भेद इतना है कि कर्मधारा बंधरूप है, आत्मशक्तिको पराधीन करती है तथा अनेक प्रकार बंध बढाती है, और ज्ञान-धारा मोक्ष स्वरूप है, मोक्षकी दाता है, दोषोंको हटाती है तथा संसार सागरसे तारनेके लिये नौकाके समान है ॥ १४ ॥

यथायोग्य कर्म और ज्ञानसे मोक्ष है। सवैया इकतीसा।

समुझैं न ग्यान कहैं करम कियेसौं मोख,
ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमैं ।
ग्यान पच्छ गहैं कहैं आतमा अबंध सदा,
बरतैं सुछंद तेऊ बूडे हैं चहलमैं ॥
जथा जोग करम करैं पै ममता न धरैं,
रहैं सावधान ग्यान ध्यानकी टहलमैं ।
तेई भव सागरके ऊपर ह्वै तरैं जीव,
जिन्हिकौ निवास स्यादवादके महलमैं ॥१५॥

मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि सततं स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—विकल=बेचैन। गहल=पागलपन। सुछंद=मनमाने। पहल=कीचड़। सावधान=सचेत। टहल=सेवा। महल=मंदिर।

अर्थ—जो ज्ञानमे नहीं समझते और कर्मसे ही मोक्ष मानते हैं ऐसे क्रियावादी जीव मिथ्यात्वके झकोरोंसे बेचैन रहते है। और सांख्यवादी जो सिर्फ ज्ञानका पक्ष पकडके आत्माको सदा अबंध कहते है—तथा मनमाने वर्तते हैं वे भी संसारकी कीचड़में फँसते हैं। पर जो स्याद्वाद-मंदिरके निवासी है वे अपने पदस्थके अनुसार कर्म करते हैं और ज्ञान ध्यानकी सेवामें सावधान रहते हैं वे ही ससार सागरसे तरते हैं॥ १५॥

मूढ़ क्रिया तथा विचक्षण क्रियाका वर्णन। सवैया इकतीसा।

जैसे मतवारो कोऊ कहै और करै और,
तैसें मूढ़ प्रानी विपरीतता धरतु है।
असुभ करम बंध कारन बखानै मानै,
मुकतिके हेतु सुभ-रीति आचरतु है॥
अंतर सुदृष्टि भई मूढता विसर गई,
ग्यानको उदोत भ्रम-तिमिर हरतु है।

मेदोन्माद भ्रमरसभराान्नाटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूल सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्द्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योति कवलिततम प्रोज्जजृम्भे भरेण॥ १२॥

इति पुण्यपापाधिकार ॥ ४॥



करनीसौं भिन्न रहै आतम सुरूप गहै,
अनुभौ अरभि रस कौतुक करतु है॥ १६॥

शब्दार्थ—मतवारो=नशेमें उन्मत्त। मूढ़ प्रानी=अज्ञानी जीव। बखानै=कहे। मानै=श्रद्धान करे। निसर गई=दूर होगई।

अर्थ—जैसे कोई पागल मनुष्य कुछ कहता और कुछ करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीवमें विपरीत भाव रहता है, वह अशुभ कर्मको बंधका कारण समझता है और मुक्तिके लिये शुभ आचरण करता है। पर सच्चा श्रद्धान होनेपर अज्ञान नष्ट होनेसे ज्ञानका प्रकाश मिथ्या अंधकारको दूर करता है और क्रियामें विरक्त होकर आत्मस्वरूपको ग्रहण करके अनुभव धारण कर परमरसमें आनंद करता है॥ १६॥

चौथे अधिकारका सार।

जिसका बंध विशुद्ध भावोंसे होता है वह पुण्य और जिसका बंध संक्लिष्ट भावोंसे होता है वह पाप है। प्रशस्त राग, अनुकम्पा, कलुषतारहित भाव, अरहंत आदि पंच परमेष्टीकी भक्ति, व्रत, संयम, शील, दान, मंद कषाय आदि विशुद्ध भाव पुण्य बंधके कारण हैं और साता, शुभ आयु, ऊंच गोत्र, देवगति आदि शुभ नाम पुण्य कर्म हैं। प्रमाद सहित प्रवृति, चित्तकी कलुषता, विषयोंकी लोलुपता, दूसरोंको संताप देना, दूसरोंका अपवाद करना, आहार, परिग्रह, भय, मैथुन, चारों संज्ञा, तीनों कुज्ञान, आर्त रौद्र ध्यान, मिथ्यात्व, अप्रशस्त राग, द्वेष, अव्रत, असंयम, बहुत आरंभ, दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, योग वक्रता,

आत्म प्रशंसा, मूढ़ता, अनायतन, तीव्र कषाय आदि संक्लिष्ट भाव हैं—पाप बंधके कारण हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, असाता, मोहनीय, नर्क आयु, पशु गति, अशुभ नाम, नीच गोत्र, अतराय आदि पाप कर्म हैं।

अशुभ परणति और शुभ परणति दोनों आत्माके विभाव हैं, दोनों ही आस्रव बंध रूप हैं, संवर निर्जराके कारण नहीं हैं, इसलिये दोनों ही मुक्ति मार्गमें बाधक हैं और मुक्ति मार्गमें घातक होनेसे पाप और पुण्य दोनों एक ही हैं। यद्यपि दोनोंके कारण, रस, स्वभाव, फलसे अंतर है तथा पुण्य प्रिय और पाप अप्रिय लगता है, तो भी सोनेकी बेड़ी और लोहेकी बेड़ीके समान दोनो ही जीवको संसारमें संसरण करानेवाले हैं। एक शुभोपयोग और दूसरा अशुभोपयोग है, शुद्धोपयोग कोई भी नहीं है, इससे मोक्षमार्गमें दोनोंकी सराहना नहीं है। दोनों ही हेय हैं, दोनों आत्माके विभाव भाव हैं, स्वभाव नहीं हैं, दोनों पुद्गल जनित हैं, आत्मा जनित नहीं हैं, इनसे मुक्ति नहीं हो सकती और न केवलज्ञान प्रगट होता है।

आत्मामें स्वभाव विभाव दो प्रकारकी परणति होती है, स्वभाव परणति तो वीतराग भाव है और विभाव परणति राग द्वेष रूप है। इन राग और द्वेषमेंसे द्वेष तो सर्वथा पाप रूप है, परतु राग प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका है, सो प्रशस्त राग पुण्य है और अप्रशस्त राग पाप है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके पहले स्वभाव भावका उदय ही नहीं होता, अतः मिथ्यात्वकी दशामें जीवकी शुभ वा अशुभरूप विभाव परणति ही रहती है, सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति हुए पीछे कर्मका सर्वथा

सम्यग्दृष्टी जीव निरास्रव है। दोहा।

जहां न रागादिक दसा, सो सम्यक परिनाम।
याते सम्यकवतको, कह्यो निरास्रव नाम॥ १०॥

अर्थ—जहां राग द्वेष मोह नहीं हैं वह सम्यक्त्व भाव है, इसीसे सम्यग्दृष्टीको आस्रव रहित कहा है॥ १०॥

निरास्रवी जीवोंका आह्लाद। सवैया इकतीसा।

जे केई निकटभव्यरासी जगवासी जीव,
मिथ्यामत भेदि ग्यान भाव परिनए हैं।
जिन्हिकी सुदृष्टिमें न राग द्वेष मोह कहू,
विमल विलोकनिमें तीनों जीति लए हैं॥
तजि परमाद घट सोधि जे निरोधि जोग,
सुद्ध उपयोगकी दसामें मिलि गए हैं।
तेई बंधपद्धति विदारि परसंग डारि,
आपमें मगन ह्वैके आपरूप भए हैं॥ ११॥

शब्दार्थ—सुदृष्टि=सच्चा श्रद्धान। विमल=उज्ज्वल। विलोकनि=श्रद्धान। परमाद=असावधानी। घट=हृदय। सोधि=साफ करके। सुद्ध उपयोग=वीतराग परणति। विदारि=हटाकर।

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति बंधविधुरं समयस्य सारं॥ ८॥

अर्थ—जो कोई निकट भव्यराशि ससारी जीव मिथ्यात्वको छोड़कर सम्यग्भाव ग्रहण करते हैं, जिन्होंने निर्मल श्रद्धानसे राग द्वेष मोह तीनोंको जीत लिया है और जो प्रमादको हटाकर, चित्तको शुद्ध करके, योगोंका निग्रह कर शुद्ध उपयोगमें लीन हो जाते हैं, वे ही बन्ध परपराको नष्ट करके पर वस्तुका सम्बन्ध छोड़कर, अपने रूपमें मग्न होकर निज स्वरूपको प्राप्त होते हैं अर्थात् सिद्ध होते हैं ॥ ११ ॥

उपशम तथा क्षयोपशम भावोंकी अस्थिरता। सवैया इकतीसा।

जेते जीव पंडित खयोपसमी उपसमी,
तिन्हकी अवस्था ज्यों लुहारकी संडासी है।
खिन आगमांहि खिन पानीमांहि तैसें एऊ,
खिनमें मिथ्यात खिन ग्यानकला भासी है॥
जौलौं ग्यान रहै तौलौं सिथिल चरन मोह,
जैसें कीले नागकी सकति गति नासी है।
आवत मिथ्यात तव नानारूप वंध करै,
ज्यौं उकीले नागकी सकति परगासी है ।१२।

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—पतित=सम्यग्दृष्टी। खिन (क्षण)=यहां क्षणसे अंतर मुहूर्तका प्रयोजन है। सिथिल=कमजोर। कीले=मंत्र वा जड़ीसे बँधे हुए। नाग=सर्प। उकीले=मंत्र बंधनसे मुक्त। सकति (शक्ति)=बल। परगासी (प्रकाशी)=प्रगट की।

अर्थ—जिस प्रकार लुहारकी सॅडासी कभी अग्निमें तप्त और कभी पानीमें शीतल होती है उसी प्रकार क्षयोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टी जीवोंकी दशा है अर्थात् कभी मिथ्यात्व भाव प्रगट होता है और कभी ज्ञानकी ज्योति जगमगाती है। जब तक ज्ञान रहता है तब तक चारित्र मोहनीयकी शक्ति और गति कीले हुए सर्पके समान शिथिल रहती है, और जब मिथ्यात्व रस देता है तब वह उकीले हुए सर्पकी प्रगट हुई शक्ति और गतिके समान अनंत कर्मोंका बंध बढ़ाता है।

विशेष—उपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्ट व जघन्यकाल अंतर-मुहूर्त है और क्षयोपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्ट काल छ्यासठ सागर और जघन्यकाल अंतर मुहूर्त है। ये दोनों सम्यक्त्व नियमसे नष्ट ही होते हैं, सो जब तक सम्यक्त्व भाव रहता है तब तक आत्मा एक विलक्षण शान्ति और आनंदका अनुभव करता है और जब सम्यक्त भाव नष्ट होनेसे मिथ्यात्वका उदय होता है तब आत्मा अपने स्वरूपसे बिगकर कर्म परंपराको बढ़ाता है॥ १२॥

१ अनतानुबंधीकी चार और दर्शन मोहनीयकी तीन इन सात प्रकृतियोंका उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है। २ अनतानुबंधीकी चौकड़ी और मिथ्यात्व तथा सम्यक्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियोंका अनोदय और सम्यक् प्रकृतिका उदय रहते क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। ३ अनंत संसारकी अपेक्षा यह काल भी थोड़ा है।

अशुद्ध नयसे बंध और शुद्ध नयसे मुक्ति है। दोहा।

यह निचोर या ग्रंथको, यहै परम रसपोख।
तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख॥ १३॥

शब्दार्थ—निचोर=सार। पोख=पोषक। मोख=मोक्ष।

अर्थ—इस शास्त्रमे सार बात यही है और यही परम तत्त्वकी पोषक है कि शुद्धनयकी रीति छोडनेसे बन्ध और शुद्धनयकी रीति ग्रहण करनेसे मोक्ष होता है॥ १३॥

जीवकी बाह्य तथा अंतरंग अवस्था। सवैया इकतीसा।

करमके चक्रमें फिरत जगवासी जीव,
है रह्यौ बहिरमुख व्यापत विषमता।
अंतर सुमति आई विमल बडाई पाई,
पुद्गलसौं प्रीति टूटी छूटी माया ममता॥
सुद्धनै निवास कीनौ अनुभौ अभ्यास लीनौ,
भ्रमभाव छांड़ि दीनौ भीनौ चित्त समता।
अनादि अनंत अविकलप अचल ऐसौ,
पद अवलंबि अवलोकै राम रमता॥ १४॥

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बन्ध एव हि॥ १०॥
धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिम्
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम्।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः॥ ११॥

संवर द्वार।

(६)

प्रतिज्ञा। दोहा।

आस्रवकौ अधिकार यह, कह्यौ जथावत जेम।
अब सवर वरनन करौं, सुनहु भविक धरि प्रेम॥१॥

शब्दार्थ—आस्रव=बंधका कारण। जथावत=जैसा चाहिये वैसा। सवर=आश्रवका निरोध। वरनन=कथन। भविक=ससारी।

अर्थ—आस्रवका अधिकार यथार्थ वर्णन किया, अब संवरका स्वरूप कहता हूँ, सो हे भव्यो! तुम प्रेम पूर्वक सुनो॥ १॥

ज्ञान रूप सवरको नमस्कार। सवैया इकतीसा।

आतमको अहित अध्यातमरहित ऐसो,
आस्रव महातम अखड अडवत है।
ताकौ विसतार गिलिबेको परगट भयौ,
ब्रह्मडको विकासी ब्रह्मडवत है॥
जामैं सब रूप जो सबमैं सबरूपसो पै,
सबनिसों अलिप्त आकाश-खडवत है।

आससारविरोधिसवरजयैकान्तावलिप्तास्रव
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजय सम्पादयत्सवरम्।
व्यावृत्त पररूपतो नियमित सम्यक्स्वरूपे स्फुर
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वल निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते॥ १॥

सोहै ग्यानभान सुद्ध संवरकौ भेष धरै,
ताकी रुचि-रेखकौं हमारी दंडवत है॥ २॥

शब्दार्थ—अहित=बुराई करनेवाला। अध्यातम=आत्म अनुभव। महातम=घोर अंधकार। अखंड=पूरा। अंडवत=अंडाकार। विस्तार=फैलाव। गिलिवेकौं=निगलनेके लिए। ब्रहमंड (ब्रह्मांड)=त्रैलोक्य। निकास=उजेला। अलिप्त=अलग। आकास खंड=आकाशका प्रदेश। भान (भानु)=सूर्य। रुचि-रेख=किरण रेखा, प्रकाश। दंडवत=प्रणाम।

अर्थ—जो आत्माका घातक है और आत्म-अनुभवसे रहित है ऐसा आस्रव रूप महा अंधकार अखंड अंडाके समान जगतके सब जीवोंको घेरे हुए है। उसको नष्ट करनेके लिये निजगत निकाशी सूर्यके समान जिसका प्रकाश है और जिसमें सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं तथा आप उन सब पदार्थोंके आकार रूप होता है[1], तौ भी आकाशके प्रदेशके समान उनसे अलिप्त रहता है, वह ज्ञानरूपी सूर्य शुद्ध संवरके भेषमें है उसकी प्रभाको हमारा प्रणाम है॥ २॥

भेदविज्ञानका महत्व। सवैया तेईसा।

सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित,
भेद-विग्यान सुतीछन आरा।

१ 'ज्ञायक ज्ञेयाकार' अथवा 'ज्ञेयाकार ज्ञानकी परिणति' यह व्यवहार वचन है।

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारुणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः॥ २॥

भेदविज्ञानकी क्रियाके दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

जैसे रजसोधा रज सोधिकै दरब काढै,
पावक कनक काढि दाहत उपलकौं।
पंकके गरभमैं ज्यौं डारिये कुतक फल,
नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौं॥
दधिकौ मथैया मथि काढै जैसे माखनकौं,
राजहंस जैसैं दूध पीवै त्यागि जलकौं।
तैसैं ग्यानवंत भेदग्यानकी सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै पर दलकौं॥ १०॥

निर्मली डालनेसे वह पानीको साफ करके मैल हटा देती है, दहीका मथनेवाला दही मथकर मक्खनको निकाल लेता है, हंस दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है; उसी प्रकार ज्ञानीलोग भेदविज्ञानके बलसे आत्म सम्पदा ग्रहण करते हैं, और रागद्वेष आदि वा पुद्गलादि पर पदार्थोंको त्याग देते हैं ॥ १० ॥

मोक्षका मूल भेदविज्ञान है । छप्पय छन्द ।

प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै ।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै ॥
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै ।
आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै ॥
छय करि विभाव समभाव भजि,
निरविकलप निज पद गहै ।
निर्मल विसुद्ध सासुत सुथिर,
परम अतींद्रिय सुख लहै ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—परित्याग=छोड़कर । थिति ठानै=स्थिर करे । परगासै (प्रकाशै)=प्रगट करे । निरोधि=रोककर । तिमिर=अंधकार । समभाव= समताभाव । भजि=ग्रहण करके । सास्वत=स्वयं सिद्ध । सुथिर=अचल । अतींद्रिय=जो इन्द्रिय गोचर नहीं ।

अर्थ—भेदविज्ञान आत्माके और परद्रव्योंके गुणोंको स्पष्ट जानता है, परद्रव्योंसे आपा छोड़कर शुद्ध अनुभवमें स्थिर होता है और उसका अभ्यास करके संवरको प्रगट करता है, आस्रव द्वारका निग्रह करके कर्मजनित महा अंधकार नष्ट करता है,

भेदविज्ञानकी क्रियाके दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

जैसे रजसोधा रज सोधिकै दरव काढ़ै,
पावक कनक काढि दाहत उपलकौं।
पंकके गरभमैं ज्यौं डारिये कुतक फल,
नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौं॥
दधिकौ मथैया मथि काढै जैसे माखनकौं,
राजहंस जैसे दूध पीवै त्यागि जलकौं।
तैसे ग्यानवंत भेदग्यानकी सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै पर-दलकौं ॥ १० ॥

शब्दार्थ—रज=धूल। दरब (द्रव्य)=सोना चांदी। पावक=अग्नि। कनक=सोना। दाहत=जलाता है। उपल=पत्थर। पंक=कीच। गरभ=भीतर। कुतक फल=निर्मली। वेदै=अनुभव करे। उछेदै (उच्छेदै)=त्याग करे। पर-दल=आत्माके सिवाय अन्य पदार्थ।

अर्थ—जैसे रजसोधा धूल शोधकर सोना चांदी ग्रहण कर लेता है, अग्नि धातुको गलाकर सोना निकालती है, कर्दममें

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्म्मणा संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ ८ ॥

इति संवराधिकार ॥ ६ ॥

निर्मली डालनेसे वह पानीको साफ करके मैल हटा देती है, दहीका मथनेवाला दही मथकर मक्खनको निकाल लेता है, हंस दूध पी लेता है और पानी छोड देता है, उसी प्रकार ज्ञानीलोग भेदविज्ञानके बलसे आत्म सम्पदा ग्रहण करते हैं, और रागद्वेष आदि वा पुद्गलादि पर पदार्थोंको त्याग देते हैं ॥ १० ॥

मोक्षका मूल भेदविज्ञान है। छप्पय छन्द।

प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै ॥
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै।
आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै ॥
छय करि विभाव समभाव भजि,
निरविकलप निज पद गहै।
निर्मल विसुद्ध सासुत सुथिर,
परम अतींद्रिय सुख लहै ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—परित्याग=छोडकर। थिति ठानै=स्थिर करे। परगासै (प्रकाशै)=प्रगट करे। निरोधि=रोककर। तिमिर=अंधकार। समभाव=समताभाव। भजि=ग्रहण करके। सास्वत=स्वयं सिद्ध। सुथिर=अचल। अतिंद्रिय=जो इन्द्रिय गोचर नहीं।

अर्थ—भेदविज्ञान आत्माके और परद्रव्योंके गुणोंको स्पष्ट जानता है, परद्रव्योंसे आपा छोडकर शुद्ध अनुभवमें स्थिर होता है और उसका अभ्यास करके संवरको प्रगट करता है, आस्रव द्वारका निग्रह करके कर्मजनित महा अंधकार नष्ट करता है,

रागद्वेष आदि विभाव छोड़कर समता भाव ग्रहण करता है और विकल्प रहित अपना पद पाता है तथा निर्मल, शुद्ध, अनंत, अचल और परम अतिंद्रिय सुख प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

छट्ठे अधिकारका सार ।

पूर्व अधिकारमें कह आये हैं कि मिथ्यात्व ही आस्रव है, इसलिये आस्रवका निरोध अर्थात् सम्यक्त्व संवर है। यह संवर निर्जराका और अनुक्रमसे मोक्षका कारण है। जब आत्मा स्वयं बुद्धिसे अथवा श्रीगुरुके उपदेश आदिसे आत्म अनात्मका भेद-विज्ञान अथवा स्वभाव विभावकी पहिचान करता है तब सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। स्वको स्व और परको पर जानना इसीका नाम भेदविज्ञान है, इसीको स्वपर विवेक कहते हैं। 'तासु ज्ञानकौ कारन स्व पर विवेक बखानौं' की उक्तिसे भेदविज्ञान सम्यग्दर्शनका कारण है। जिस प्रकार कपड़ा साफ करनेमें साबुन सहायक है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें भेदविज्ञान सहायक होता है और जब कपड़े साफ हो जावें तब साबुनका कुछ काम नहीं रहता और यदि साबुन हो तो एक बोझ ही होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन हुए पीछे जब स्वपरके विकल्पकी आवश्यकता नहीं रहती तब भेदविज्ञान हेय ही होता है। भाव यह है कि भेदज्ञान प्रथम अवस्थामें उपादेय है और सम्यग्दर्शन निर्मल हुए पीछे उसका कुछ काम नहीं है, हेय है। भेदविज्ञान यद्यपि हेय है तो भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका कारण होनेसे उपादेय है, इसलिये स्वगुण और परगुणकी परख करके पर परणतिसे विरक्त होना चाहिये और शुद्ध अनुभवका अभ्यास करके समता भाव ग्रहण करना चाहिये।

निर्जरा द्वार।

(७)

प्रतिज्ञा दोहा।

वरनी संवरकी दसा, जथा जुगति परवांन।
मुकति वितरनी निरजरा, सुनहु भविक धरि कान १

शब्दार्थ—जथा जुगति परवान=जैसी आगममें कही है। वितरनी=देने वाली।

अर्थ—जैसा आगममें संवरका कथन है वैसा वर्णन किया, हे भव्यो! अब मोक्ष दायनी निर्जराका कथन कान लगाकर सुनो ॥ १ ॥

मंगलाचरण चौपाई।

***जो संवरपद पाइ अनंदै।**
सो पूरवकृत कर्म निकंदै ॥
जो अफंद है बहुरि न फंदै।
सो निरजरा बनारसि बंदै ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अनंदै=प्रसन्न होवे। निकंदै=नष्ट करे। अफंद=सुलझना। फंदै=उलझे।

---

* रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति ॥ १ ॥

अर्थ—जो संवरकी अवस्था प्राप्त करके आनंद करता है, जो पूर्वमें बाँधे हुए कर्मोंको नष्ट करता है, जो कर्मके फंदेसे छूटकर फिर नहीं फँसता, उस निर्जरा भावको पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं॥ २ ॥

ज्ञान वैराग्यके बलसे शुभाशुभक्रियायोंसे भी बंध नहीं होता। दोहा।

*महिमा सम्यकज्ञानकी, अरु विरागबल जोइ।
क्रिया करत फल भुंजते, करम बंध नहि होइ॥३॥

शब्दार्थ—महिमा=प्रभाव। अरु=और। भुंजते=भोगते हुए।

अर्थ—सम्यग्ज्ञानके प्रभावसे और वैराग्यके बलसे शुभाशुभ क्रिया करते और उसका फल भोगते हुए भी कर्म बंध नहीं होता है॥ ३ ॥

भोग भोगते हुए भी ज्ञानियोंको कर्म कालिमा नहीं लगती।
सवैया इकतीसा।

जैसें भूप कौतुक सरूप करै नीच कर्म,
कौतुकी कहावै तासौं कौन कहै रंक है।
जैसें विभचारिनी विचारै विभचार वाकौ,
जारहीसौं प्रेम भरतासौं चित बंक है॥
जैसें धाइ बालक चुंघाइ करै लालिपालि,
जानै ताहि औरकौ जदपि वाकै अंक है।

* तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते॥ २॥

तैसें ग्यानवंत नाना भांति करतूति ठानै,
किरियाकौं भिन्न मानै यातै निकलंक है॥४॥

शब्दार्थ—भूप=राजा। कौतुक=खेल। नीच कर्म=छोटा काम। रंक=कंगाल। वाकौ=उसका। जार (यार)=दोस्त। भरता=पति। बंक=विमुख। धुँवाई=पिलाकर। अंक=गोद। निकलंक=निर्दोष।

अर्थ—जिस प्रकार राजा खेल स्वरूप छोटा काम करे तो भी वह खिलाड़ी कहलाता है उसे कोई गरीब नहीं कहता, अथवा जैसे व्यभिचारिणी स्त्री पतिके पास रहे तो भी उसका चित्त यारहीमें रहता है—पतिसे प्रेम नहीं रहता, अथवा जिस प्रकार धाय बालकको दूध पिलाती, लालन पालन करती और गोदमें लेती है, तो भी उसे दूसरेका जानती है, उसी प्रकार ज्ञानीजीव उदयकी प्रेरणासे भाँति भाँतिकी शुभाशुभ क्रिया करता है, परन्तु उस क्रियाको आत्मस्वभावसे भिन्न कर्म-जनित मानता है, इससे सम्यग्ज्ञानी जीवको कर्मकालिमा नहीं लगती ॥ ४ ॥ पुनः

जैसें निसि वासर कमल रहै पंकहीमें,
पंकज कहावै पै न वाकै ढिग पंक है।
जैसें मंत्रवादी विषधरसौं गहावै गात,
मंत्रकी सकति वाकै विना-विष डंक है॥

१ घोड़ेपर चढ़ना आदि। २ गृहवासी तीर्थंकर, भरत चक्रवर्ती, राजा श्रेणिक आदिकी तरह।

स्वरूपको देखते हैं और जीव अजीव तत्त्वोंका निर्णय करते हैं[1]। वे आत्म अनुभव कर निज स्वरूपमें स्थिर होते हैं तथा संसार समुद्रसे आप स्वयं तरते हैं व दूसरोंको तारते हैं[2]। इस प्रकार आत्मतत्त्वको सिद्ध करके कर्मोंका फंदा हटा देते हैं और मोक्षका आनंद प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

सम्यग्ज्ञानके बिना सम्पूर्ण चारित्र निस्सार है। सवैया तेईसा।

जो नर सम्यकवंत कहावत,
सम्यकग्यान कला नहि जागी।
आतम अंग अबंध विचारत,
धारत संग कहै हम त्यागी॥
भेष धरै मुनिराज-पटतर,
अंतर मोह महा-नल दागी।
सुन्न हिये करतूति करै पर,
सो सठ जीव न होय विरागी॥ ८॥

---

१ जीवने अनादि कालसे देहादि पर वस्तुओंको अपनी मान रक्खी थी सो उस हठको छोड़ देता है और अपने उनसे पृथक् मानने लगता है।
२ धर्मोपदेश देकर।

शब्दार्थ—संग=परिग्रह। पटतर (पटतर)=समान। महानल=तेज अग्नि। सठ=मूर्ख।

अर्थ—जिस मनुष्यके सम्यग्ज्ञानकी किरण तो प्रगट हुई नहीं और अपनेको सम्यग्दृष्टी मानता है। वह निजात्म स्वरूपको अनंध चिन्तवन करता है, शरीर आदि परवस्तुमें ममत्व रखता है और कहता है कि हम त्यागी हैं। वह मुनिराजके समान भेष धरता है परन्तु अंतरगमें मोहकी महा ज्वाला धधती है, वह शून्य हृदय होकर (मुनिराज जैसी) क्रिया करता है परन्तु वह मूर्ख है, वास्तवमें साधु नहीं है द्रव्यलिंगी है ॥ ८ ॥

भेदविज्ञानके विना समस्त चारित्र निस्सार है। सवैया तेईसा।

ग्रन्थ रचै चरचै सुभ पंथ,
लखै जगमें विवहार सुपत्ता।
साधि संतोष अराधि निरंजन,
देइ सुसीख न लेइ अदत्ता॥
नंग धरंग फिरै तजि संग,
छकै सरवंग मुधा रसमत्ता।
ए करतूति करै सठ पै,
समुझै न अनातम-आतम-सत्ता॥ ९॥

१ निश्चय नयका एकांत पक्ष लेकर।

शब्दार्थ—क्रिया=चारित्र। अवगाहै=ग्रहण करे। अजान=मूर्ख। मूढनिमें=मूर्खोंमें। मुखिया=प्रधान।

अर्थ—जो सम्यग्ज्ञानके विना चारित्र धारण करता है, वा बिना चारित्रके मोक्ष पद चाहता है, तथा विना मोक्षके अपनेको सुखी कहता है, वह अज्ञानी है मूर्खोंमें प्रधान अर्थात् महामूर्ख है ॥ ११ ॥

श्रीगुरुका उपदेश अज्ञानी जीव नहीं मानते। सवैया इकतीसा।

जगवासी जीवनिसों गुरु उपदेस कहै,
तुमें इहां सोवत अनंत काल बीते हैं।
जागो ह्वै सचेत चित्त समता समेत सुनो,
केवल-वचन जामें अक्ष-रस जीते हैं॥
आवो मेरे निकट बताऊं मैं तुम्हारे गुन,
परम सुरस-भरे करमसौं रीते हैं।
ऐसे बैन कहै गुरु तौऊ ते न धरै उर,
मित्रकैसे पुत्र किधौं चित्रकेसे चीते हैं ॥१२॥

शब्दार्थ—चित्रकैसे चीते=चित्रमें बने हुए।

आससारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ता
सुप्ता यस्मिन्नपदमपद तद्विबुध्यध्वमंधा ।
एतैतेतः पदमिदमिद यत्र चैतन्यधातुः
शुद्ध शुद्धः स्वरसभरत स्थायिभावत्वमेति ॥ ६ ॥

अर्थ—श्रीगुरु जगवासी जीवोंको उपदेश करते हैं कि, तुम्हें इस संसारमें मोह निद्रा लेते हुए अनंत काल बीत गया; अब तो जागो और सावधान वा शान्त चित्त होकर भगवानकी वाणी सुनो, जिससे इन्द्रियोंके विषय जीते जा सकते है। मेरे समीप आओ, मैं कर्म कलक रहित परम आनदमय तुम्हारे आत्माके गुण तुम्हे बताऊँ। श्रीगुरु ऐसे वचन कहते हैं तो भी ससारी मोहीजीव कुछ ध्यान नहीं देते, मानो वे मिट्टीके पुतले है अथवा चित्रमे लिखे हुए मनुष्य हैं॥ १२॥

जीवकी शयन और जाग्रत दशा कहनेकी प्रतिज्ञा। दोहा।

एतेपर बहुरौं सुगुरु, बोलैं वचन रसाल।
सैन दसा जागृत दसा, कहै दुहूंकी चाल॥१३॥

शब्दार्थ—रसाल=मीठे। सैन (शयन)=सोती हुई। दसा=अवस्था।

अर्थ—इतनेपर फिर कृपालु सुगुरु जीवकी निद्रित और जाग्रत दशाका कथन मधुर वचनोंमें कहते हैं॥ १३॥

जीवकी शयन अवस्था। सवैया इकतीसा।

काया चित्रसारीमें करम परजंक भारी,
मायाकी संवारी सेज चादरि कलपना।
सैन करै चेतन अचेतना नींद लिये,
मोहकी मरोर यहै लोचनकौ ढपना॥

उदै बल जोर यहै स्वासको सबद घोर,
विषै-सुख कारजकी दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ दसामें मगन रहै तिहूं काल,
धावै भ्रम जालमें न पावै रूप अपना ॥१४॥

शब्दार्थ—काया=शरीर। चित्रसारी=शयनागार, निद्रा लेनेकी जगह। सेंवारी (सँवारी)=सजी। परजंक (पर्यंक)=पलंग। सेज=बिस्तर। चादरि=ओढ़नेका वस्त्र। अचेतना=स्वरूपका भूलना। लोचन=नेत्र। स्वासको सबद=घुरकना।

अर्थ—शरीररूपी महलमें कर्मरूपी बड़ा पलंग है, मायाकी सेज सजी हुई है, कल्पनारूपी चादर है, स्वरूपकी भूलरूप नींद ले रहा है, मोहके झकोरोंसे नेत्रोंके पलक ढँक रहे हैं, कर्मोदयकी जबरदस्ती घुरकनेकी आवाज है, विषय सुखके कार्योंके हेतु भटकना यह स्वप्न है; ऐसी अज्ञान अवस्थामें आत्मा सदा मग्न होकर मिथ्यात्वमें भटकता फिरता है परन्तु अपने आत्मस्वरूपको नहीं देखता ॥ १४ ॥

जीवकी जाग्रत दशा। सवैया इकतीसा।

चित्रसारी न्यारी परजंक न्यारो सेज न्यारी,
चादरि भी न्यारी इहां झूठी मेरी थपना।
अतीत अवस्था सैन निद्रा वाहि कोउ पै,
न विद्यमान पलक न यामैं अब छपना ॥

१ जब राग द्वेषके बाह्य निमित्त नहीं मिलते तब मनमें भाँति भाँतिके संकल्प विकल्प करना है

स्वास औ सुपन दोऊ निद्राकी अलंग बूझै,
सूझै सब अंग लखि आतम दरपना।
त्यागी भयौ चेतन अचेतनता भाव त्यागि,
भालै दृष्टि खोलिकै संभालै रूप अपना ॥१५

शब्दार्थ—थपना=स्थापना। अतीत=भूतकाल। निद्राबाहि=सोनेवाला। यामैं=इसमें। छपना=छगाना। अलग=संबंध। दरपना=दर्पण। भालै=देखे।

अर्थ—जब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ तब जीव विचारता है कि शरीररूप महल जुदा है, कर्मरूप पलँग जुदा है, मायारूप सेज जुदी है, कल्पनारूप चादर जुदी है, यह निद्रावस्था मेरी नहीं है—पूर्वकालमें सोनेवाली मेरी दूसरी ही पर्याय थी। अब वर्तमानका एक पल भी निद्रामें नहीं बिताऊँगा। उदयका निश्वास और विषयका स्वप्न ये दोनों निद्राके संयोगसे दिखते थे अब आत्मरूप दर्पणमें मेरे समस्त गुण दिखने लगे। इस प्रकार आत्मा अचेतन भावोंका त्यागी होकर ज्ञानदृष्टिसे देखकर अपने स्वरूपको सम्हालता है ॥ १५ ॥

जाग्रत दशाका फल। दोहा।

इहि विधि जे जागे पुरुष, ते शिवरूप सदीव।
जे सोवहि संसारमें, ते जगवासी जीव ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—इह विधि=इस प्रकार। जागे=सचेत हुए। ते=वे। सदीव (सदैव)=हमेशा। जगवासी=संसारी।

अर्थ—जो जीव ससारमें इस प्रकार आत्म अनुभव करके सचेत हुए हं वे सदैव मोक्ष रूपही हैं और जो अचेत हुए सो रहे हैं वे ससारी है ॥ १६ ॥

आत्म अनुभव ग्रहण करनेकी शिक्षा। दोहा।

*जो पद भौपद भय हरै, सो पद सेऊ अनूप।
जिहि पद परसत और पद, लगै आपदारूप१७

शब्दार्थ—भौ (भव)=संसार। सेऊ=स्वीकार करो। अनूप=उपमा रहित। परसत (स्पर्शत)=ग्रहण करते ही। आपदा=कष्ट।

अर्थ—जो जन्म मरणका भय हटाता है, उपमा रहित है, जिसे ग्रहण करनेसे और सब पेद विपत्तिरूप भासने लगते हैं उस आत्म अनुभवरूप पदको अगीकार करो ॥ १७ ॥

ससार सर्वथा असत्य है। सवैया इकतीसा।

जब जीव सोवै तब समुझै सुपन सत्य,
वहि झूठ लागै जब जागै नींद खोइकै।
जागै कहै यह मेरौ तन मेरी सौंज,
ताहू झूठ मानत मरन थिति जोइकै ॥
जानै निज मरम मरन तब सूझै झूठ,
बूझै जब और अवतार रूप होइकै।

---

१ इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्रादि।

*एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥ ७ ॥

बाहू अवतारकी दसामें फिरि यहै पेच,
याही भांति झूठौ जग देख्यौ हम टोइकै॥१८

शब्दार्थ—सौंज=वस्तु। अवतार=जन्म। टोइकै=खोज करके।

अर्थ—जब जीव सोता है तब स्वप्नको सत्य मानता है, जब जागता है तब वह झूठा दिखता है और शरीर या धन सामग्रीको अपनी गिनता है। पश्चात् मृत्युका खयाल करता है तब उन्हें भी झूठी मानता है, जब अपने स्वरूपका विचार करता है तब मृत्यु भी असत्य दिखती है और दूसरा अवतार सत्य दिखता है। जब दूसरे अवतारपर विचार करता है तब फिर इसी चक्करमें पड जाता है, इस प्रकार खोजकर देखा तो यह जन्म मरणरूप सब संसार झूठ ही झूठ दिखता है ॥ १८ ॥

सम्यग्ज्ञानीका आचरण। सवैया इकतीसा।

पंडित विवेक लहि एकताकी टेक गहि,
दुंदज अवस्थाकी अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेटि,
निरविकलप ग्यान मनमें धरतु है॥
इंद्रियजनित सुख दुखसौं विमुख हैकै,
परमके रूप है करम निर्जरतु है।

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयत्किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥ ८ ॥

सहज समाधि साधि त्यागि परकी उपाधि,
आतम आराधि परमातम करतु है ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—टेक=हठ । दुंदज=अनेक कोटि । मेटि=हटाकर । समाधि=ध्यान । परकी उपाधि=राग द्वेष मोह ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव भेदविज्ञान प्राप्त करके एक आत्मा हीको ग्रहण करता है, देहादिसे ममत्वके नाना विकल्प छोड़ देता है । मति श्रुत अवधि इत्यादि क्षयोपशमिक भाव छोड़कर निरविकल्प केवलज्ञानको अपना स्वरूप जानता है, इन्द्रिय-जनित सुख दुखसे रुचि हटाकर शुद्ध आत्म अनुभव करके कर्मोंकी निर्जरा करता है और राग द्वेष मोहका त्याग करके उज्ज्वल ध्यानमें लीन होकर आत्माकी आराधना करके परमात्मा होता है ॥ १९ ॥

सम्यग्ज्ञानको समुद्रकी उपमा । सवैया इकतीसा ।

जाके उर अंतर निरंतर अनंत दर्व,
भाव भासि रहे पै सुभाव न टरतु है ।
निर्मलसौं निर्मल सु जीवन प्रगट जाके,
घटमैं अघट-रस कौतुक करतु है ॥

अच्छाच्छा स्वयमुच्छलन्ति यदिमा संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥ ९ ॥

जागै मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु,
पंचधा तरंगनि उमंगि उछरतु है।
सो है ग्यान उदधि उदार महिमा अपार,
निराधार एकमैं अनेकता धरतु है ॥ २० ॥

शब्दार्थ—अंतर=भीतर। अघेट=पूर्ण। औधि (अवधि)=द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थोंको एकदेश स्पष्ट जाननेवाला ज्ञान। पंचधा=पांच प्रकारकी। तरंगनि=लहरें। ज्ञान उदधि=ज्ञानका समुद्र। निराधार=स्वतंत्र।

अर्थ—जिस ज्ञानरूप समुद्रमें अनत द्रव्य अपने गुण पर्यायों सहित सदैव प्रतिविम्बित होते हैं पर वह उन द्रव्योंरूप नहीं होता और न अपने ज्ञायक स्वभावको छोडता है। वह अत्यन्त निर्मल जलरूप आत्मा प्रत्यक्ष है जो अपने पूर्ण रसमें मौज करता है तथा जिसमें मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाच प्रकारकी लहरें उठती हैं, जो महान है, जिसकी महिमा अपरपार है, जो निजाश्रित है वह ज्ञान एक है तो भी ज्ञेयोंको जाननेकी अनेकता लिये हुए है।

भावार्थ—यहां ज्ञानको समुद्रकी उपमा दी है। समुद्रमें रत्नादि अनत द्रव्य रहते हैं, ज्ञानमें भी अनंत द्रव्य प्रतिविम्बित होते हैं। समुद्र रत्नादिरूप नहीं हो जाता, ज्ञान भी ज्ञेयरूप नही होता। समुद्रका जल निर्मल रहता है, ज्ञान भी निर्मल रहता है। समुद्र परिपूर्ण रहता है, ज्ञान भी परिपूर्ण रहता है।

१ घट=कमती। अघट=कमती नहीं, संपूर्ण।

सहज समाधि साधि त्यागि परकी उपाधि,
आतम आराधि परमातम करतु है ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—टेक=हठ । दुंदज=अनेक कोटि । मेटि=हटाकर । समाधि=ध्यान । परकी उपाधि=राग द्वेष मोह ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव भेदविज्ञान प्राप्त करके एक आत्माहीको ग्रहण करता है, देहादिसे ममत्वके नाना विकल्प छोड़ देता है। मति श्रुत अवधि इत्यादि क्षयोपशमिक भाव छोडकर निरविकल्प केवलज्ञानको अपना स्वरूप जानता है, इन्द्रियजनित सुख दुखसे रुचि हटाकर शुद्ध आतम अनुभव करके कर्मोंकी निर्जरा करता है और राग द्वेष मोहका त्याग करके उज्ज्वल ध्यानमें लीन होकर आत्माकी आराधना करके परमात्मा होता है ॥ १९ ॥

सम्यग्ज्ञानको समुद्रकी उपमा। सवैया इकतीसा।

जाके उर अंतर निरंतर अनंत दर्व,
भाव भासि रहे पै सुभाव न टरतु है।
निर्मलसों निर्मल सु जीवन प्रगट जाके,
घटमें अघट-रस कौतुक करतु है ॥

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥ ९ ॥

जागै मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु,
पंचधा तरंगनि उमंगि उछरतु है।
सो है ग्यान उदधि उदार महिमा अपार,
निराधार एकमैं अनेकता धरतु है ॥ २० ॥

शब्दार्थ—अतर=भीतर। अघट[1]=पूर्ण। औधि (अवधि)=द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थोंको एकदेश स्पष्ट जाननेवाला ज्ञान। पंचधा=पांच प्रकारकी। तरगनि=लहरें। ज्ञान उदधि=ज्ञानका समुद्र। निराधार=स्वतंत्र।

अर्थ—जिस ज्ञानरूप समुद्रमें अनंत द्रव्य अपने गुण पर्यायों सहित सदैव प्रतिबिम्बित होते हैं पर वह उन द्रव्योंरूप नहीं होता और न अपने ज्ञायक स्वभावको छोडता है। वह अत्यन्त निर्मल जलरूप आत्मा प्रत्यक्ष है जो अपने पूर्ण रसमें मौज करता है तथा जिसमें मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाच प्रकारकी लहरें उठती हैं, जो महान है, जिसकी महिमा अपरपार है, जो निजाश्रित है वह ज्ञान एक है तो भी ज्ञेयोंको जाननेकी अनेकता लिये हुए है।

भावार्थ—यहा ज्ञानको समुद्रकी उपमा दी है। समुद्रमें रत्नादि अनत द्रव्य रहते हैं, ज्ञानमें भी अनत द्रव्य प्रतिबिम्बित होते हैं। समुद्र रत्नादिरूप नहीं हो जाता, ज्ञान भी ज्ञेयरूप नहीं होता। समुद्रका जल निर्मल रहता है, ज्ञान भी निर्मल रहता है। समुद्र परिपूर्ण रहता है, ज्ञान भी परिपूर्ण रहता है।

[1] घट=कमती। अघट=कमती नहीं, संपूर्ण।

समुद्रमें लहरें उठती हैं, ज्ञानमें भी मति श्रुत आदि तरंगें हैं। समुद्र महान होता है, ज्ञान भी महान होता है। समुद्र अपार होता है, ज्ञान भी अपार है। समुद्रका जल निराधार रहता है, ज्ञान भी निराधार है। समुद्र अपने स्वरूपकी अपेक्षा एक और तरंगोंकी अपेक्षा अनेक होता है, ज्ञान भी ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा एक और ज्ञेयोंको जाननेकी अपेक्षा अनेक होता है ॥२०॥

ज्ञान रहित क्रियासे मोक्ष नहीं होता। सवैया इकतीसा।

केई क्रूर कष्ट सहैं तपसौं सरीर दहैं,
धूम्रपान करैं अधोमुख हैकै झूले हैं।
केई महाव्रत गहैं क्रियामें मगन रहैं,
वहैं मुनिभार पै पयारकैसे पूले हैं॥
इत्यादिक जीवनकौं सर्वथा मुकति नाहि,
फिरैं जगमांहि ज्यौं बयारिके बघूले हैं।
जिन्हके हियेमैं ग्यान तिन्हिहीकौं निरवान,
करमके करतार भरममें भूले हैं॥ २१॥

---

१ समुद्रका पानी रत्नोंके ढेरके समान कचा मिला हुआ रहता है। परवाहा•

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥ १०॥

शब्दार्थ—केई=अनेक। मूर=मूर्ख। दहैं=जलावें। अधोमुख है=नीचेको सिर और ऊपरको पैर करके। पयारि=हवा। निरयान=मोक्ष।

अर्थ—अनेक मूर्ख कायक्लेश करते हैं, पचाग्नि तप आदिसे शरीरको जलाते हैं, गॉजा चरस आदि पीते हैं, नीचेको सिर और ऊपरको पैर करके लटकते हैं, महाव्रत ग्रहण करके तपाचरणमें लीन रहते हैं, परिषह आदिका कष्ट उठाते हैं, परन्तु ज्ञानके बिना उनकी यह सब क्रिया, कण रहित पयालके गड्ढेके समान निस्सार है। ऐसे जीवोंको कभी मुक्ति नहीं मिल सकती वे पवनके बघूलेके समान संसारमें भटकते हैं—कहीं ठिकाना नहीं पाते। जिनके हृदयमें सम्यग्ज्ञान है उन्हींको मोक्ष है, जो ज्ञानशून्य क्रिया करते हैं वे भ्रममें भूले हुए हैं ॥ २१ ॥

व्यवहार लीनताका परिणाम। दोहा।

लीन भयौ विवहारमें, उकति न उपजै कोइ ।
दीन भयौ प्रभुपद जपै, मुकति कहासौं होइ ?॥२२॥

शब्दार्थ—लीन=मग्न। उकति=भेदज्ञान। प्रभुपद जपै=भगवत चरण जपता है।

अर्थ—जो क्रियामें लीन है, भेदविज्ञानसे रहित है और दीन होकर भगवानके चरणोंको जपता है, और इसीसे मुक्तिकी इच्छा करता है सो आत्मानुभवके बिना मोक्ष कैसे मिल सकती है ? ॥ २२ ॥

पुन । दोहा।

प्रभु सुमरौ पूजौ पढ़ौ, करौ विविध विवहार ।
मोख सरूपी आतमा, ग्यानगम्य निरधार ॥ २३ ॥

परन्तु कम्बल ओढे हुए होनेसे उसे उनके डक नहीं लग सकते। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी जीव उदयकी उपाधि रहते हुए भी मोक्षमार्गको साधते हैं उन्हें ज्ञानका स्वाभाविक बख्तर प्राप्त है, इससे आनदमें रहते हैं—उपाधि जनित आकुलता नहीं व्यापती समाधिका काम देती है ।

भावार्थ—उदयकी उपाधि सम्यग्ज्ञानी जीवोंको निर्जरा हीके लिये है इससे वह उन्हे चारित्र और तपका काम देती है अत' उनकी उपाधि भी समाधि है ॥ ३५ ॥

ज्ञानी जीव सदा अबध है। दोहा।

*ग्यानी ग्यानमगन रहै, रागादिक मल खोइ।
चित उदास करनी करै, करम बध नहि होइ ॥३६॥

शब्दार्थ—मल=दोष। करनी=क्रिया।

अर्थ—ज्ञानी मनुष्य राग द्वेष मोह आदि दोषोंको हटाकर ज्ञानमें मस्त रहता है और शुभाशुभ क्रिया वैराग्य सहित करता है इससे उसे कर्म बध नहीं होता ॥ ३६ ॥

पुन

मोह महातम मल हरै, धरै सुमति परकास।
मुकति पथ परगट करै, दीपक ग्यान विलास ॥३७

शब्दार्थ—सुमति=अच्छी बुद्धि। मुक्ति पंथ=मोक्षमार्ग।

---

* ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यत स्यात्सर्वरागरसवर्जनशील ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ १७ ॥

अर्थ—ज्ञानरूपी दीपक मोहरूपी महा अंधकारका मल नष्ट करके सुबुद्धिका प्रकाश करता है और मोक्षमार्गको दरसाता है ॥ ३७ ॥

ज्ञानरूपी दीपककी प्रशंसा। सवैया इकतीसा।

जामें धूमको न लेस वातको न परवेस,
करम पतंगनिकौ नास करै पलमैं।
दसाकौ न भोग न सनेहकौ संजोग जामैं,
मोह अंधकारको वियोग जाके थलमैं॥
जामैं न तताई नहि राग रकताई रंच,
लहलहे समता समाधि जोग जलमैं।
ऐसी ग्यान दीपकी सिखा जगी अभंगरूप,
निराधार फुरी पै दुरी है पुदगलमैं ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—धूम=धुवाँ। वात=हवा। परवेस (प्रवेश)=पहुँच। दसा=बत्ती। सनेह (स्नेह)=चिकनाई (तेल आदि)। तताई=गर्मी। रकताई=ललाई। अभंग=अखंड। फुरी=स्फुरायमान हुई। दुरी=छुपी।

अर्थ—जिसमें किंचित भी धुवाँ नहीं है, जो हवाके झकोरोंसे बुझ नहीं सकता, जो एक क्षणभरमें कर्म पतंगोंको जला देता है, जिसमें बत्तीका भोग नहीं है, और न जिसमें घृत तेल आदि आवश्यक हैं, जो मोहरूपी अंधकारको मिटाता है, जिसमें किंचित भी आँच नहीं है, और न रागकी लालिमा है; जिसमें

समता समाधि और योग प्रकाशित रहते हैं वह ज्ञानकी अखंड ज्योति स्वयं सिद्ध आत्मामें स्फुरित हुई है–शरीरमें नहीं है॥२८॥

ज्ञानकी निर्मलतापर दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

जैसो जो दरव तामें तैसोई सुभाउ सधै,
कोऊ दर्व काहूको सुभाउ न गहतु है।
जैसें सख उज्जल विविध वर्न माटी भखै,
माटीसौ न दीसै नित उज्जल रहतु है॥
तैसें ग्यानवंत नाना भोग परिगह-जोग,
करत विलास न अग्यानता लहतु है।
ग्यानकला दूनी होइ दुंददसा सूनी होइ,
ऊनी होइ भौ-थिति बनारसी कहतु है॥२९॥

शब्दार्थ—दर्व (द्रव्य)=पदार्थ। भखै=खाता है। दुंददसा=भ्रान्ति। सूनी (शून्य)=अभाव। ऊनी=कमती।

अर्थ—प० बनारसीदासजी कहते हैं कि, जो पदार्थ जैसा होता है उसका वैसा ही स्वभाव होता है, कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थके स्वभावको ग्रहण नहीं कर सकता, जैसे कि शंख सफेद होता है और मिट्टी खाता है पर वह मिट्टी सरीखा नहीं

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवेत्सन्ततम्
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥ १८॥

हो जाता-हमेशा उजला ही रहता है, उसी प्रकार ज्ञानीलोग परिग्रहके संयोगसे अनेक भोग भोगते हैं पर वे अज्ञानी नहीं हो जाते। उनके ज्ञानकी किरण दिन दूनी बढ़ती है भ्रामक दशा मिट जाती है और भव स्थिति घट जाती है ॥ ३९ ॥

विषयवासनाओंसे विरक्त रहनेका उपदेश। सवैया इकतीसा।

जौलौं ग्यानकौ उदोत तौलौं नहि बंध होत,
बरतै मिथ्यात तब नाना बंध होहि है।
ऐसौ भेद सुनिकै लग्यौ तू विषै भोगनिसौं,
जोगनिसौं उद्दमकी रीति तैं बिछोहि है ॥
सुनु भैया संत तू कहै मैं समकितवंत,
यहु तौ एकंत भगवंतकौ दिरोहि है।
विषैसौं विमुख होहि अनुभौ दसा अरोहि,
मोख सुख टोहि तोहि ऐसी मति सोहि है ४०

शब्दार्थ—उदोत (उद्योत)=उजेला। जोग=संयम। बिछोहि है=छोड़ दी है उद्दम=प्रयत्न। दिरोहि (द्रोही)=वैरी (अहित करनेवाला)। अरोहि=ग्रहण करके। टोहि=देखकर। सोहि है=शोभा देती है।

ज्ञानिन् कर्म्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते
भुङ्क्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ॥ १९॥

अर्थ—हे भाई भव्य सुनो! जब तक ज्ञानका उजेला रहता है तब तक बंध नहीं होता और मिथ्यात्वके उदयमें अनेक बंध होते हैं ऐसी चरचा सुनकर तुम विषयभोगोंमें लग जावो तथा संयम ध्यान चारित्रको छोड देवो और अपनेको सम्यक्त्वी कहो तो तुम्हारा यह कहना एकान्त मिथ्यात्व है और आत्माका अहित करता है। विषयसुखसे विरक्त होकर आत्म अनुभव ग्रहण करके मोक्षसुखकी ओर देखो ऐसी बुद्धिमानी तुम्हें शोभा देगी।

भावार्थ—ज्ञानीको बंध नहीं होता ऐसा एकान्तपक्ष ग्रहण करके विषयसुखमें निरंकुश नहीं हो जाना चाहिये, मोक्षसुखकी ओर देखना चाहिये ॥ ४० ॥

ज्ञानी जीव विषयोंमें निरंकुश नहीं रहते। चौपाई।

ग्यानकला जिनके घट जागी।
ते जगमांहि सहज वैरागी।
ग्यानी मगन विषैसुखमांही।
यह विपरीति संभवै नांही ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिनके चित्तमें सम्यग्ज्ञानकी किरण प्रकाशित हुई है वे संसारमें स्वभावसे ही वीतरागी रहते हैं, ज्ञानी होकर विषयसुखमें आसक्त हों यह उलटी रीति असम्भव है ॥ ४१ ॥

ज्ञान और वैराग्य एक साथ ही होते हैं। दोहा।

ग्यान सकति वैराग्य बल, सिव साधै समकाल।
ज्यों लोचन न्यारे रहैं, निरखै दोउ नाल ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—नाल=एक साथ।

अर्थ—ज्ञान-वैराग्य एक साथ उपजनेसे सम्यग्दृष्टी जीव मोक्षमार्गको साधते हैं जैसे कि नेत्र पृथक-पृथक रहते है पर देखनेका काम एक साथ करते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार नेत्र पृथक पृथक होते हुए भी देखनेकी क्रिया एक साथ करते हैं, उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य एक ही साथ कर्म निर्जरा करते हैं। बिना ज्ञानका वैराग्य और बिना वैराग्यका ज्ञान मोक्षमार्ग साधनेमें असमर्थ है॥ ४२॥

अज्ञानी जीवोंकी क्रिया बंधके लिये और ज्ञानी जीवोंकी क्रिया निर्जराके लिये है। चौपाई।

मूढ़ करमको करता होवै।
फल अभिलाप धरै फल जोवै॥
ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी।
लगै न लेप निर्जरा दूनी॥ ४३॥

शब्दार्थ—जोवै=देखे। सूनी (शून्य)=रहित। लेप=बंध।

अर्थ—मिथ्यादृष्टी जीव क्रियाके फलकी (भोगोंकी) अभिलाषा करता है और उसका फल चाहता है इससे वह कर्म बंधका कर्ता है। सम्यग्ज्ञानी जीवोंकी भोग आदि शुभाशुभ

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।
ज्ञानं सस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः॥२०॥

क्रिया उदासीनता पूर्वक होती है इससे उन्हें कर्मका बंध नहीं होता और दिन दूनी निर्जरा ही होती है।

विशेष—यहां 'निर्जरा दूनी' यह पद कविताका प्रास मिलानेकी दृष्टिसे दिया है, सम्यग्दर्शन उपजे उपरान्त समय समय पर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥ ४३ ॥

ज्ञानीके अबंध और अज्ञानीके बंधपर कीटकका दृष्टान्त। दोहा।

बंधै करमसौं मूढ़ ज्यौं, पाट-कीट तन पेम।
खुलै करमसौं समकिती, गोरख धंधा जेम ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—पाट=रेशम। कीट=कीड़ा। जेम=जैसे।

अर्थ—जिस प्रकार रेशमका कीडा अपने शरीरपर आप ही जाल पूरता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव कर्मबंधनको प्राप्त होते हैं, और जिस प्रकार गोरखधंधा नामका कीड़ा जालसे निकलता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी जीव कर्मबन्धनसे मुक्त होते हैं ॥ ४४ ॥

ज्ञानीजीव कर्मके कर्ता नहीं हैं। सवैया तेईसा।

*जे निज पूरब कर्म उदै,
सुख भुंजत भोग उदास रहैंगे।
जे दुखमैं न विलाप करैं,
निरवैर हियैं तन ताप सहैंगे ॥

*त्यक्त येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
कि त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥२१॥

है जिन्हके दिढ़ आतम ग्यान,
क्रिया करिकें फलकों न चहेंगे ।
ते सु विचच्छन ग्यायक हैं,
तिन्हकौं करता हम तौ न कहेंगे ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—भुंजत=भोगते हुए । उदास=विरक्त । विलाप=हाय हाय करना । निरवैर=द्वेष रहित । ताप=कष्ट ।

अर्थ—जो पूर्वमें बाँधे हुए पुण्यकर्मके उदय जनित सुख भोगनेमें आसक्त नही होते और पापकर्मके उदय जनित दुख भोगते हुए सतापित नहीं होते—न दुःख देनेवालेसे द्वेषभाव करते हैं बल्कि साहसपूर्वक शारीरिक कष्ट सहते है, जिनका भेद-विज्ञान अत्यन्त दृढ है, जो शुभ क्रिया करके उसका फल स्वर्ग आदि नहीं चाहते, वे विद्वान सम्यग्ज्ञानी हैं । वे यद्यपि सासारिक सुख भोगते है तौ भी उन्हे कर्मका कर्ता हम तौ नहीं कहते ॥ ४५ ॥

सम्यग्ज्ञानीका विचार । सवैया इकतीसा ।

जिन्हकी सुदृष्टिमें अनिष्ट इष्ट दोऊ सम,
जिन्हको अचार सु विचार सुभ ध्यान है ।
स्वारथकों त्यागि जे लगे हैं परमारथकों,
जिन्हके वनिजमें न नफा है न ज्यान है ॥
जिन्हकी समुझिमें सरीर ऐसौ मानियत,
धानकौसो छीलक कृपानकौसो म्यान है ।

पारखी पदारथके साखी भ्रम भारथके,
तेई साधु तिनहीको जथारथ ग्यान है॥४६॥

शब्दार्थ—बनिज=व्योपार। ज्यान=जाना–टोटा या नुकसान। छीलक=छिलका। कृपान=तलवार। पारखी=परीक्षक। भारथ (भारत)=लड़ाई।

अर्थ—जिनकी ज्ञानदृष्टीमें इष्ट अनिष्ट दोनों समान हैं, जिनकी प्रवृत्ति और विचार शुभ ध्यानके लिये होती है, जो लौकिक प्रयोजन छोडकर सत्यमार्गमें चलते हैं, जिनके वचनका व्यवहार किसीको हानिकारक वा किसीको लाभकारक नहीं है[1], जिनकी सुबुद्धिमें शरीर धानके छिलके व तलवारके म्यानके समान आत्मासे जुदा गिना जाता है, जो जीव अजीव पदार्थोंके परीक्षक है, संशय आदि मिथ्यात्वकी खींचतानके जो मात्र ज्ञाता दृष्टा हैं वे ही साधु है और उन्हींको वास्तविक ज्ञान है॥४६॥

ज्ञानीकी निर्भयता। सवैया इकतीसा।

जमकोसो भ्राता दुखदाता है असाता कर्म,
ताके उदै मूरख न साहस गहतु है।

---

१ किसीकी भलाई बुराईमें नहीं पड़ते समता भाव रखते हैं।

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि॥२२॥

सुरगनिवासी भूमिवासी औ पतालवासी,
सबहीको तन मन कंपितु रहतु है ॥
उरको उजारो न्यारो देखिये सपत भैसौ,
डोलत निसंक भयौ आनंद लहतु है ।
सहज सुवीर जाको सासतो सरीर ऐसो,
ग्यानी जीव आरज आचारज कहतु है ४७

शब्दार्थ—भ्राता=भाई । साहस=हिम्मत । सुरग निवासी=देव । भूमिवासी=मनुष्य पशु आदि । पतालवासी=व्यंतर, भवनवासी, नारकी आदि । सपत (सप्त)=सात । भै (भय)=डर । सास्वत=कभी नाश नहीं होने वाला । आरज=पवित्र ।

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जो अत्यन्त दुखदाई है मानों जमका भाई ही है, जिससे स्वर्ग मध्य और पाताल त्रैलोक्यके जीवोंका तन मन काँपता रहता है, ऐसे असाता कर्मके उदयमें अज्ञानी जीव हत साहस हो जाता है । परन्तु ज्ञानी जीवके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश है, वह आत्मबलसे बलवान है, उसका ज्ञानरूपी शरीर अविनाशी है, वह परम पवित्र है, सप्त भयसे रहित निःशंकित डोलता है ॥ ४७ ॥

सप्त भयके नाम । दोहा ।

इहभव-भय परलोक-भय, मरन-वेदना-जात ।
अनरच्छा अनगुप्त-भय, अकस्मात-भय सात॥४८॥

प्रमागम क्षण भंगुर है। जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश है। जिसका सयोग है उसका वियोग है, और परिग्रह समूह जंजाल-के समान हैं। इस प्रकार चिंतवन करनेसे चित्तमें इस भवका भय नहीं उपजता। ज्ञानी लोग अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं ॥ ५० ॥

परभवका भय निवारण करनेका उपाय। छप्पय।

ग्यानचक्र मम लोक, जासु अवलोक मोख-सुख।
इतर लोक मम नांहि, नांहि जिसमांहि दोख दुख॥
पुन्न सुगतिदातार, पाप दुरगति पद-दायक।
दोऊ खडित खानि, मै अखडित सिवनायक॥
इहविधि विचार परलोक-भय,
नहि व्यापत वरतै सुखित।
ग्यानी निसक निकलक निज,
ग्यानरूप निरखत नित ॥ ५१ ॥

चिन्ता करना अनगुप्तभय है, अचानक ही कुछ विपत्ति न आ खडी हो ऐसी चिंता करना अकस्मातभय है। संसारमें ऐसे ये सात भय हैं ॥ ४९ ॥

इस भवके भय निवारणका उपाय। छप्पय।

नख सिख मित परवांन, ग्यान अवगाह निरक्खत।
आतम अंग अभंग संग, पर धन इम अक्खत॥
छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार-भार जसु।
जहां उतपति तहां प्रलय, जासु संजोग विरह तसु॥
परिगह प्रपंच परगट परखि,
इहभव भय उपजै न चित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥ ५०॥

शब्दार्थ—नख सिख=पैरसे सिरकी चोटी तक। निरक्खत= देखता है। अक्खत=जानता है। विभव=धन, सम्पत्ति। प्रलय=नाश। प्रपंच=जाल। परखि=देखकर।

अर्थ—आत्मा सिरसे पैर तक ज्ञानमयी है, नित्य है, शरीर आदि पर पदार्थ हैं, संसारका सब वैभव और कुटुम्बियोंका

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं य ल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥ २३॥

अर्थ—इहभवभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अनरक्षाभय, अनगुप्तभय और अकस्मातभय ये सात भय हैं ॥ ४८ ॥

सात भयका पृथक पृथक स्वरूप। सवैया इकतीसा।

दसधा परिग्रह-वियोग-चिंता इह भव,
दुर्गति-गमन भय परलोक मानिये।
प्राननिकौ हरन मरन-भै कहावै सोइ,
रोगादिक कष्ट यह वेदना बखानिये ॥
रच्छक हमारौ कोऊ नांही अनरच्छा भय,
चोर-भै विचार अनगुप्त मन आनिये।
अनचिंत्यौ अबही अचानक कहाधौं होइ,
ऐसौ भय अकस्मात जगतमैं जानिये ॥४९

शब्दार्थ—दसधा=दस प्रकारका। वियोग=छूटना। चिंता=फिकर। दुर्गति=खोटी गति। अनगुप्त=चोर।

अर्थ—क्षेत्र वास्तु आदि दस प्रकारके परिग्रहका वियोग होनेकी चिंता करना इस भवका भय है, कुगतिमें जन्म होनेका डर मानना परलोकभय है, दस प्रकारके प्राणोंका वियोग हो जानेका डर मानना मरणभय है, रोग आदि दुख होनेका डर मानना वेदनाभय है, कोई हमारा रक्षक नहीं ऐसी चिंता करना अनरक्षाभय है, चोर व दुश्मन आवे तो कैसे बचेंगे ऐसी

१ गुप्त=साहूकार अनगुप्त=चोर।

२ क्षेत्र, वास्तु, चांदी, सुवर्ण धन, धान्य, दासी दास, कुप्य और भांड।

चिन्ता करना अनगुप्तभय है, अचानक ही कुछ विपत्ति न आ खड़ी हो ऐसी चिंता करना अकस्मातभय है। संसारमें ऐसे ये सात भय हैं ॥ ४९ ॥

इस भवके भय निवारणका उपाय। छप्पय।

नख सिख मित परवांन, ग्यान अवगाह निरक्खत।
आतम अंग अभंग संग, पर धन इम अक्खत ॥
छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार-भार जसु।
जहां उतपति तहां प्रलय, जासु संजोग विरह तसु ॥
परिगह प्रपंच परगट परखि,
इहभव भय उपजै न चित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—नख सिख=पैरसे सिरकी चोटी तक। निरक्खत= देखता है। अक्खत=जानता है। विभव=धन, सम्पत्ति। प्रलय=नाश। प्रपंच=जाल। परखि=देखकर।

अर्थ—आत्मा सिरसे पैर तक ज्ञानमयी है, नित्य है, शरीर आदि पर पदार्थ हैं, संसारका सब वैभव और कुटुम्बियोंका

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येककः ।
लोकोयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भी कुतो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २३ ॥

समागम क्षण भगुर है। जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश है। जिसका सयोग है उसका वियोग है, और परिग्रह समूह जंजाल-के समान हैं। इस प्रकार चिंतवन करनेसे चित्तमें इस भवका भय नहीं उपजता। ज्ञानी लोग अपने आत्माको सदा निष्कलक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशक रहते हैं॥ ५०॥

परभवका भय निवारण करनेका उपाय। छप्पय।

ग्यानचक्र मम लोक, जासु अवलोक मोख-सुख।
इतर लोक मम नांहि, नांहि जिसमांहि दोख दुख॥
पुन्न सुगतिदातार, पाप दुरगति पद-दायक।
दोऊ खडित खानि, मैं अखडित सिवनायक॥
इहविधि विचार परलोक-भय,
नहि व्यापत वरतै सुखित।
ग्यानी निसक निकलक निज,
ग्यानरूप निरखत नित॥ ५१॥

शब्दार्थ—इतर=दूसरा। खडित=नाशवान। अखडित=अविनाशी। सिवनायक=मोक्षका राजा।

अर्थ—ज्ञानका पिण्ड आत्मा ही हमारा लोक है, जिसमें मोक्षका सुख मिलता है। जिसमें दोष और दुःख हैं ऐसे स्वर्ग आदि अन्य लोक मेरे नहीं हैं! नहीं हैं!! सुगतिका दाता पुण्य और दुखदायक दुर्गतिपदका दाता पाप है, सो दोनोंही नाशवान

है और मैं अविनाशी हूँ—मोक्षपुरीका बादशाह हूँ। ऐसा विचार करनेसे परलोकका भय नहीं सताता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं॥ ५१॥

मरणका भय निवारण करनेका उपाय। छप्पय।

फरस जीभ नासिका, नैन अरु श्रवन अच्छ इति।
मन वच तन बल तीन, स्वास उस्वास आउ-थिति॥
ये दस प्रान-विनास, ताहि जग मरन कहिज्जइ।
ग्यान-प्रान संजुगत, जीव तिहुं काल न छिज्जइ॥
यह चित करत नहि मरन भय,
नय-प्रवान जिनवरकथित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखत नित॥ ५२॥

शब्दार्थ—फरस=स्पर्श। नासिका=नाक। नैन=नेत्र। श्रवन=कान। अच्छ (अक्ष)=इन्द्रिय। संजुगत=सहित। कथित=कहा हुआ।

अर्थ—स्पर्श, जीभ, नाक, नेत्र और कान ये पाँच इन्द्रिया, मन, वचन, काय ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु इन दस

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥ २७॥

प्राणोंके वियोगको लोकमें लोग मरण कहते हैं; परन्तु आत्मा ज्ञानप्राण संयुक्त है वह तीनकालमें कभी भी नाश होनेवाला नहीं है। इस प्रकार जिनराजका कहा हुआ नय प्रमाण सहित तत्त्वस्वरूप चिंतवन करनेसे मरणका भय नहीं उपजता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं ॥ ५२ ॥

वेदनाका भय निवारण करनेका उपाय। छप्पय।

वेदनवारौ जीव, जांहि वेदत सोउ जिय।
यह वेदना अभंग, सु तौ मम अंग नाहि बिय ॥
करम वेदना दुविध, एक सुखमय दुतीय दुख।
दोऊ मोह विकार, पुग्गलाकार बहिरमुख ॥
जब यह विवेक मनमहिं धरत,
तब न वेदनाभय विदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखत नित ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—वेदनवारौ=जाननेवाला। अभंग=अखंड। बिय= व्यापता। बहिरमुख=बाह्य।

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदाऽनाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २४ ॥

अर्थ—जीव ज्ञानी है और ज्ञान जीवका अभंग अंग है, मेरे ज्ञानरूप अंगमें जड़ कर्मोंकी वेदनाका प्रवेश ही नहीं हो सकता। दोनों प्रकारका सुख दुखरूप कर्म अनुभव मोहका विकार है, पौद्गलिक है और आत्मासे बाह्य है। इस प्रकारका विवेक जब मनमें आता है तब वेदना जनित भय विदित नहीं होता। ज्ञानी पुरुष अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं ॥ ५३ ॥

अनरक्षाका भय निवारण करनेका उपाय । छप्पय ।

जो स्ववस्तु सत्तासरूप जगमहि त्रिकालगत ।
तासु विनास न होइ, सहज निहचै प्रवांन मत ॥
सो मम आतम दरव, सरवथा नहि सहाय धर ।
तिहि कारन रच्छक न होइ, भच्छक न कोइ पर ॥
जब इहि प्रकार निरधार किय,
तब अनरच्छा-भय नसित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित ॥ ५४

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—स्ववस्तु=आत्मपदार्थ। रच्छक (रक्षक)=बचानेवाला। भच्छक=नाश करनेवाला। निरधार=निश्चय।

अर्थ—सत्स्वरूप आत्मवस्तु जगतमे सदा नित्य है उसका कभी नाश नहीं हो सकता, यह बात निश्चयनयसे निश्चित है। सो मेरा आत्मपदार्थ कभी किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता, इससे आत्माका न कोई रक्षक है न कोई भक्षक है। इस प्रकार जब निश्चय हो जाता है तब अनरक्षा भयका अभाव हो जाता है। ज्ञानीलोग अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे नि शक रहते हैं ॥५४॥

चोर भय निवारण करनेका उपाय। छप्पय।

परम रूप परतच्छ, जासु लच्छन चिन्मडित।
पर प्रवेस तहां नांहि, मांहि महि अगम अखडित॥
सो ममरूप अनूप, अकृत अनमित अटूट धन।
ताहि चौर किम गहै, ठौर नहि लहै और जन॥
चितवत एम धरि ध्यान जब,
तब अगुप्त भय उपसमित।
ग्यानी निसक निकलक निज,
ग्यानरूप निरखत नित॥ ५५॥

स्व रूप किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्ति स्वरूपेण य-
च्छक्त कोऽपि पर प्रवेष्टुमकृत ज्ञान स्वरूप च नु।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
नि शङ्क सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति॥ २६॥

शब्दार्थ—परतच्छ (प्रत्यक्ष)=साक्षात्। प्रवेश=पहुँच। महि=पृथ्वी। अकृत=स्वयसिद्ध। अनमित=अपार। अटूट=अक्षय। ठौर=स्थान। अगुत=चोर। उपसमित=नहीं रहता, छूट जाता है।

अर्थ—आत्मा साक्षात् परमात्मारूप है, ज्ञान लक्षणसे विभूषित है, उसकी अगम्य और नित्य भूमिपर परद्रव्यका प्रवेश नहीं है। इससे मेरा धन अनुपम, स्वय सिद्ध, अपरपार और अक्षय है, उसे चोर कैसे ले सकता है? दूसरे मनुष्यके पहुँचनेको उसमे स्थान ही नहीं है। जब ऐसा चिंतवन किया जाता है तब अनगुप्त भय नहीं रहता। ग्यानीलोग अपने आत्माको सदा निष्कलक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते है ॥ ५५ ॥

अकस्मात भय निवारण करनेका उपाय। छप्पय।

सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम।
अलख अनादि अनत, अतुल अविचल सरूप मम॥
चिदविलास परगास, वीत-विकलप सुखथानक।
जहां दुविधा नहि कोइ, होइ तहां कछु न अचानक॥
जब यह विचार उपजंत तब,
अकस्मात भय नहि उदित।

१ इन्द्रिय और मनके अगोचर।

एक ज्ञानमनाद्यनन्तमचल सिद्ध किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिद सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदय।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
नि शङ्कः सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥ २८ ॥

ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखत नित ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ—सुद्ध=कर्म कलंक रहित। बुद्ध=केवलज्ञानी। अविरुद्ध=वीतराग। समृद्ध=वैभवशाली। अलख=अरूपी। अतुल=उपमा रहित। वीत विकल्प=निर्विकल्प।

अर्थ—मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञान तथा वीतराग भावमय है और सिद्ध भगवानके समान समृद्धशाली है। मेरा स्वरूप अरूपी, अनादि, अनंत, अनुपम, नित्य, चैतन्यज्योति, निर्विकल्प, आनंदकंद और निर्द्वंद्व है। उसपर कोई आकस्मिक घटना नहीं हो सकती, जब इस प्रकारका भाव उपजता है तब अकस्मात भय उदय नहीं होता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं॥ ५६ ॥

सम्यग्ज्ञानी जीवोंको नमस्कार। छप्पय।

जो परगुन त्यागत, सुद्ध निज गुन गहत धुव।
विमल ग्यान अंकूर, जासु घटमहि प्रकास हुव॥
जो पूरव कृतकर्म, निरजरा-धार बहावत।
जो नव बंध निरोध, मोख मारग-मुख धावत॥

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन् पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव॥ २९ ॥

निःसंकतादि जस अष्ट गुन,
अष्ट कर्म अरि संहरत।
सो पुरुष विचच्छन तासु पद,
बानारसी वंदन करत ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ— ध्रुव (ध्रुव)=नित्य। धार=प्रवाह। निरोध=रोककर। मोख मारग मुख=मोक्षमार्गकी ओर। धावत=दौड़ते हैं। संहरत=नष्ट करते हैं।

अर्थ—जो परद्रव्यसे आत्मबुद्धि छोड़कर निज स्वरूपको ग्रहण करते हैं, जिनके हृदयमें निर्मल ज्ञानका अंकुर प्रगट हुआ है, जो निर्जराके प्रवाहमें पूर्वकृत कर्मोंको बहा देते हैं, और नवीन कर्म बंधका संवर करके मोक्षमार्गके सन्मुख हुए हैं, जिनके निःशंकतादि गुण अष्ट कर्मरूप शत्रुओंको नष्ट करते हैं, वे सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं। उन्हें पं० बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ ५७ ॥

सम्यग्दर्शनके अष्ट अंगोंके नाम। सोरठा।

प्रथम निससै जानि, दुतिय अवंछित परिनमन।
तृतिय अंग अगिलानि, निर्मल दिष्टि चतुर्थ गुन ५८
पंच अकथ परदोष, थिरीकरन छट्ठम सहज।
सत्तम वच्छल पोष, अष्टम अंग प्रभावना ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ—निससै (निःसंशय) निःशंकित। अवंछित=वाञ्छा रहित, निःकांक्षित। अगिलानि=ग्लानि रहित, निर्विचिकित्सित। निर्मल

दिट्टि=यथार्थ विवेक, अमूढ़दृष्टि। अपय परदोष=दूसरोंके दोष नहीं कहना, उपगूहन। थिरीकरन=स्थिर करना, स्थितिकरण, वासउ=वात्सल्य, प्रेम।

अर्थ—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं॥ ५८॥ ५९॥

सम्यक्त्वके आठ अंगोंका स्वरूप। सवैया इकतीसा।

धर्ममें न संसै सुभकर्म फलकी न इच्छा,
अशुभको देखि न गिलानि आने चितमें।
सांचि दिष्टि राखे काहू प्रानीको न दोष भाखे,
चचलता भानि थिति ठाने बोध वितमें॥
प्यार निज रूपसों उछाहकी तरंग उठे,
एई आठों अंग जब जागे समकितमें।
ताहि समकितकों धरे सो समकितवंत,
वहे मोख पावे जो न आवे फिरि इतमें॥६०॥

शब्दार्थ—संसै=सन्देह। भानि=नष्ट करके। थिति ठाने=स्थिर करे। बोधि=रत्नत्रय। तरंग=लहर। इतमें=यहां (संसारमें)।

अर्थ—स्वरूपमें सन्देह नहीं करना निःशंकित अंग है, शुभ क्रिया करके उसके [illegible] नहीं करना निःकांक्षित अंग है, दुखदायक [illegible] करना निर्विचि-

कित्सा अंग है, मूर्खता त्यागकर तत्त्वका यथार्थ निर्णय करना अमूढदृष्टि अग है, दूसरोंके दोष प्रगट नही करना उपगूहन अग है, चित्तकी चचलता हटाकर रत्नत्रयमें स्थिर होना स्थितिकरण अंग है, आत्म स्वरूपमे अनुराग रखना वात्सल्य अग है, आत्म उन्नत्तिके लिये उत्साहित रहना प्रभावना अग है, इन आठ अगों-का प्रगट होना सम्यक्त्व है, उस सम्यक्त्वको जो धारण करता है वह सम्यग्दृष्टी है, सम्यग्दृष्टी ही मोक्ष पाता है और फिर इस ससारमे नही जाता।

विशेष—जिस प्रकार शरीरके आठ अग होते हैं और वे अपने अगी अर्थात् शरीरसे पृथक नही होते और न शरीर उन अंगोंसे पृथक होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके निःशकित आदि आठ अग होते है और वे अपने अगी अर्थात् सम्यग्दर्शनसे पृथक नहीं होते और न सम्यग्दर्शन अष्ट अगोंसे निराला होता है—आठों अगोंका समुदाय ही सम्यग्दर्शन है ॥ ६० ॥

चैतन्य नटका नाटक। सवैया इकतीसा।

पूर्व बंध नासै सो तो संगीत कला प्रकासै,
नव बंध रुंधि ताल तोरत उछरिकै।

---

१ सिर नितंब उर पीठ कर, जुगल जुगल पद टेक।
आठ अग ये तन विषै, और उपग अनेक ॥

रुन्धन् बन्ध नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥ ३० ॥

इति निर्जरा निष्क्रान्ता ॥ ७ ॥

निसकित आदि अष्ट अग संग सखा जोरि,
समता अलाप चारी करे सुर भरिकै ॥
निरजरा नाद गाजे ध्यान मिरदग बाजे,
छक्यौ महानदमें समाधि रीझि करिकै ।
सत्ता रगभूमिमें मुकत भयौ तिहू काल,
नाचै सुद्धदिष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकै ।६१।

शब्दार्थ—सगीत=गायन । सखा=साथी । नाद=ध्वनि । छक्यौ=लीन हुआ । महानद=बड़ा हृप । रंगभूमि=नाट्यशाला ।

अर्थ—सम्यग्दष्टी रूपी नट, ज्ञानका स्वाँग बनाकर सत्तारूप रगभूमिपर मोक्ष होनेके लिये सदा नृत्य करता है, पूर्वबधका नाश उसकी गायन विद्या है, नवीन बधका सवर मानों उसका ताल तोड़ना है, नि शकित आदि आठ अग उसके सहचारी हैं, समताका अलाप स्वरोंका उच्चारण है, निर्जराकी ध्वनि हो रही है, ध्यानका मृदग बजता है, समाधिरूप गायनमें लीन होकर बड़े आनदमें मस्त है ॥ ६१ ॥

सातवें अधिकारका सार ।

ससारी जीव अनादि कालसे अपने स्वरूपको भूले हुए हैं इस कारण प्रथम तो उन्हें आत्म हित करनेकी भावना ही नहीं होती, यदि कभी इस विषयमें उद्योग भी करते हैं तो सत्यमार्ग नहीं मिलनेसे बहुधा व्यवहारमें लीन होकर ससारको ही बढाते हैं और अनत कर्मोंका बध करते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञानकी खूटी-का सहारा मिलनेपर ग्रहस्थ मार्ग और परिग्रह सग्रहकी उपाधि

रहनेपर भी जीव ससारकी चक्कीमें नहीं पिसता और दूसरोंको जगज्जालसे छूटनेका रास्ता वतलाता है। इसलिये मुक्तिका उपाय ज्ञान है, बाह्य आडंबर नहीं। और ज्ञानके विना संपूर्ण क्रिया बोझा ही है, कर्मका बध अज्ञानकी दशामें ही होता है। जिस प्रकार कि रेशमका कीड़ा अपने आप ही अपने ऊपर जाल पूरता है उसी प्रकार अज्ञानी अपने आप ही शरीर आदिसे अहबुद्धि करके अपने ऊपर अनंत कर्मोंका बध करते है, पर ज्ञानी लोग सम्पत्तिमें हर्ष नहीं करते, विपत्तिमें विषाद नहीं करते, सम्पत्ति और विपत्तिको कर्मजनित जानते है इसलिये उन्हे ससारमें न कोई पदार्थ सम्पत्ति है न कोई पदार्थ विपत्ति है वे तो ज्ञान वैराग्यमें मस्त रहते हैं । उनके लिये ससारमें अपने आत्माके सिवाय और कोई भी पदार्थ ऐसा नही है जिससे वे राग करें और न ससारमें कोई ऐसा पदार्थ है जिससे वे द्वेष करें । उनकी क्रिया फलकी इच्छा रहित होती है इससे उन्ह कर्म बध नही होता, क्षण क्षणपर असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। उन्हे शुभ अशुभ, इष्ट अनिष्ट दोनो एकसे हैं अथवा ससारमे उन्हे कोई पदार्थ न तो इष्ट है न अनिष्ट है। फिर रागद्वेष किससे करेंगे ? किससे संयोग वियोगमें लाभ हानि गिनेंगे ? इससे विवेकवान जीव लोगोंके देखनेमें सघन हो चाहे निर्धन हो वे तो आनदहीमें रहते हैं। जब उन्होंने पदार्थका स्वरूप समझ लिया और अपने आत्माको नित्य और निराबाध जान लिया तो उनके चित्तपर सप्त प्रकारका भय नहीं उपजता और उनका अष्टाग सम्यग्दर्शन निर्मल होता है जिससे अनत कर्मोंकी निर्जरा होती है ।

(८)

प्रतिज्ञा। दोहा।

कही निरजराकी कथा, सिवपथ साधनहार।
अब कछु बंध प्रबंधकौ, कहूं अलप विस्तार ॥१॥

शब्दार्थ—सिवपथ=मोक्ष मार्ग। अलप=थोड़ा।

अर्थ—मोक्षमार्ग सिद्ध करनेवाले निर्जरा तत्त्वका कथन किया अब बंधका व्याख्यान कुछ विस्तार करके कहता हूँ ॥ १ ॥

मंगलाचरण। सवैया इकतीसा।

मोह मद पाइ जिनि संसारी विकल कीनें,
याहीतें अजानुवाहु विरद विहतु है।
ऐसौ बंध-वीर विकराल महा जाल सम,
ग्यान मंद करै चंद राहु ज्यौं गहतु है॥
ताकौ बल भंजिवेकौ घटमैं प्रगट भयौ,
उद्धत उदार जाकौ उद्दिम महतु है।
सो है समकित सूर आनंद-अंकूर ताहि,
निरखि बनारसी नमो नमो कहतु है॥२॥

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभारनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत्।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयत्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥ १ ॥

शब्दार्थ—पाइ=पिलाकर। विकल=दुखी। बिरद=नामवरी। अजानुबाहु (आजानुबाहु)=घुटने तक जिसकी लम्बी भुजायें हैं। भंजिवेकौं=नष्ट करनेके लिये। उद्धत=बलवान। उदार=महान। नमो नमो (नम नम)=नमस्कार नमस्कार।

अर्थ—जिसने मोहकी शराब पिलाकर संसारी जीवोंको व्याकुल कर डाला है, जिसकी घुटनेतक लम्बी भुजायें हैं ऐसी संसारमें प्रसिद्धि है, जो महाजालके समान है, और जो ज्ञानरूपी चन्द्रमाको प्रभा रहित करनेके लिये राहुके सदृश है। ऐसे बंधरूप भयकर योद्धाका बल नष्ट करनेके लिये जो हृदयमें उत्पन्न हुआ है, जो बहुत बलवान महान और पुरुषार्थी है; ऐसे आनंदमय सम्यक्त्वरूपी योद्धाको पंडित बनारसीदासजी बार बार नमस्कार करते हैं॥ २॥

ज्ञान चेतना और कर्म चेतनाका वर्णन। सवैया इकतीसा।

जहां परमातम कलाकौ परकास तहां,
धरम धरामैं सत्य सूरजकी धूप है।
जहां सुभ असुभ करमकौ गढास तहां,
मोहके विलासमैं महा अंधेर कूप है॥
फैली फिरै घटासी छटासी घन-घटा बीचि,
चेतनकी चेतना दुहूंधा गुपचूप है।
बुद्धिसौं न गही जाइ वैनसौं न कही जाइ,
पानीकी तरंग जैसैं पानीमैं गुडूप है॥ ३॥

शब्दार्थ—उद्दिमी=पुरुषार्थी। बखान्यौ=कहा। बैन=वचन। निरदै=कठोर। न सँभारे (न सम्हाले)=असावधान रहे। सैन (शयन)= निद्रा।

अर्थ—स्वरूपकी सम्हाल और भोगोंका अनुराग ये दोनों बातें एक साथ ही जैनधर्ममें नहीं हो सकतीं, इससे यद्यपि सम्यग्ज्ञानी वर्गणा, योग, हिंसा और भोगोंसे अबंध है तो भी उन्हें पुरुषार्थ करनेके लिये जिनराजकी आज्ञा है। वे शक्ति अनुसार पुरुषार्थ करते हैं पर फलकी अभिलाषा नहीं करते और हृदयमें सदा दयाभाव रखते हैं, निर्दय नहीं होते। प्रमाद और पुरुषार्थ हीनता तो मिथ्यात्व दशाहीमें होती है जहाँ जीव मोह-निद्रासे अचेत रहता है, सम्यक्त्व भावमें पुरुषार्थ हीनता नहीं है॥ ६॥

उदयकी प्रबलता। दोहा।

जब जाकौं जैसौ उदै, तब सो है तिहि थान।
सकति मरोरै जीवकी, उदै महा बलवान॥ ७॥

शब्दार्थ—जाकौं=जिसका। थान=स्थान। उदै (उदय)= कर्म विपाक।

अर्थ—जब जिस जीवका जैसा उदय होता है तब वह जीव उसी माफिक वर्तता है। कर्मका उदय बहुत ही प्रबल होता है वह जीवकी शक्तियोंको कुचल डालता है और उसे अपने उदयके अनुकूल परिणमाता है॥ ७॥

उदयकी प्रबलतापर दृष्टान्त । सवैया इकतीसा ।

जैसैं गजराज पर्यो कर्दमके कुंडवीच,
उद्दिम अहूटे पै न छूटे दुख-दंदसौं ।
जैसैं लोह-कंटककी कोरसौं उरझ्यो मीन,
ऐंचत असाता लहै साता लहै संदसौं ॥
जैसैं महाताप सिर वाहिसौं गरास्यौ नर,
तकै निज काज उठि सकै न सुछंदसौं ।
तैसैं ग्यानवंत सब जानै न बसाइ कछू,
बंध्यौ फिरै पूरब करम-फल-फंदसौं ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—गजराज=हाथी । कर्दम=कीचड़ । कटक=काँटा । कोर=अनी । उरझ्यो=फँसा हुआ । मीन=मछली । संद=साँसर ।

अर्थ—जिस प्रकार कीचड़के गड्ढेमें पड़ा हुआ हाथी अनेक चेष्टाएँ करनेपर भी दुखसे नहीं छूटता, जिस प्रकार लोह-कटकमें फँसी हुई मछली दुख पाती है—निकल नहीं सकती, जिस प्रकार तेज बुखार और मस्तक शूलमें पड़ा हुआ मनुष्य अपना कार्य करनेके लिये स्वाधीनतापूर्वक नहीं उठ सकता, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव जानते सब हैं परन्तु पूर्व उपार्जित कर्मोदयके फंदेमें फँसे हुए होनेसे उनका कुछ वश नहीं चलता अर्थात् व्रत संयम आदि ग्रहण नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

मोक्षमार्गमें अज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और ज्ञानी पुरुषार्थी होते हैं। चौपाई।

जे जिय मोह नींदमें सोवें।
ते आलसी निरुद्दिम होवें॥
द्रिष्टि खोलि जे जगे प्रवीना।
तिनि आलस तजि उद्दिम कीना॥९॥

शब्दार्थ—निरुद्दिम=पुरुषार्थहीन। प्रवीना=पंडित।

अर्थ—जो जीव मिथ्यात्वकी निद्रामें सोते रहते हैं वे मोक्ष मार्गमें प्रमादी वा पुरुषार्थ हीन होते हैं और जो विद्वान् ज्ञान नेत्र उघाडकर जाग्रत हुए हैं वे प्रमाद छोडकर मोक्षमार्गमें पुरुषार्थ करते हैं॥ ९॥

ज्ञानी और अज्ञानीकी परणतिपर दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

काच बांधे सिरसों सुमनि बांधे पाइनिसों,
जानै न गवार कैसी मनि कैसो काच है।
यौंही मूढ झूठमें मगन झूठहीको दौरे,
झूठीवात मानै पै न जानै कहा साच है॥
मनिको परखि जानै जौंहरी जगत मांहि,
साचकी समुझि ग्यान लोचनकी जाच है।
जहांको जु वासी सो तौ तहाको मरम जानै,
जाको जैसो स्वांग ताकौ ताही रूप नाच है१०

शब्दार्थ—सिर=माथा। सुमनि=रत्न। पाइनिसौं=पैरोंसे। परखि=परीक्षा। लोचन=नेत्र। स्वाग=त्रेष।

अर्थ—जिस प्रकार विवेक हीन मनुष्य माथेमें काँच और पैरमें रत्न पहिनता है वह काँच और रत्नका मूल्य नहीं समझता, उसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव अतत्त्वमें मग्न रहता है और अतत्त्वहीको ग्रहण करता है, वह सत् असत्को नहीं जानता। संसारमें हीराकी परीक्षा जौंहरी ही जानते हैं, साँच झूठकी पहिचान मात्र ज्ञानदृष्टिसे होती है। जो जिस अवस्थाका रहनेवाला है वह उसीको भली जानता है और जिसका जैसा स्वरूप है वह वैसीही परणति करता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्यात्वहीको ग्राह्य समझता है और उसे अपनाता है तथा सम्यक्त्वी सम्यक्त्वको ही ग्राह्य जानता है वा उसे अपनाता है।

भावार्थ—जौंहरी मणिको परीक्षा करके लेता है और काँचको काँच जानकर उसकी कदर नहीं करता, पर मूर्खलोग काँचको हीरा और हीराको काँच समझकर काँचकी कदर और हीराका अनादर करते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वीका हाल रहता है अर्थात् मिथ्यादृष्टी जीव अतत्त्वहीको तत्त्व श्रद्धान करता है और सम्यक्त्वी जीव पदार्थका यथार्थ स्वरूप ग्रहण करता है॥ १०॥

जैसी क्रिया तैसा फल। दोहा।

बंध बढ़ावै अंध है, ते आलसी अजान।
मुकति हेतु करनी करैं, ते नर उद्दिमवान॥११॥

शब्दार्थ—अंध=विवेक हीन। आलसी=प्रमादी। अजान (अज्ञान) =अज्ञानी। उदिमवान=पुरुषार्थी।

अर्थ—जो विवेक हीन होकर कर्मकी बंध परंपरा बढ़ाते हैं वे अज्ञानी तथा प्रमादी हैं और जो मोक्ष पानेका प्रयत्न करते हैं वे पुरुषार्थी हैं ॥ ११ ॥

जबतक ज्ञान है तब तक वैराग्य है। सवैया इकतीसा।

जबलग जीव सुद्धवस्तुकौं विचारै ध्यावै,
तबलग भोगसौं उदासी सरवंग है।
भोगमैं मगन तब ग्यानकी जगन नांहि,
भोग-अभिलापकी दसा मिथ्यात अंग है।
तातैं विषै-भोगमैं मगन सो मिथ्याती जीव,
भोगसौं उदास सो समकिती अभंग है।
ऐसी जानि भोगसौं उदास ह्वै मुकति साधै,
यहै मन चंग तौ कठौती मांहि गंग है॥१२॥

शब्दार्थ—उदासी=विरक्त। सरवंग=बिलकुल। जगन=उदय। अभिलाष=इच्छा। मुकति (मुक्ति)=मोक्ष। चंग (चंगो)=पवित्र। कठौती=काष्ठका एक बर्तन (काठकी हौदी)।

१ यह [illegible] (गुरुमुखी) भाषामें प्रचलित है।

[illegible]चिकी स: स न करोति करोति यस्तु
[illegible]त्यय न खलु तत्किल कर्मरागः।
[illegible]ो ज[illegible]बोधमयमध्यवसायमाहु
[illegible]मिथ्यादृशः स नियतं स च बंधहेतुः ॥ ५ ॥

अर्थ—जब तक जीवका विचार शुद्ध वस्तुमें रमता है तब तक वह भोगोंसे सर्वथा विरक्त रहता है और जब भोगोंमें लीन होता है तब ज्ञानका उदय नहीं रहता, क्योंकि भोगोंकी इच्छा अज्ञानका रूप है। इससे स्पष्ट है कि जो जीव भोगोंमें मग्न होता है वह मिथ्यात्वी है और जो भोगोंसे विरक्त है वह सम्यग्दृष्टी है। ऐसा जानकर भोगोंसे विरक्त होकर मोक्षका साधन करो! यदि मन पवित्र है तो कठौतीके जलमें नहाना ही गंगा स्नानके समान है और यदि मन, मिथ्यात्व विषय कषाय आदिसे मलीन है तो गंगा आदि करोड़ों तीर्थोंके स्नानसे भी आत्मामें पवित्रता नहीं आती ॥ १२ ॥

चार पुरुषार्थ। दोहा।

धरम अरथ अरु काम सिव, पुरुषारथ चतुरंग।
कुधी कलपना गहि रहै, सुधी गहै सरवंग ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—पुरुषारथ=उत्तम पदार्थ। चतुरंग=चार। कुधी=मूर्ख। सुधी=ज्ञानी। सरवंग (सर्वांग)=पूरा।

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये पुरुषार्थके चार अंग हैं। उन्हें दुर्बुद्धी जीव मन चाहे ग्रहण करते हैं और सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव सम्पूर्णतया वास्तविक रूपसे अंगीकार करते हैं॥१३॥

चार पुरुषार्थोंपर ज्ञानी और अज्ञानीका विचार। सवैया इकतीसा।

कुलकौ आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पंडित धरम कहै वस्तुके सुभाउकौं।

शब्दार्थ—अध=विवेक हीन। आलसी=प्रमादी। अजान (अज्ञान) =अज्ञानी। उदिमवान=पुरुषार्थी।

अर्थ—जो विवेक हीन होकर कर्मकी बंध परंपरा बढ़ाते हैं वे अज्ञानी तथा प्रमादी हैं और जो मोक्ष पानेका प्रयत्न करते हैं वे पुरुषार्थी हैं ॥ ११ ॥

जबतक ज्ञान है तब तक वैराग्य है। सवैया इकतीसा।

जबलग जीव सुद्धवस्तुकौं विचारै ध्यावै,
तबलग भोगसौं उदासी सरवंग है।
भोगमैं मगन तब ग्यानकी जगन नांहि,
भोग-अभिलापकी दसा मिथ्यात अंग है॥
तातैं विषै-भोगमैं मगन सो मिथ्याती जीव,
भोगसौं उदास सो समकिती अभंग है।
ऐसी जानि भोगसौं उदास ह्वै मुकति साधै,
यहै मन चंग तौ कठौती मांहि गंग है॥१२॥

शब्दार्थ—उदासी=विरक्त। सरवंग=बिलकुल। जगन=उदय। अभिलाष=इच्छा। मुकति (मुक्ति)=मोक्ष। चंग (चंगो)=पवित्र। कठौती=काष्टका एक बर्तन (काठकी हौदी)।

१ यह शब्द पंजाबी (गुरुमुखी) भाषामें प्रचलित है।

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः ॥ ५ ॥

अंतरकी द्रिष्टिसौं निरंतर विलोकै बुध,
धरम अरथ काम मोख निज घटमैं।
साधन आराधनकी सौंज रहै जाके संग,
भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यातकी अलटमैं॥१५

शब्दार्थ—विलेछ=भिन्न भिन्न ग्रहण करना। संग्रहै=ग्रहण करे। निरासपद=निस्पृहता। सौंज=सामग्री। अलट=भ्रम।

अर्थ—वस्तु स्वभावका यथार्थ जानना धर्म पुरुषार्थकी सिद्धि करना है, छह द्रव्योंका भिन्न भिन्न जानना अर्थ पुरुषार्थकी साधना है, निस्पृहताका ग्रहण करना काम पुरुषार्थकी सिद्धि करना है और आत्म स्वरूपकी शुद्धता प्रगट करना मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धि करना है। ऐसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंको सम्यग्दृष्टी जीव अपने हृदयमें सदा अंतरदृष्टिसे देखते हैं और मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्यात्वके भ्रममें पड़कर चारों पुरुषार्थोंकी साधक और आराधक सामग्री पासमें रहते हुए भी उन्हें नहीं देखता और बाहर खोजता फिरता है॥ १५॥

वस्तुका सत्य स्वरूप और मूर्खका विचार। सवैया इकतीसा।

तिहूं लोकमांहि तिहूं काल सब जीवनिकौ,
पूरव करम उदै आइ रस देतु है।

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्॥ ६॥

खेहकौ खजानौं ताहि अग्यानी अरथ कहै,
ग्यानी कहै अरथ दरब दरमाउकौ ॥
दपतिकौ भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित चाउकौं ।
इद्रलोक थानकौं अजान लोग कहैं मोख,
सुधी मोख कहै एक बधके अभाउकौं ॥१४॥

शब्दार्थ—खेह=मिट्टी । (दंपति)=पुरुष स्त्री । दुरबुद्धी=मूर्ख । सुधी=ज्ञानी । इद्रलोक=स्वर्ग ।

अर्थ—अज्ञानी लोग कुल पद्धति-स्नान चौका आदिको धर्म कहते हैं और पडित लोग वस्तु स्वभावको धर्म कहते हैं । अज्ञानी लोग मिट्टीके ढेर सोने चादी आदिको द्रव्य कहते हैं, परन्तु ज्ञानी लोग तत्त्व अवलोकनको द्रव्य कहते हैं । अज्ञानी लोग पुरुष स्त्रीके विषय भोगको काम कहते हैं, ज्ञानी आत्माकी निस्पृहताको काम कहते हैं । अज्ञानी स्वर्गलोकको वैकुठ (मोक्ष) कहते हैं पर ज्ञानी लोग कर्म बन्धन नष्ट होनेको मोक्ष कहते हैं ॥ १४ ॥

आत्माहीमें चारों पुरुषार्थ हैं । सवैया इकतीसा ।

घरमकौ साधन जु वस्तुकौ सुभाउ साधै,
अरथकौ साधन विलेछ दर्व षटमें ।
यहै काम-साधन जु सग्रहै निरासपद,
सहज सरूप मोख सुद्धता प्रगटमें ॥

अंतरकी द्रिष्टिसौं निरंतर विलोकै बुध,
धरम अरथ काम मोख निज घटमैं।
साधन आराधनकी सौंज रहै जाके संग,
भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यातकी अलटमैं॥१५

शब्दार्थ—विलेछ=भिन्न भिन्न ग्रहण करना। संग्रहै=ग्रहण करै। निरासपद=निस्पृहता। सौंज=सामग्री। अलट=भ्रम।

अर्थ—वस्तु स्वभावका यथार्थ जानना धर्म पुरुषार्थकी सिद्धि करना है, छह द्रव्योंका भिन्न भिन्न जानना अर्थ पुरुषार्थकी साधना है, निस्पृहताका ग्रहण करना काम पुरुषार्थकी सिद्धि करना है और आत्म स्वरूपकी शुद्धता प्रगट करना मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धि करना है। ऐसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंको सम्यग्दृष्टी जीव अपने हृदयमें सदा अंतरदृष्टिसे देखते हैं और मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्यात्वके भ्रममें पडकर चारों पुरुषार्थोंकी साधक और आराधक सामग्री पासमें रहते हुए भी उन्हें नहीं देखता और बाहर खोजता फिरता है॥ १५॥

वस्तुका सत्य स्वरूप और मूर्खका विचार। सवैया इकतीसा।

तिहूं लोकमांहि तिहूं काल सब जीवनिकौ,
पूरव करम उदै आइ रस देतु है।

सर्वं सदैव नियत भवति स्वकीय
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्॥ ६॥

कोउ दीरघाउ धरै कोउ अलपाउ मरै,
कोउ दुखी कोउ सुखी कोउ समचेतु है॥
याहि मैं जिवायौ याहि मारौ याहि सुखी करौ,
याहि दुखी करौ ऐसे मूढ मान लेतु है।
याही अहं बुद्धिसौं न विनसै भरम भूल,
यहै मिथ्या धरम करम-बंध-हेतु है ॥ १६ ॥

शब्दार्थ— दीरघाउ (दीर्घायु)=अधिक उमर। अलपाउ=छोटी उमर। जिवायौ=जिलाया। मूढ़=मिथ्यादृष्टी। हेतु=कारण।

अर्थ—तीन लोक और तीनो कालमे जगतके सब जीवोंको पूर्व उपार्जित कर्म उदयमे आकर फल देता है जिससे कोई अधिक आयु पाते है, कोई छोटी उमरमे मरते हैं, कोई दुखी होते हैं, कोई सुखी होते है और कोई साधारण स्थितिमे रहते है। इसपर मिथ्यात्वी ऐसा मानने लगता है कि मैंने इसे जिलाया है, इसे मारा, इसे सुखी किया, इसे दुखी किया है। इसी अहंबुद्धिसे अज्ञानका परदा नहीं हटता और यही मिथ्याभाव है जो कर्मबंधका कारण है ॥ १६ ॥

पुन

जहांलौं जगतके निवासी जीव जगतमै,
सबै असहाइ कोऊ काहूको न धनी है।

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥ ७ ॥

जैसी जैसी पूरव करम-सत्ता वांधी जिन,
तैसी तैसी उदैमें अवस्था आइ वनी है॥
एतेपरि जो कोउ कहै कि मैं जिवाऊं मारूं,
इत्यादि अनेक विकलप वात घनी है।
सो तौ अहंबुद्धिसौं विकल भयौ तिहूं काल,
डोलै निज आतम सकति तिन हनी है१७

शब्दार्थ—असहाइ=निराधार। धनी=रक्षक। अवस्था=हालत। घनी=बहुतसी। विकल=बेचैन। डोलै=फिरता है। तिहूँ काल=सदैव। हनी=नष्ट की।

अर्थ—जब तक संसारी जीवोंका जन्म मरणरूप संसार है तब तक वे असहाय हैं—कोई किसीका रक्षक नहीं है। जिसने पूर्वकालमें जैसी कर्म सत्ता बाँधी है उदयमें उसकी वैसीही दशा हो जाती है। ऐसा होनेपर भी जो कोई कहता है कि मैं पालता हूँ, मैं मारता हूँ इत्यादि अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ करता है, सो वह इसी अहंबुद्धिसे व्याकुल होकर सदा भटकता फिरता है और अपनी आत्म शक्तिका घात करता है॥ १७॥

उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम जीवोंका स्वभाव।

सवैया इकतीसा।

उत्तम पुरुषकी दसा ज्यौं किसमिस दाख,
बाहिज अभितर विरागी मृदु अंग है।

अज्ञानी जीवकी मूढतापर मृगजल और अंधेका दृष्टांत।
सवैया इकतीसा।

जैसें मृग मत्त वृषादित्यकी तपत मांहि,
तृषावत मृषा-जल कारन अटतु है।
तैसें भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है।
आगेकौं धुकत धाइ पीछे बछरा चवाइ,
जैसें नैन हीन नर जेवरी वटतु है।
तैसें मूढ चेतन सुकृत करतूति करे,
रोवत हसत फल खोवत खटतु है ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—वृषादित्य=वृष[1] संक्रान्तिका सूर्य। तृषावत=प्यासा। मृषा=झूठा। अटतु है=भटकता है। नटतु है=नाचता है। नैनहीन नर=अंधा मनुष्य।

अर्थ—जिस प्रकार ग्रीष्मकालमे सूर्यका तीव्र आताप होनेपर प्यासा मृग उन्मत्त होकर मिथ्याजलकी ओर व्यर्थही दौडता है, उसी प्रकार संसारी जीव मायाहीमें कल्याण सोचकर मिथ्या कल्पना करके संसारमें नाचते है। जिस प्रकार अंधा मनुष्य आगेको रस्सी बटता (भाँजता) जावे और पीछेसे बछड़ा खाता जावे, तो उसका परिश्रम व्यर्थ जाता है, उसी प्रकार मूर्ख जीव शुभाशुभ क्रिया करता है वा शुभक्रियाके फलमें हर्ष और अशुभक्रियाके फलमें विषाद करके क्रियाका फल खो देता है ॥२७॥

१ जेठ महीनेमें सूर्य वृष संक्रांतिपर आता है।

अज्ञानी जीव बंधनसे न सुलझ सकनेपर दृष्टान्त ।
सवैया इकतीसा ।

लियैं द्रिढ़ पेच फिरै लोटन कबूतरसौ,
उलटौ अनादिकौ न कहूं सुलटतु है ।
जाकौ फल दुख ताहि सातासौं कहत सुख,
सहत-लपेटी असि-धारासी चटतु है ॥
ऐसैं मूढजन निज संपदा न लखै क्यौंही,
यौंहि मेरी मेरी निसिवासर रटतु है ।
याही ममतासौं परमारथ विनसि जाइ,
कांजीकौ परस पाइ दूध ज्यौं फटतु है।२८॥

शब्दार्थ—द्रिढ़ (दृढ़)=मजबूत । सहत (शहद)=मधु । असि=तलवार । निसिवासर=रात दिन । परस (स्पर्श)=छूना ।

अर्थ—जिस प्रकार लोटन कबूतरके परोंमें मजबूत पेच लगे होनेसे वह उलट पुलट फिरता है, उसी प्रकार संसारी जीव अनादि कालसे कर्म बन्धनके पेंचमें उलटा हो रहा है, कभी सन्मार्ग ग्रहण नहीं करता, और जिसका फल दुःख है, ऐसी विषय भोगकी किंचित् साताको सुख मानकर शहद लपेटी तलवारकी धारको चाटता है। ऐसा अज्ञानी जीव सदाकाल परवस्तुओंको मेरी मेरी कहता है और अपनी ज्ञानादि विभूतिको नहीं देखता, परद्रव्यके इस ममत्व भावसे आत्महित ऐसा नष्ट हो जाता है जैसे कि कांजीके स्पर्शसे दूध फट जाता है ॥ २८ ॥

अज्ञानी जीवकी अहबुद्धिपर दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

रूपकी न झाँक हीयैं करमको डांक पियैं,
ग्यान दवि रह्यौ मिरगांक जैसैं घनमैं।
लोचनकी ढांकसौं न मानै सदगुरु हांक,
डोलै मूढ रांकसौ निसांक तिहूं पनमैं॥
टांक एक मांसकी डलीमी तामैं तीन फांक,
तीनकोसौ आंक लिखि राख्यौ काहू तनमैं।
तासौं कहै नांक ताके राखिवेकौ करै कांक,
लांकसौं खडग बांधि बांक धरै मनमैं॥२९॥

शब्दार्थ—मिरगांक (मृगांक)=चन्द्रमा। ढांक=ढक्कन। हांक=पुकार। टांक (टक)=तौलनेका एक बाट (चार मासे)। फांक=खण्ड। कांक=झगड़ा। लांक (लंक)=कमर। खडग (खड्ग)=तलवार। बांक=वक्रता।

अर्थ—अज्ञानी जीवको अपने स्वरूपकी खबर नहीं है, उस पर कर्मोदयका डाक[1] लग रहा है, उसका शुद्ध ज्ञान ऐसा दब रहा है जैसे कि चन्द्रमा मेघोंसे दब जाता है। ज्ञाननेत्र ढॅक जानेसे वह सद्गुरुकी शिक्षा नहीं मानता, मूर्खतावश दरिद्री हुआ

१ सफेद काँचपर जिस रंगका डाँक लगाया जाता है, उसी रंगका काँच दिखने लगता है। उसी प्रकार जीवरूप काँचपर कर्मोंका डाँक लग रहा है, सो कर्म जैसा रस देता है, जीवात्मा उसी रूप हो जाता है।

सदैव निःशंक फिरता है। नाक है सो मासकी एक डली है, उसमें तीन फॉक है, मानो किसीने शरीरमें तीनका अक ही लिख रक्खा है, उसे नाक कहता है, उस नाक (अहंकार) के रखनेको लड़ाई करता है, कमरसे तलवार बाँधता है और मनमें वक्रता ग्रहण करता है॥ २९॥

अज्ञानीकी विषयासक्तापर दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

जैसें कोऊ कूकर छुधित सूके हाड़ चावै,
हाडनिकी कोर चहुं ओर चुभै मुखमें।
गाल तालु रसना मसूढ़निकौ मांस फाटै,
चाटै निज रुधिर मगन स्वाद-सुखमैं॥
तैसें मूढ विषयी पुरुष रति-रीति ठानै,
तामैं चित्त सानै हित मानै खेद दुखमैं।
देखै परतच्छ बल-हानि मल-मूत-खानि,
गहै न गिलानि पगि रहै राग-रुखमैं॥ ३०॥

शब्दार्थ—पगि रहै=मग्न हो रहे। रुख=द्वेष।

अर्थ—जिस प्रकार भूखा कुत्ता हड्डी चबाता है और उसकी अनी चारों ओरसे मुखमें चुभ जाती है, जिससे गाल, तालु, जीभ तथा जबड़ोंका मास फट जाता है और खून निकलता है, उस निकले हुए अपने ही रक्तको वह बड़े स्वादसे चाटता हुआ आनंदित होता है। उसी प्रकार अज्ञानी विषय-लोलुपी-जीव काम भोगमें आसक्त होकर संताप और कष्टमें भलाई मानता है।

कामक्रीडामें शक्तिकी हानि और मल मूत्रकी ग्लानि साक्षात् दिखती है, तो भी वह ग्लानि नहीं करता, राग द्वेषमें मग्न ही रहता है॥ ३०॥

जो निर्मोही है वह साधु है। अडिल।

सदा करमसौं भिन्न, सहज चेतन कह्यौ।
मोह-विकलता मानि, मिथ्याती ह्वै रह्यौ॥
करै विकल्प अनत, अहमति धारिकै।
सो मुनि जो थिर होइ, ममत्त निवारिकै॥३१॥

शब्दार्थ—अहंमति=अहंबुद्धि। निवारिकै=दूर करके।

अर्थ—वास्तवमें आत्मा कर्मोंसे निराला है, परन्तु मोहके कारण स्वरूपको भूलकर मिथ्यात्वी बन रहा है और शरीर आदिमें अहंबुद्धि करके अनेक विकल्प करता है। जो जीव परद्रव्योंसे ममत्वभाव छोडकर आत्मस्वरूपमें स्थिर होता है वह साधु है॥ ३१॥

सम्यग्दृष्टी जीव आत्म स्वरूपमें स्थिर होते हैं। सवैया इकतीसा।

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं।
जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ,
ते नियत लीन विवहारसौं मुकत हैं॥

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव॥ १०॥
सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्॥ ११॥

निरविकल्प निरुपाधि आतम समाधि,
साधि जे सुगुन मोख पंथको ढुकत हैं ।
तेई जीव परम दसामैं थिररूप हैकै,
धरममैं धुके न करमसौं रुकत हैं ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—असंख्यात लोक परवान=जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं । उकत=कहा हुआ । नियत=निश्चय नय । मुकत=छूटे हुए ।

अर्थ—जिनराजका कथन है कि जीवके जो लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर मिथ्यात्व भावके अध्यवसाय हैं, वे व्यवहार नयसे हैं । जिस जीवको मिथ्यात्व नष्ट होनेपर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह व्यवहार छोड़कर निश्चयमें लीन होता है, वह विकल्प और उपाधि रहित आत्म अनुभव ग्रहण करके दर्शन ज्ञान चारित्ररूप मोक्षमार्गमें लगता है और वही परमध्यानमें स्थिर होकर निर्वाण प्राप्त करता है, कर्मोंका रोका नहीं रुकता ॥ ३२ ॥

शिष्यका प्रश्न । कवित्त ।

जे जे मोह करमकी परनति,
बंध-निदान कही तुम सब्ब ।
संतत भिन्न सुद्ध चेतनसौं,
तिन्हकौ मूल हेतु कहु अब्ब ॥

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥ १२ ॥

भूख प्यास और निर्दय पुरुषो द्वारा प्राप्त कष्ट भोगता है, क्षणभर भी विश्राम लेनेकी थिरता नहीं पाता और पराधीन हुआ चक्कर लगाता है ॥ ४२ ॥

संसारी जीवोंकी हालत। सवैया इकतीसा।

जगतमें डोलें जगवासी नररूप धरें,
प्रेतकेसे दीप किधों रेतकेसे थूहे हैं।
दीसें पट भूषन आडंबरसों नीके फिरि,
फीके छिनमाझ सांझ-अंबर ज्यों सूहे हैं ॥
मोहके अनल दगे मायाकी मनीसों पगे,
डाभकी अनीसों लगे ओसकेसे फूहे हैं।
धरमकी बूझ नांहि उरझे भरममांहि,
नाचि नाचि मरि जांहि मरीकेसे चूहे हैं॥४३॥

शब्दार्थ—डोलें=फिरें। प्रेतकेसे दीप=मरघटपर जो चिराग जलाया जाता है। रेतकेसे थूहे=रेतके टीबे। नीके=अच्छे। फीके=मलीन। सांझ-अंबर=सन्ध्याका आकाश। अनल=अग्नि। दगे=दाहे जले। डाभकी=दूब घासकी। अनी=नोंक। फूहे=बिन्दु। बूझ=पहिचान। मरि=प्लेग।

अर्थ—संसारी जीव मनुष्य आदिका शरीर धारण करके भटक रहे हैं, सो मरघटके दीपक[1] तथा रेतके टीबेके[2] समान क्षण-भंगुर हैं। वस्त्र आभूषण आदिसे अच्छे दिखाई देते हैं परन्तु

[1] जल्दी बुझ जाता है, वाद थाँमनेवाला नहीं है। [2] मारवाड़में वायुके निमित्तसे बालूके टीबे बन जाते हैं और फिर मिट जाते हैं।

साँझके आकाशके समान क्षणभरमें मलिन हो जाते हैं। वे मोहकी अग्निसे जलते हैं फिर भी मायाकी ममतामें लीन होते हैं और घासपर पड़ी हुई ओसकी बूंदके समान क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं। उन्हें निज स्वरूपकी पहिचान नहीं है, भ्रममें भूल रहे हैं और प्लेगके चूहोंके[1] समान नाच नाचकर शीघ्र मर जाते हैं ॥४३॥

धन सम्पत्तिसे मोह हटानेका उपदेश। सवैया इकतीसा।

जासौं तू कहत यह संपदा हमारी सो तौ,
साधनि अडारी ऐसैं जैसैं नाक सिनकी।
ताहि तू कहत याहि पुन्न जोग पाई सो तौ,
नरककी साई है बड़ाई डेढ़ दिनकी॥
घेरा मांहि परयौ तू विचारै सुख आंखिनकौ,
माखिनके चूटत मिठाई जैसैं भिनकी।
एते परि होहि न उदासी जगवासी जीव,
जगमैं असाता है न साता एक छिनकी॥४४

शब्दार्थ—अडारी=छोड़ी। साई=बयाना। घेरा=चक्कर।

अर्थ—हे ससारी जीवो! जिसे तुम कहते हो कि यह हमारा धन है, उसे साधुजन इस तरह छोड देते हैं जिस तरह कि नाकका मैल छिनक दिया जाता है और फिर ग्रहण नहीं किया जाता। जिम धनके लिये तुम कहते हो कि पुण्यके निमित्तसे पाया है सो डेढ़ दिनका बडप्पन है पीछे नरकोंमे पटकने-

१ जब चूहोंपर प्लेगका आक्रमण होता है तो वे बिल आदिसे निकलकर भूमिपर गिरते [illegible] बड़ी बेचैनीके साथ दो एक चक्कर खाकर शीघ्र मर जाते हैं।

वाला है, अर्थात् पापरूप है। तुम्हें इससे आँखोंका सुख दिखता है, इसके कारण तुम कुटुम्बी जन आदिसे ऐसे घिर रहे हो जैसे मिठाईके ऊपर मक्खियाँ भिनभिनाती हैं। आश्चर्य है कि इतनेपर भी संसारी जीव संसारसे विरक्त नहीं होते, सच पूछो तो संसारमें असाता ही असाता है क्षणमात्रको भी साता नहीं है॥४४॥

लौकिक जनोंसे मोह हटानेका उपदेश। दोहा।

ए जगवासी यह जगत, इन्हसौं तोहि न काज।
तेरे घटमें जग वसै, तामें तेरौ राज॥ ४५॥

अर्थ—हे भव्य! ये संसारी जीव और इस संसारसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, तुम्हारे ज्ञानघटमें समस्त संसारका समावेश है और उसमें तुम्हारा ही राज्य है॥ ४५॥

शरीरमें त्रिलोकके विलास गर्भित हैं। सवैया इकतीसा।

याही नर-पिंडमें विराजै त्रिभुवन थिति,
याहीमें त्रिविधि परिनामरूप सृष्टि है।
याहीमें करमकी उपाधि दुख दावानल,
याहीमें समाधि सुख वारिदकी वृष्टि है॥
याहीमें करतार करतूति यामें विभूति,
यामें भोग याहीमें वियोग यामें घृष्टि है।
याहीमें विलास सब गर्भित गुपतरूप,
ताहीकौ प्रगट जाके अंतर सुदृष्टि है॥४६॥

१ निर्मल ज्ञानमें समस्त लोक अलोक प्रतिबिम्बित होते हैं।

शब्दार्थ—नर पिंड=मनुष्यशरीर। त्रिविध=उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-रूप। वारिद=बादल। वृष्टि=बिसना। गर्भित=समावेश।

अर्थ—इसीही मनुष्य शरीरमें तीनें लोक मौजूद हैं, इसीमें तीनों प्रकारके परिणामें हैं, इसीमे कर्म उपाधि जनित दुखरूप अग्नि है, इसीमें आत्म-ध्यानरूप सुखकी मेघवृष्टि है, इसीमें कर्मका कर्ता आत्मा है, इसीमें उसकी क्रिया है, इसीमें ज्ञान संपदा है, इसीमें कर्मका भोग वा वियोग है, इसीमें भले बुरे गुणोंका समर्पण है और इसी देहमें सब विलास गुप्तरूप गर्भित हैं, परन्तु जिसके अंतरंगमें सम्यग्ज्ञान है उसे ही सब विलास विदित होते हैं॥ ४६॥

आत्मविलास जाननेका उपदेश। सवैया तेईसा।

रे रुचिवंत पचारि कहै गुरु,
तू अपनौ पद बूझत नांही।
खोजु हिये निज चेतन लच्छन,
है निजमैं निज गूझत नांही॥
सुद्ध सुछंद सदा अति उज्जल,
मायाके फंद अरूझत नांही।
तेरौ सरूप न दुंदकी दोहीमैं,
तोहीमैं है तोहि सूझत नांही॥ ४७॥

१ कटिके नीचे पाताल लोक, नाभि मध्यलोक और नाभिसे ऊपर ऊर्ध्वलोक। २ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य।

शब्दार्थ—रुचिवंत=भव्य। पचारि=बुलाकर। बूझत=पहिचानते। हियें=घटमें। गूझत नाहीं=उलझता नहीं है। सुछंद=स्वतंत्र। उज्जल=निर्मल। अरूझत नाहीं=छूटता नहीं। दुद (द्वंद)=भ्रम मल। दोही=दुविधा।

अर्थ—श्रीगुरु बुला करके कहते हैं कि हे भव्य! तुम अपने स्वरूपको पहिचानते नहीं हो, अपने घटमें चैतन्य चिह्न ढूंढो, वह अपनेहीमें है, अपनेसे उलझता नहीं है, तुम शुद्ध स्वाधीन और अत्यन्त निर्विकार हो, तुम्हारी आतम-सत्तापर मायाका प्रवेश नहीं है। तुम्हारा स्वरूप भ्रमजाल और दुविधासे रहित है जो तुम्हे सूझता नहीं है॥ ४७॥

आतमस्वरूपकी पहिचान ज्ञानसे होती है। सवैया तेईसा।

केई उदास रहैं प्रभु कारन,
केई कहैं उठि जाहि कहींकै।
केई प्रनाम करें गढि मूरति,
केई पहार चढैं चढि छींकै॥
केई कहैं असमांनके ऊपरि,
केई कहैं प्रभु हेठि जमींकै।
मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर,
मोहीमें है मोहि सूझत नीकै॥ ४८॥

शब्दार्थ—उदास=विरक्त। गढि=बनाकर। मूरति (मूर्ति)=प्रतिमा। पहार (पहाड़)=पर्वत। असमांन (आसमान)=ऊर्ध्व लोक

हेठि=नीचे। जमीं(जमीन)=धरती। दिसन्तर (देशान्तर)=अन्य क्षेत्र, विदेश।

अर्थ—आत्माको जानने अर्थात् ईश्वरका खोज करनेके लिये कोई तो बाबाजी बन गये हैं, कोई दूसरे क्षेत्रमें यात्रा आदिको जाते हैं, कोई प्रतिमा बनाकर नमन पूजन करते हैं, कोई छींके पर बैठ पहाड़ोंपर चढ़ते हैं, कोई कहते हैं कि ईश्वर आसमानमें है और कोई कहते हैं कि पातालमें है परन्तु हमारा प्रभु दूरदेशमें नहीं है—हममहीमें है सो हमें भले प्रकार अनुभवमें आता है॥४८॥

पुन। दोहा।

कहै सुगरु जो समकिती, परम उदासी होइ।
सुथिर चित्त अनुभौ करै, प्रभुपद परसै सोइ॥४९॥

शब्दार्थ—परम=अत्यन्त। उदासी=वीतरागी। परसै=प्राप्त करे।

अर्थ—श्रीगुरु कहते हैं कि जो सम्यग्दृष्टी अत्यन्त वीतरागी होकर मनको खूब स्थिर करके आत्म अनुभव करता है वही आत्म स्वरूपको प्राप्त होता है॥ ४९॥

मनकी चंचलता। सवैया इकतीसा।

छिनमें प्रवीन छिनहीमें मायासौं मलीन,
छिनकमें दीन छिनमांहि जैसो सक्र है।
लियें दौर धूप छिन छिनमें अनंतरूप,
कोलाहल ठानत मथानकौसो तक्र है॥

(१) बुंदेलखंडमें सींका कहते हैं।

मायाकौं झपटि गहै कायासौं लपटि रहै,
भूल्यौ भ्रम-भीरमै वहीरकौसौ ससा है ।
ऐसौ मन चंचल पताकाकौसौ अंचल सु,
ग्यानके जगेसौं निरवाण पथ धसा है॥५१॥

शब्दार्थ—धायौ=दौड़ा । विमुख=विरुद्ध । सघाती=साथी । कुरा-पाती=उपद्रवी । गहै=पकड़े । वहीर=बहेलिया । ससा(शशा)=खर्गोश । पताका=ध्वजा । अंचल=कपड़ा ।

अर्थ—यह मन सुखके लिये हमेशासे ही भटकता रहा है पर कहीं सच्चा सुख नहीं पाया। अपने स्वानुभवके सुखसे विरुद्ध हुआ दुःखोंके कुएमें पड़ रहा है। धर्मका घाती, अधर्मका संगाती, महा उपद्रवी, सन्निपातके रोगीके समान असावधान हो रहा है। धन सम्पत्ति आदिको फुर्तीके साथ ग्रहण करता है और शरीरसे मुहब्बत लगाता है, भ्रमजालमें पड़ा हुआ ऐसा भूल रहा है जैसा शिकारीके घेरेमें खर्गोश भ्रमण करता है। यह मन पताकाके वस्त्रके समान चंचल है, वह ज्ञानका उदय होनेसे मोक्षमार्गमें प्रवेश करता है ॥ ५१ ॥

मनकी स्थिरताका प्रयत्न । दोहा ।

जो मन विषै कषायमें, वरतै चंचल सोइ ।
जो मन ध्यान विचारसौं, रुकै सु अविचल होइ ॥

शब्दार्थ—रुकै=ठहरे । अविचल=स्थिर ।

नटकौसौ थार किधौं हार है रहटकौसौ,
धारकौसौ भौंर कि कुभारकौसौ चक्र है।
ऐसौ मन भ्रामक सुथिरु आजु कैसे होइ,
ओरहीकौ चचल अनादिहीकौ वक्र है॥५०॥

शब्दार्थ—प्रवाण=चतुर। सक्र (शक्र)=इन्द्र। ठानत=करता है। मथान=बिलोवना। तक्र=छाँछ। थार=थाली। हार=माला। चक्र=चाक। भ्रामक=भ्रमण करनेवाला। चंचल=चपल। वक्र=टेढ़ा।

अर्थ—यह मन क्षणभरमें पंडित बन जाता है, क्षणभरमें मायासे मलिन हो जाता है, क्षणभरमें विषयोंके लिये दीन होता है, क्षणभरमें गर्वसे इन्द्र जैसा बन जाता है, क्षणभरमें जहाँ तहाँ दौड़ लगाता है और क्षणभरमें अनेक वेष बनाता है। जिस प्रकार दही बिलोनेपर छाँछकी गड़गड़ी होती है वैसा कोलाहल मचाता है, नटका थाल, रहटकी माला, नदीकी धारका भँवर अथवा कुभारके चाकके समान घूमताही रहता है। ऐसा भ्रमण करनेवाला मन आज कैसे स्थिर हो सकता है, जो स्वभावसे ही चंचल और अनादिकालसे वक्र है ॥ ५० ॥

मनकी चंचलतापर ज्ञानका प्रभाव। सवैया इकतीसा।

धायौ सदा काल पै न पायौ कहूं साचौ सुख,
रूपसौं विमुख दुखकूपवास वसा है।
धरमकौ घाती अधरमकौ सघाती महा,
कुरापाती जाकी सनिपातकीसी दसा है॥

मायाकौ झपटि गहै कायासौं लपटि रहै,
भूल्यौ भ्रम-भीरमैं बहीरकौसौ ससा है ।
ऐसौ मन चंचल पताकाकौसौ अंचल सु,
ग्यानके जगेसौं निरवाण पथ धसा है॥५१॥

शब्दार्थ—धायौ=दौड़ा। विमुख=विरुद्ध। सघाती=साथी। कुराघाती=उपद्रवी। गहै=पकड़े। बहीर=बहेलिया। ससा(शशा)=खरगोश। पताका=ध्वजा। अंचल=कपड़ा।

अर्थ—यह मन सुखके लिये हमेशासे ही भटकता रहा है पर कहीं सच्चा सुख नहीं पाया। अपने स्वानुभवके सुखसे विरुद्ध हुआ दुःखोंके कुएमें पड़ रहा है। धर्मका घाती, अधर्मका सँगाती, महा उपद्रवी, सन्निपातके रोगीके समान असावधान हो रहा है। धन सम्पत्ति आदिको फुर्तीके साथ ग्रहण करता है और शरीरसे मुहब्बत लगाता है, भ्रमजालमें पड़ा हुआ ऐसा भूल रहा है जैसा शिकारीके घेरेमें खरगोश भ्रमण करता है। यह मन पताकाके वस्त्रके समान चंचल है, वह ज्ञानका उदय होनेसे मोक्षमार्गमें प्रवेश करता है ॥ ५१ ॥

मनकी स्थिरताका प्रयत्न। दोहा।

जो मन विषै कषायमैं, बरतै चंचल सोइ ।
जो मन ध्यान विचारसौं, रुकै सु अविचल होइ ॥

शब्दार्थ—रुकै=ठहरे। अविचल=स्थिर।

मोक्ष द्वार ।

(९)

प्रतिज्ञा । दोहा ।

बंधद्वार पूरौ भयौ, जो दुख दोष निदांन ।
अब बरनौं संक्षेपसौं, मोखद्वार सुखथान ॥ १ ॥

शब्दार्थ—निदान=कारण। बरनौं=वर्णन करता हूँ। संक्षेप=थोड़में।

अर्थ—दुःखों और दोषोंके कारणभूत बंधका अधिकार समाप्त हुआ अब थोड़ेमें सुखका स्थानरूप मोक्ष अधिकारका वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

मंगलाचरण । सवैया इकतीसा ।

भेदग्यान आरासौं दुफारा करै ग्यानी जीव,
आतम करम धारा भिन्न भिन्न चरचै ।
अनुभौ अभ्यास लहै परम धरम गहै,
करम भरमकौ खजानौ खोलि खरचै ॥
यौंही मोख मुख धावै केवल निकट आवै,
पूरन समाधि लहै परमकौ परचै ।

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतं ।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥ १ ॥

भयौ निरदौर याहि करनौ न कछु और,
ऐसौ विश्वनाथ ताहि बनारसी अरचै ॥२॥

शब्दार्थ—परचै=जाने । खरचै=हटावे । परचै=पहिचाने । निरदौर=स्थिर । विश्वनाथ=संसारका स्वामी । अरचै=वंदना करता है ।

अर्थ—ज्ञानी जीव भेदविज्ञानकी करौतसे आत्म परणति और कर्मपरणतिको पृथक करके उन्हें जुदी जुदी जानता है और अनुभवका अभ्यास तथा रत्नत्रय ग्रहण करके ज्ञानावरणादि कर्म वा रागद्वेष आदि विभावका खजाना खाली कर देता है। इस रीतिसे वह मोक्षके सन्मुख दौड़ता है। जब केवलज्ञान उसके समीप आता है तब पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा बन जाता है और संसारकी भटकना मिट जाती है, तथा करनेको कुछ बाकी नहीं रह जाता अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है। ऐसे त्रिलोकीनाथको पंडित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥२॥

सम्यग्ज्ञानसे आत्माकी सिद्धि होती है। सवैया इकतीसा ।

काहू एक जैनी सावधान ह्वै परम पैनी,
ऐसी बुद्धि छैनी घटमांहि डार दीनी है ।
पैठी नो करम भेदि दरव करम छेदि,
सुभाउ विभाउताकी संधि सोधि लीनी है ॥

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
आत्मानं मग्नमन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ २ ॥

मोक्ष द्वार ।

(९)

प्रतिज्ञा । दोहा ।

बंधद्वार पूरौ भयौ, जो दुख दोष निदान ।
अब बरनौं संक्षेपसौं, मोखद्वार सुखथान ॥ १ ॥

शब्दार्थ—निदान=कारण। बरनौं=वर्णन करता हूँ। संक्षेप=थोड़ेमें।

अर्थ—दुःखों और दोषोंके कारणभूत बंधका अधिकार समाप्त हुआ अब थोड़ेमें सुखका स्थानरूप मोक्ष अधिकारका वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

मंगलाचरण । सवैया इकतीसा ।

भेदग्यान आरासौं दुफारा करै ग्यानी जीव,
आतम करम धारा भिन्न भिन्न चरचै ।
अनुभौ अभ्यास लहै परम धरम गहै,
करम भरमकौ खजानौ खोलि खरचै ॥
यौंही मोख मुख धावै केवल निकट आवै,
पूरन समाधि लहै परमकौ परचै ।

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतं ।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥ १ ॥

भयौ निरदौर याहि करनौ न कछु और,
ऐसौ विस्वनाथ ताहि बनारसी अरचै ॥२॥

शब्दार्थ—परचै=जाने। खरचै=हटावे। परचै=पहिचाने। निरदौर=स्थिर। विश्वनाथ=संसारका स्वामी। अरचै=वंदना करता है।

अर्थ—ज्ञानी जीव भेदविज्ञानकी करौंतसे आत्म परणति और कर्मपरणतिको पृथक करके उन्हे जुदी जुदी जानता है और अनुभवका अभ्यास तथा रत्नत्रय ग्रहण करके ज्ञानावरणादि कर्म वा रागद्वेष आदि विभावका खजाना खाली कर देता है। इस रीतिसे वह मोक्षके सन्मुख दौड़ता है। जब केवलज्ञान उसके समीप आता है तब पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा बन जाता है और संसारकी भटकना मिट जाती है, तथा करनेको कुछ बाकी नहीं रह जाता अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है। ऐसे त्रिलोकीनाथको पंडित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥२॥

सम्यग्ज्ञानसे आत्माकी सिद्धि होती है। सवैया इकतीसा।

काहू एक जैनी सावधान ह्वै परम पैनी,
ऐसी बुद्धि छैनी घटमांहि डार दीनी है।
पैठी नो करम भेदि दरव करम छेदि,
सुभाउ विभाउताकी संधि सोधि लीनी है॥

प्रज्ञाछेत्री शितेय कथमपि निपुणै पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्त सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मन मग्नम न्त स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्ध चाज्ञानभावे नियमितमभित कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ २ ॥

सम्यग्ज्ञानीका महत्व। सब वर्ण गुरु, सवैया इकतीसा।

राणाकौसौ वाना लीनै आपा साधै थाना चीनै,
दानाअंगी नानारंगी खाना जंगी जोधा है।
मायावेली जेती तेती रेतैमें धारेती सेती,
फंदाहीकौ कंदा खोदै खेतीकौसौ लोधा है॥
बाधासेती हांता लोरै राधासेती तांता जोरै,
बांदीसेती नाता तोरै चांदीकौसौ सोधा है।
जानै जाही ताही नीकै मानै राही पाही पीकै,
ठानै बातैं डाही ऐसौ धारावाही बोधा है॥ ६॥

शब्दार्थ—राणा=बादशाह। वाना=भेष। थाना=स्थान। चीनै=पहिचान। दानाअंगी=धनापी। खाना जंगी जोधा=युद्धमें महा शूरवीर। फंदा=नासकी जड़ें। खेतीकौसौ लोधा=किसानके समान। बाधा=क्रश। हांता लोरै=भग्न करता है। तांता=डोर। बाँदी=दासी। नाता=सम्बन्ध। डाही=होश्यारी। बोधा=ज्ञानी।

अर्थ—भेदविज्ञानी ज्ञाता, राजा जैसा रूप बनाये हुए है। वह अपने आत्मरूप स्वदेशकी रक्षाके लिये परिणामोंकी सम्हाल रखता है, और आत्मसत्ता भूमिरूप स्थानको पहिचानता है, प्रशम, संवेग, अनुकंपा आदिकी सेना सम्हालनेमें दाना अर्थात् प्रवीण होता है, शाम, दाम, दंड भेद आदि कलाओंमें कुशल राजाके समान है, तप, समिति, गुप्ति, परीषहजय, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि अनेक रंग धारण करता है, कर्मरूपी शत्रुओंको

जीतनेमे बड़ा बहादुर होता है। मायारूपी जितना लोहा है, उस सबको चूर चूर करनेको रेतीके समान है, कर्मके फंदेरूप कामको जड़से उखाड़नेके लिये किसानके समान है, कर्मबंधके दुखोंसे बचानेवाला है, सुमति राधिकासे प्रीति जोडता है, कुमतिरूप दासीसे संबंध तोड़ता है, आत्म पदार्थरूप चांदीको ग्रहण करने और पर पदार्थरूप धूलको छोडनेमे रजत-सोधा (सुनार) के समान है। पदार्थको जैसा जानता है, वैसाही मानता है, भाव यह है कि हेयको हेय जानता और हेय मानता है। उपादेयको उपादेय जानता और उपादेय मानता है,[1] ऐसी उत्तम बातोंका आराधक धारा-प्रवाही ज्ञाता है ॥ ६ ॥

ज्ञानी जीवही चक्रवर्त्ती है। सवैया इकतीसा।

जिन्हके दरव मिति साधन छखड थिति,
विनसे विभाव अरि पंकति पतन है।
जिन्हके भगतिको विधान एई नौ निधान,
त्रिगुनके भेद मानो चौदह रतन हैं॥
जिन्हके सुबुद्धिरानी चूरै महा मोह वज्र,
पूरै मंगलीक जे जे मोखके जतन हैं।
जिन्हके प्रमान अंग सौहे चमू चतुरग,
तेई चक्रवर्त्ती तनु धरें पै अतन हैं॥ ७॥

---

१ आत्मा उबदना मास (भीतरी गूदा) मगज आदिके समान उपादेय है, और छिल्का फोक आदिके समान शरीरादि हेय है।

शब्दार्थ—अरि पवति=शत्रु समूह। पतन=नष्ट होना। नव निधान=नव निधि। मंगलीक=मङ्गल चौक। चमू=सेना। चतुरंग=सेनाके चार अग—हाथी घोड़े रथ पैदल। अतन=शरीर रहित।

अर्थ—ज्ञानी जीव चक्रवर्तीके समान है, क्योंकि चक्रवर्ती छह खड पृथ्वी साधते—जीतते हैं, ज्ञानी छह द्रव्योंको साधते हैं, चक्रवर्ती शत्रु समूहको नष्ट करते हैं, ज्ञानी जीव विभाव परणतिका विनाश करते हैं, चक्रवर्तीको नवनिधि[1] होती हैं, ज्ञानी नवभक्ति[2] धारण करते हैं, चक्रवर्तीके चौदह रत्न[3] होते हैं, ज्ञानियोंको सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके भेदरूप चौदह रत्न[4] होते हैं, चक्रवर्तीकी पटरानी दिग्विजयको जानेके अवसरपर चुटकीसे वज्र-रत्नोंका चूर्ण करके चौक पूरती है, ज्ञानी जीवोंकी सुबुद्धिरूप पटरानी

१ महाकाल असि मसिके साधन, देत काललिधि ग्रथ महान।
मानव आयुध भाड नसरप, सुभग पिगल भूषन खान॥
पाडुक निधि सब धान्य देत है, करे शख वादित्र प्रदान।
सर्व रतन रत्नोंकी दाता, वस्त्र देत निधि पद्म महान॥

२ नवभक्तिके नाम आगेके दोहेमें कहे हैं।

३ चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमें सात सजीव रत्न होते हैं, और सात अजीव होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

दोहा—सेनापति गृहपति थपित, प्रोहित नाग तुरग।
वनिता मिलि सातों रतन, हैं सजीव सरवग॥ १॥
चक्र छत्र असि दड मणि, चर्म काकणी नाम।
ये अजीव सातों रतन, चक्रवर्तिके धाम॥ २॥

४ कविने चौदह रत्नोंकी सख्याको त्रिगुणके भेदोंमें गिनाया है, सो सम्यग्दर्शनके उपशम क्षयोपशम, क्षायक ये तीन, ज्ञानके मति श्रुत अवधि, मनःपर्यय, केवल ये पाँच, और चारित्रके सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसापराय, और सयमासयम ये छह ऐसे सब मिलकर चौदह ...

मोक्ष जानेका शकुन करनेको महामोहरूप चक्रको चूर्ण करती है, चक्रवर्तीके हाथी घोडे रथ पैदल ऐसी चतुरंगिनी सेना रहती है, ज्ञानी जीवोंके प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण नय और निक्षेप होते हैं। विशेष यह है कि चक्रवर्तीके शरीर होता है, पर ज्ञानी-जीव देहसे विरक्त होनेके कारण शरीर रहित होते हैं, इसलिये ज्ञानी जीवोंका पराक्रम चक्रवर्तीके समान है ॥ ७ ॥

नव भक्तिके नाम। दोहा।

श्रवन कीरतन चितवन, सेवन वदन ध्यान ।
लघुता समता एकता, नौधा भक्ति प्रवान ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—श्रवण=उपादेय गुणोंका सुनना। कीरतन (कीर्तन)= गुणोंका व्याख्यान करना। चितवन=गुणोंका विचार करना। सेवन=गुणोंका अध्ययन करना। वदन=गुणोंकी स्तुति करना। ध्यान=गुणोंका स्मरण रखना। लघुता=गुणोंका गर्व नहीं करना। समता=सबपर एकसी दृष्टि रखना। एकता=एक आत्माहीको अपना मानना, शरीरादिको पर मानना।

अर्थ—श्रवण, कीर्तन, चितवन, सेवन, वदन, ध्यान, लघुता, समता, एकता ये नव प्रकारकी भक्ति है, जो ज्ञानी जीव करते हैं ॥ ८ ॥

ज्ञानी जीवोंका मन्तव्य। सवैया इकतीसा।

*कोऊ अनुभवी जीव कहै मेरे अनुभौमें,
लक्षन विभेद भिन्न करमकौ जाल है ।

* भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदाऽस्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥३॥

जानै आपा आपुकौं जु आपुकरि आपुविषै,
उतपति नास ध्रुव धारा असराल है ॥
सारे विकलप मोसौं न्यारे सरवथा मेरौ,
निहचै सुभाव यह विवहार चाल है।
मैं तौ सुद्ध चेतन अनंत चिनमुद्रा धारी,
प्रभुता हमारी एकरूप तिहुं काल है ॥ ९ ॥

अर्थ—आत्म अनुभवी जीव कहते हैं कि हमारे अनुभवमें आत्म स्वभावसे विरुद्ध चिह्नोंका धारक कर्मोंका फंदा हमसे पृथक है, वे आप अपनेको अपने द्वारा अपनेमें जानते हैं। द्रव्यकी उत्पाद, व्यय और ध्रुव यह त्रिगुण धारा जो मुझमें बहती है, सो ये विकल्प, व्यवहार नयसे है, मुझसे सर्वथा भिन्न हैं, मैं तो निश्चय नयका विषयभूत शुद्ध और अनंत चैतन्यमूर्तिका धारक हूँ, मेरा यह सामर्थ्य सदा एकसा रहता है—कभी घटता बढ़ता नहीं है ॥ ९ ॥

आत्माके चेतन लक्षणका स्वरूप। सवैया इकतीसा।

निराकार चेतना कहावै दरसन गुन,
साकार चेतना सुद्ध ग्यान गुनसार है।

---

१ यह कर्तृरूप है। २ यह कर्मरूप है। ३ यह कारणरूप है। ४ यह अधिकरण है।

अद्वैताऽपि हि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूप त्यजे
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियत दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥ ४ ॥

चेतना अद्वैत दोऊ चेतन दरव मांहि,
सामान विशेष सत्ताहीकौ विसतार है ॥
कोऊ कहै चेतना चिहन नांही आतमामैं,
चेतनाके नास होत त्रिविध विकार है।
लक्षनकौ नास सत्ता नास मूल वस्तु नास,
तातैं जीव दरवकौ चेतना आधार है॥१०॥

शब्दार्थ—निराकार चेतना=जीवका दर्शन गुण जो आकार आदिको नहीं जानता। साकार चेतना=जीवका ज्ञान गुण जो आकार आदि समेत जानता है। अद्वैत=एक। सामान्य=जिसमें आकार आदिका विकल्प नहीं होता। विशेष=जो आकार आदि सहित जानता है। चिहन (चिह्न)= लक्षण। त्रिविधि=तीन तरहके। विकार=दोष।

अर्थ—चैतन्य पदार्थ एकरूप ही है, पर दर्शन गुणको निराकार चेतना और ज्ञान गुणको साकार चेतना कहते हैं। सो ये सामान्य और विशेष दोनों एक चैतन्यहीके विकल्प हैं, एकही

१-२ पदार्थको जाननेके पहले पदार्थके अस्तित्वका जो किंचित् भान होता है वह दर्शन है, दर्शन यह नहीं जानता कि पदार्थ किस आकार व रंगका है, वह तो सामान्य अस्तित्व मात्र जानता है, इसीसे दर्शन गुण निराकार और सामान्य है। इसमें महासत्ता अर्थात् सामान्य सत्ताका प्रतिभास होता है। आकार रंग आदिका जानना ज्ञान है, इससे ज्ञान साकार है, सविकल्प है, विशेष जानता है। इसमें अवांतर सत्ता अर्थात् विशेषसत्ताका प्रतिभास होता है। (विशेष समझनेके लिये 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' की ज सामण्णं गहणं आदि गाथाओंका अध्ययन करना

द्रव्यमे रहते है । वैशेपिक आदि मतवाले आत्मामें चैतन्यगुण नहीं मानते हैं, सो उनसे जैनमतवालोंका कहना है कि चेतनाका अभाव माननेसे तीन दोप उपजते है, प्रथम तो लक्षणका नाश होता है, दूसरे लक्षणका नाश होनेसे सत्ताका नाश होता है, तीसरे सत्ताका नाश होनेसे मूल वस्तुहीका नाश होता है । इसलिये जीव द्रव्यका स्वरूप जाननेके लिये चैतन्यहीका - अवलम्बन है ॥ १० ॥

दोहा ।

चेतन लक्षन आतमा, आतम सत्ता माहि ।
सत्तापरिमित वस्तु है, भेद तिहूमें नांहि ॥ ११ ॥

अर्थ—आत्माका लक्षण चेतना है, और आत्मा सत्तामें है, क्योंकि सत्ता धर्मके विना आत्मपदार्थ सिद्ध नहीं होता, और अपनी सत्ता प्रमाण वस्तु है, सो द्रव्य अपेक्षा तीनोंमे भेद नहीं है एक ही है ॥ ११ ॥

आत्मा नित्य है । सवैया तेईसा ।

ज्यों कलधौत सुनारकी सगति,
भूपन नाम कहै सब कोई ।
कंचनता न मिटी तिहि हेतु,
वहै फिरि औटिके कचन होई ॥
त्यों यह जीव अजीव सजोग,
भयो बहुरूप भयो नहि दोई ।

चेतनता न गई कबहू,
तिहि कारन ब्रह्म कहावत सोई ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—कलधौत=सोना। भूपन=गहना। औटत=गलानेसे। ब्रह्म=नित्य आत्मा।

अर्थ—जिस प्रकार सुनारके द्वारा गढ़े जानेपर सोना गहनेके रूपमें हो जाता है, पर गलानेसे फिर सुवर्ण ही कहलाता है, उसी प्रकार यह जीव अजीवरूप कर्मके निमित्तसे अनेक वेप धारण करता है, पर अन्यरूप नहीं हो जाता, क्योंकि चैतन्य गुण कहीं चला नहीं जाता, इसी कारण जीवको सब अवस्थाओंमें ब्रह्म कहते हैं ॥ १२ ॥

सुबुद्धि सखीको ब्रह्मका स्वरूप समझाते हैं। सवैया तेईसा।

देखु सखी यह ब्रह्म विराजित,
याकी दसा सब याहीकौं सोहै।
एकमैं एक अनेक अनेकमैं,
दुंद लियें दुविधामह दो है॥
आपु सभारि लखै अपनौ पद,
आपु विसारिकै आपुहि मोहै।
व्यापकरूप यहै घट अतर,
ग्यानमैं कोन अग्यानमैं को है॥ १३॥

शब्दार्थ—विराजित=शोभायमान। दसा=परणति। विसारिकैं=भूलके।

अर्थ—सुबुद्धिरूप सखीसे कहते हैं, कि हे सखी देख, यह अपना ईश्वर सुशोभित है, इसकी सब परणति इसे ही शोभा देती है, ऐसी विचित्रता और दूसरेमें नहीं है। इसे आत्मसत्तामें देखो तो एकरूप है, और परसत्तामें देखो तो अनेकरूप है, ज्ञानदशामें देखो तो ज्ञानरूप, अज्ञानदशामें देखो तो अज्ञानरूप, ऐसी दोनों दुविधाएं इसमें हैं। कभी तो सचेत होकर अपनी शक्तिको सम्हालता है और कभी प्रमादमें पडकर निज स्वरूपको भूलता है, पर यह ईश्वर निजघटमें व्यापक रहता है, अब विचार करो कि ज्ञानरूप परिणमन करनेवाला कौन है और अज्ञान दशामें वर्तनेवाला कौन है? अर्थात् वही है ॥ १३ ॥

आतम अनुभवका दृष्टांत। सवैया तेईसा।

ज्यों नट एक धरै बहु भेख,
कला प्रगटै बहु कौतुक देखै।
आपु लखै अपनी करतूति,
वहै नट भिन्न विलोकत भेखै॥
त्यों घटमें नट चेतन राव,
विभाउ दसा धरि रूप विसेखै।
खोलि सुदृष्टि लखै अपनों पद,
दुद विचारि दसा नहि लेखै॥ १४॥

अर्थ—जिसप्रकार नट अनेक स्वाँग बनाता है, और उन स्वाँगोंके तमाशे देखकर लोग कौतूहल समझते हैं, पर वह नट

अपने असली रूपसे कृत्रिम किये हुए वेषको भिन्न जानता है, उसी प्रकार यह नटरूप चेतन राजा परद्रव्यके निमित्तसे अनेक विभाव पर्यायोंको प्राप्त होता है, परंतु जब अंतरंगदृष्टि खोलकर अपने सत्य रूपको देखता है तब अन्य अवस्थाओंको अपनी नहीं मानता ॥ १४ ॥

हेय उपादेय भावोंपर उपदेश । छंद अडिल्ल ।

*जाके चेतन भाव, चिदानंद सोइ है ।
और भाव जो धरै, सो औरौ कोइ है ॥
जो चिनमंडित भाउ, उपादे जाननैं ।
त्याग जोग परभाव, पराये माननैं ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—चिदानंद=चैतन्यवंत आत्मा । उपादे (उपादेय)=ग्रहण करनेके योग्य। हेय=त्यागने योग्य । पराये=दूसरे । माननैं=श्रद्धान करना चाहिये ।

अर्थ—जिसमें चैतन्यभाव है वह चिदात्मा है, और जिसमें अन्यभाव है, वह और ही अर्थात् अनात्मा है। चैतन्य भाव उपादेय है, परद्रव्योंके भाव पर हैं—त्यागने योग्य हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानी जीव चाहे घरमें रहैं चाहे वनमें रहैं, मोक्षमार्ग साधते हैं ।
सवैया इकतीसा ।

जिन्हकै सुमति जागी भोगसौं भये विरागी,
परसंग त्यागी जे पुरुष त्रिभुवनमैं ।

*एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥ ५ ॥

धाम चहूँओर=चतुर्गति भ्रमण। समाधि=अनुभव। साहु=भला आदमी। गहै=ग्रहण करे।

अर्थ—दहीके मथनेमे घीकी सत्ता साधी जाती है, औषधियोंकी हिकमतमे रसकी सत्ता है, शास्त्रोमे जहाँ तहाँ सत्ताहीका कथन है, ज्ञानका सूर्य सत्तामें है, अमृतका पुज सत्तामें है, सत्ताका छुपाना सांझके अंधकारके समान है, और सत्ताको प्रधान करना सबेरेका सूर्य उदय करना है। सत्ताका स्वरूपही मोक्ष है, सत्ताका भूलना ही जन्म मरण आदि दोषरूप संसार है, अपनी आत्म सत्ताका उलंघन करनेसे चतुर्गतिमें भटकना पड़ता है। जो आत्म सत्ताके अनुभवमें विराजमान है वही भला आदमी है और जो आत्म सत्ताको छोडकर अन्यकी सत्ताको ग्रहण करता है वही चोर है ॥ २३ ॥

आत्मसत्ताका अनुभव निर्विकल्प है। सवैया इकतीसा।

जामें लोक वेद नाहि थापना उछेद नाहि,
पाप पुन्न खेद नाहि क्रिया नाहि करनी।
जामें राग दोष नाहि जामें बंध मोख नाहि,
जामें प्रभु दास न अकास नांहि धरनी॥
जामें कुल रीत नाहि जामें हारि जीत नाहि,
जामें गुरु सीप नाहि वीप नाहि भरनी।

१-२ सांझके अंधकारसे भाव यह दिखाना है कि अज्ञानका अंधकार बढता जावे। प्रभातके सूर्योदयसे यह भाव दिखता है कि ज्ञानका प्रकाश बढता जावे।

आश्रम वरन नांहि काहूकी सरन नांहि,
ऐसी सुद्ध सत्ताकी समाधिभूमि वरनी॥२४॥

शब्दार्थ—लोक वेद=लौकिक ज्ञान। थापना उछेद=लौकिक वार्तोंका खंडन। जैसे मूर्तिको ईश्वर कहना यह लोक व्यवहार है और मूर्तिपूजाका खंडन करना लोक स्थापनाका उच्छेद करना है सो सत्तामें दोनों नहीं हैं। खेद=कष्ट। प्रभु=स्वामी। दास=सेवक। धरनी=पृथ्वी। थीप भरनी=मंजिल पूरी करना। वरन आश्रम (वर्ण आश्रम)=ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चार।

अर्थ—जिसमें लौकिक रीतियोंकी न विधि है न निषेध है, न पाप पुण्यका क्लेश है, न क्रियाकी मनाही है, न राग द्वेष है, न बंध मोक्ष है, न स्वामी है न सेवक है, न आकाश है न धरती है, न कुलाचार है, न हारजीत है, न गुरु है न शिष्य है, न चलना फिरना है, न वर्णाश्रम है, न किसीका शरण है। ऐसी शुद्धसत्ता अनुभवरूप भूमिपर पाई जाती है॥ २४॥

जो आत्मसत्ताको नहीं जानता वह अपराधी है। दोहा।

जाकै घट समता नही, ममता मगन सदीव।
रमता राम न जानई, सो अपराधी जीव॥ २५॥

१-२ बंध जीवका भेद नहीं है।

अतो हता प्रमादिनो गता सुखासीनता
प्रलीन चापलमुन्मूलितमालम्बनम्।
आत्मन्येव चालानित च चित्तमा-
सपूर्णविज्ञानघनोपलब्धे ॥ ९॥ (?)

अपराधी मिथ्यामती, निरदै हिरदै अध।
परकौं मानै आतमा, करै करमकौ वध ॥ २६ ॥
झूठी करनी आचरै, झूठे सुखकी आस।
झूठी भगति हिए धरै, झूठे प्रभुकौ दास ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—समता=राग द्वेष रहित भाव। ममता=पर द्रव्योंमें अहं बुद्धि। रमता राम=अपने रूपमें आनंद करनेवाला आतमराम। अपराधी=दोषी। निरदै (निर्दय)=दुष्ट। हिरदै (हृदय)=मनमें। आस (आशा)=उम्मेद। भगति (भक्ति)=सेवा, पूजा। दास=सेवक।

अर्थ—जिसके हृदयमें ममता नहीं है, जो सदा शरीर आदि परपदार्थोंमें मग्न रहता है और अपने आतम रामको नहीं जानता वह जीव अपराधी है ॥२५॥ अपने आत्म स्वरूपको नहीं जाननेवाला अपराधी जीव मिथ्यात्वी है, अपनी आत्माका हिंसक है, हृदयका अंधा है। वह शरीर आदि पर पदार्थोंको आत्मा मानता है और कर्म बंधको बढ़ाता है ॥ २६ ॥ आत्मज्ञानके बिना उसका तपाचरण मिथ्या है, उसकी मोक्षसुखकी आशा झूठी है, ईश्वरको जाने बिना ईश्वरकी भक्ति वा दासत्व मिथ्या है ॥ २७ ॥

मिथ्यात्वकी विपरीत वृत्ति। सवैया इकतीसा।

माटी भूमि सैलकी सो संपदा वखानै निज,
कर्ममैं अमृत जानै ग्यानमैं जहर है।
अपनौ न रूप गहै औरहीसौं आपौ कहै,
साता तो समाधि जाकै असाता कहर है ॥

कोपको कृपान लिए मान मद पान किये,
मायाकी मरोर हियें लोभकी लहर है।
याही भांति चेतन अचेतनकी संगतिसों,
सांचसों विमुख भयौ झूठमें वहर है ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—सैल (शैल)=पर्वत। जहर=विष। और ही सौं=पर द्रव्यसे। कहर=आपत्ति। कृपान=तलवार। बहर है=लगा हुआ है।

अर्थ—सोना चादी जो पहाडोंकी मिट्टी है उन्हे निज सम्पत्ति कहता है, शुभक्रियाको अमृत मानता है और ज्ञानको जहर जानता है। अपने आत्मरूपको ग्रहण नहीं करता, शरीर आदिको आत्मा मानता है, साता वेदनीय जनित लौकिक सुखमें आनन्द मानता है और असाताके उदयको आफत कहता है। क्रोधकी तलवार ले रक्खी है, मानकी शराब पी बैठा है, मनमें मायाकी वकता है और लोभके चक्करमें पडा हुआ है। इस प्रकार अचेतनकी सगतिसे चिद्रूप आत्मा सत्यसे परान्मुख होकर झूठ हीमें उलझ रहा है ॥ २८ ॥

तीन काल अतीत अनागत वरतमान,
जगमें अखंडित प्रवाहको डहर है।
तासों कहे यह मेरो दिन यह मेरी राति,
यह मेरी घरी यह मेरोही पहर है ॥

जिन्हकी चितौनि आगे उदै स्वान भूसि भागै,
लागै न करम रज ग्यान गज चढे हैं ॥
जिन्हकी समुझिकी तरंग अंग आगममैं,
आगममैं निपुन अध्यातममैं कढे हैं ।
तेई परमारथी पुनीत नर आठों जाम,
राम रस गाढ़ करैं यहै पाठ पढे हैं ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—पावक=अग्नि। विरख (वृक्ष)=झाड़। स्वान=कुत्ता। रज=धूल। ग्यान गज=ज्ञानरूपी हाथी। अध्यातम=आत्माका स्वरूप बताने वाली विद्या। परमारथी (परमार्थी)=परम पदार्थ अर्थात् मोक्षके मार्गमें लगे हुए। पुनीत=पवित्र। आठौं जाम=आठौं पहर-सदाकाल।

अर्थ—जिनकी धर्मध्यानरूप अग्निमें संशय विमोह विभ्रम ये तीनों वृक्ष जल गये हैं, जिनकी सुदृष्टिके आगे उदयरूपी कुत्ते भौंकते भौंकते भाग जाते हैं, वे ज्ञानरूपी हाथीपर सवार हैं इससे कर्मरूपी धूल उन तक नहीं पहुँचती। जिनके विचारमें शास्त्रज्ञानकी तरंगें उठती हैं, जो सिद्धान्तमें प्रवीण हैं, जो आध्यात्मिक विद्याके पारगामी हैं, वे ही मोक्षमार्गी हैं—वे ही पवित्र हैं, सदा आत्म अनुभवका रस दृढ करते हैं और आत्म अनुभवहीका पाठ पढते हैं ॥ ३१ ॥

जिन्हकी चिहुंटि चिमटासी गुन चूनिवेकौं,
कुकथाके सुनिवेकौं दोऊ कान मढे हैं ।

शब्दार्थ—शुद्ध चेतना=शुद्ध ज्ञान दर्शन। लघुकालमें=थोड़े समयमें।

अर्थ—जो मुनिराज विकल्प रहित हैं, अनुभव और शुद्ध ज्ञान दर्शन सहित हैं, वे थोड़े ही समयमें कर्म रहित होते हैं, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं॥ ४३॥

ज्ञानमें सब जीव एकसे भासते हैं। कवित्त।

जैसैं पुरुष लखै परवत चढ़ि,
भूचर-पुरुष ताहि लघु लग्गै।
भूचर पुरुष लखै ताकौं लघु,
उतरि मिलै दुहुकौ भ्रम भग्गै।
तैसैं अभिमानी उन्नत लग,
और जीवकौं लघुपद दग्गै।
अभिमानीकौं कहै तुच्छ सब,
ग्यान जगै समता रस जग्गै॥ ४४॥

शब्दार्थ—भूचर=धरतीपर रहनेवाला। लघु=छोटा। उन्नत लग=ऊंचा सिर रखनेवाला।

अर्थ—जैसे पहाडपर चढे हुए मनुष्यको नीचेका मनुष्य छोटा दिखता है, और नीचेके मनुष्यको ऊपर पहाडपर चढा हुआ मनुष्य छोटा दिखता है, पर जब वह नीचे आता है तब दोनोंका भ्रम हट जाता है और विषमता मिट जाती है, उसी प्रकार ऊंचा

सिर रखनेवाले अभिमानी मनुष्यको सब आदमी तुच्छ दिखते हैं, और सबको वह अभिमानी तुच्छ दिखता है, परन्तु जब ज्ञानका उदय होता है तब मान कषाय गल जानेसे समता प्रगट होती है। ज्ञानमे कोई छोटा बड़ा नहीं दिखता, सब जीव एकसे भासते हैं॥ ४४॥

अभिमानी जीवोंकी दशा। सवैया इकतीसा।

करमके भारी समुझें न गुनको मरम,
परम अनीति अधरम रीति गहे हैं।
होंहि न नरम चित्त गरम घरमहूतें,
चरमकी द्रिष्टिसौं भरम भूलि रहे हैं॥
आसन न खोलें मुख वचन न बोलै,
सिर नाये हू न डोलैं मानों पाथरके चहे हैं।
देखनके हाऊ भव पंथके बढ़ाऊ ऐसे,
मायाके खटाऊ अभिमानी जीव कहे हैं॥ ४५॥

शब्दार्थ—करमके भारी=अत्यन्त कर्म बंध बाँधे हुए। मरम=असलियत। अधरम (अधर्म)=पाप। नरम=कोमल। चरम द्रिष्टि (चर्म दृष्टि)=इंद्रिय जनित ज्ञान। चहे (चय)=चिने हुए। हाऊ=भयकर। बढ़ाऊ=बढ़ानेवाले। खटाऊ=टिकाऊ-मजबूत।

अर्थ—जो कर्मोंका तीव्र बंध बाँधे हुए हैं, गुणोंका मर्म नहीं जानते, अत्यन्त अनुचित और पापमय मार्ग ग्रहण करते हैं,

* दोषको ही गुण समझ जाते हैं।

नरमचित्त नहीं होते, धूपसे भी अधिक गरम रहते हैं और इन्द्रियज्ञानहीमें भूले रहते हैं, दिखानेके लिये एक आसनसे बैठते वा खडे हो रहते हैं, मौनसे रहते हैं, महन्तजी जानकर कोई नमस्कार करे तो उत्तरके लिये अंग तक नहीं हिलाते, मानो पत्थर ही चिन रक्खा हो, देखनेमें भयंकर हैं, संसारमार्गके बढानेवाले हैं, मायाचारीमें पके हैं, ऐसे अभिमानी जीव होते हैं ॥ ४५ ॥

ज्ञानी जीवोंकी दशा। सवैया इकतीसा।

धीरके धरैया भव नीरके तरैया भय,
भीरके हरैया वर वीर ज्यौं उमहे हैं।
मारके मरैया सुविचारके करैया सुख,
ढारके ढरैया गुन लौसौं लह लहे हैं॥
रूपके रिझैया सब नैके समझैया सब,-
हीके लघु भैया सबके कुबोल सहे हैं।
वामके वमैया दुख दामके दमैया ऐसे,
रामके रमैया नर ग्यानी जीव कहे हैं॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—भव नीर=संसार समुद्र। भीर=समुदाय। वरवीर=महा-योद्धा। उमहे=उमग सहित—उत्साहित। मार=कामकी वासना। लहलहे=हरे भरे। रूपके रिझैया=आत्म स्वरूपके रसिया। लघु भैया=छोटे बन-

१ आत्मज्ञान नहीं होता।

कर नम्रता पूर्वक चलनेवाले। कुबोल=कठोर वचन। बाम=वक्रता-कुटिलता। दुख दामके दमैया=दु खोंकी संततिको नष्ट करनेवाले। रामके रमैया=आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेवाले।

अर्थ—जो धीरजके धरनेवाले हैं, ससार समुद्रसे तरनेवाले है, सब प्रकारके भय नष्ट करनेवाले हैं, महायोद्धा समान धर्ममें उत्साहित रहते है, विषयवासनाओंको जलाते हैं, आत्महितका चितवन किया करते है, सुखशान्तिकी चाल चलते हैं, सद्गुणोंकी ज्योतिसे जगमगाते है, आत्मस्वरूपमें रुचि रखते हैं, सब नयोंका रहस्य जानते है, ऐसे क्षमावान् हैं कि सबके छोटे भाई बनकर रहते हैं वा उनकी खरी खोटी बाते सहते है, हृदयकी कुटिलता छोड़कर सरल चित्त हुए है, दुख सतापकी राह नहीं चलते, आत्मस्वरूपमें विश्राम किया करते हैं ऐसे महानुभाव ज्ञानी कहलाते हैं ॥ ४६ ॥

सम्यक्त्वी जीवोंकी महिमा। चौपाई।

जे समकिती जीव समचेती।
तिनकी कथा कहौं तुमसेती॥

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्य समग्र स्वय
स्वद्रव्ये रतिमेति य स नियत सर्वापराधच्युतः।
बन्धध्वसमुपेत्य नित्यमुदित स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १२ ॥

जहां प्रमाद क्रिया नहि कोई ।
निरविकलप अनुभौ पद सोई ॥ ४७ ॥
परिग्रह त्याग जोग थिर तीनों ।
करम बंध नहि होय नवीनों ॥
जहां न राग दोष रस मोहै ।
प्रगट मोख मारग मुख सोहै ॥ ४८ ॥
पूरव बंध उदय नहि व्यापै ।
जहा न भेद पुन्न अरु पापै ॥
दरव भाव गुन निरमल धारा ।
बोध विधान विविध विस्तारा ॥ ४९ ॥
जिन्हकी सहज अवस्था ऐसी ।
तिन्हकै हिरदै दुविधा कैसी ॥
जे मुनि छपक श्रेणि चढि धाये ।
ते केवलि भगवान कहाये ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—समचेती=समता भाववाले । कथा=वार्ता । तुमसेती=तुमसे । प्रमादक्रिया=शुभाचार । जोग थिर तीनों=मन वचन कायके योगोंका निग्रह । नवीनौं=नया । पुन्न (पुण्य)=शुभोपयोग । द्रव्यभाव=बाह्य और अंतरंग । बोधि=रत्नत्रय । छपकश्रेणि=मोह कर्म नष्ट करनेकी सीढ़ी । धाये=चढ़े ।

अर्थ—हे भव्य जीवो! समता स्वभावके धारक सम्यग्दृष्टी जीवोंकी दशा तुमसे कहता हूँ, जहा शुभाचारकी प्रवृत्ति नहीं है वहा निर्विकल्प अनुभवपद रहता है ॥ ४७ ॥ जो सर्व परिग्रह छोड़कर, मन वचन कायके तीनों योगोंका निग्रह करके बंध परपराका सवर करते है, जिन्हें राग द्वेष मोह नहीं रहता वे साक्षात् मोक्षमार्गके सन्मुख रहते है ॥ ४८ ॥ जो पूर्व बंधके उदयमे ममत्व नहीं करते, पुण्य पापको एकसा जानते है, अतरग और बाह्यमे निर्विकार रहते हैं[1], जिनके सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र गुण उन्नति पर है ॥ ४९ ॥ ऐसी जिनकी स्वाभाविक दशा है, उन्हें आत्म स्वरूपकी दुविधा कैसे हो सकती है? वे मुनि क्षपक श्रेणिपर चढ़ते हैं और केवली भगवान बनते हैं ॥ ५० ॥

सम्यग्दृष्टी जीवोंको वदना। दोहा।

इहि विधि जे पूरन भये, अष्टकरम वन दाहि।
तिन्हकी महिमा जो लखै, नमै बनारसि ताहि॥५१॥

शब्दार्थ—पूरन भये=परिपूर्ण उन्नतिको प्राप्त हुए। दाहि=जलाकर। लखै=जाने।

अर्थ—जो इस रीतिसे अष्टकर्मका वन जलाकर परिपूर्ण हुए हैं, उनकी महिमाको जो जानता है उसे पंडित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ ५१ ॥

---

१ देखनेमें नेत्रोंकी लालिमा वा चेहरेकी वक्रता रहित शरीरकी मुद्रा रहती है और अतरंगमें क्रोधादि विकार नहीं होते।

मोक्ष प्राप्तिका क्रम। छप्पय छन्द।

भयौ सुद्ध अकूर, गयो मिथ्यात मूर नसि।
क्रम क्रम होत उदोत,
सहज जिम सुकल पक्ष ससि॥
केवल रूप प्रकासि,
भासि सुख रासि धरम ध्रुव।
करि पूरन थिति आउ,
त्यागि गत लाभ परम हुव॥
इह विधि अनन्य प्रभुता धरत,
प्रगटि बूंदि सागर थयौ।
अविचल अखंड अनुभय अखय,
जीव दरव जग महि जयौ॥ ५२॥

शब्दार्थ—अकूर (अंकुर)=पौधा। मूर (मूल)=जड़से। सुकल पक्ष ससि (शुक्ल पक्ष शशि)=उजेले पक्षका चन्द्रमा। अनन्य=जिसके समान दूसरा नहीं—सर्व श्रेष्ठ।

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि॥ १३॥

इति मोक्षो निष्क्रान्तः॥ ९॥

अर्थ—शुद्धताका अंकुर प्रगट हुआ, मिथ्यात्व जड़से हट गया, शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान क्रमशः ज्ञानका उदय वढ़ा, केवलज्ञानका प्रकाश हुआ, आत्माका नित्य और पूर्ण आनंदमय स्वभाव भासने लगा, मनुष्य आयु और कर्मकी स्थिति पूर्ण हुई, मनुष्यगतिका अभाव हुआ और पूर्ण परमात्मा बना। इस प्रकार सर्व श्रेष्ठ महिमा प्राप्त करके पानीकी बुंदसे समुद्र होनेके समान अविचल, अखंड, निर्भय और अक्षय जीवपदार्थ, ससारमे जयवन्त हुआ ॥ ५२ ॥

अष्ट कर्मोंके नष्ट होनेसे अष्ट गुणोंका प्रगट होना। सवैया इकतीसा।

ग्यानावरनीके गयें जानियै जु है सु सब,
दर्सनावरनके गयैतें सब देखियै।
वेदनी करमके गयैतें निराबाध सुख,
मोहनीके गये सुद्ध चारित विसेखियै ॥
आउकर्म गयें अवगाहना अटल होइ,
नामकर्म गयैतें अमूरतीक पेखियै।
अगुरु अलघुरूप होत गोत्रकर्म गयें,
अंतराय गयैतें अनंत बल लेखियै ॥५३॥

शब्दार्थ—निराबाध रस=साता असाताके क्षोभका अभाव। अटल अवगाहना=चारों गतिके भ्रमणका अभाव। अमूर्तीक=चर्म चक्षुओंके अगोचर। अगुरु अलघु=न ऊँच न नीच।

अर्थ—ज्ञानावरणीय कर्मके अभावसे केवलज्ञान, दर्शनावरणीय कर्मके अभावसे केवल दर्शन, वेदनीय कर्मके अभावसे निराबाधता, मोहनीय कर्मके अभावसे शुद्ध चारित्र, आयु कर्मके अभावसे अटल अवगाहना, नाम कर्मके अभावसे अमूर्तीकता, गोत्र कर्मके अभावसे अगुरु लघुत्व और अंतराय कर्मके नष्ट होनेसे अनंतवीर्य प्रगट होता है। इस प्रकार सिद्ध भगवानमें अष्ट कर्म रहित होने से अष्ट गुण होते हैं ॥ ५३ ॥

नवमें अधिकारका सार।

प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव बंध है और मिथ्यात्वका अभाव अर्थात् सम्यक्त्व, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष है, और मोक्ष आत्माका निजस्वभाव अर्थात् जीवकी कर्ममल रहित अवस्था है। वास्तवमें सोचा जावे तो मोक्ष होता ही नहीं है, क्योंकि निश्चय नयमें जीव बँधा हुआ नहीं है—अबंध है, और जब अबंध है तब छूटेगा ही क्या? जीव मोक्ष हुआ यह कथन व्यवहार मात्र है, नहीं तो वह हमेशा मोक्षरूप ही है।

यह बात जगत् प्रसिद्ध है कि जो मनुष्य दूसरोंके धनपर अपना अधिकार जमाता है, उस मूर्खको लोक अन्यायी कहते हैं। यदि वह अपनी ही सम्पत्तिका उपयोग करता है तो लोग उसे न्यायशील कहते हैं, इसी प्रकार जब आत्मा परद्रव्योंमें अहंकार करता है, तब वह अज्ञानी मिथ्यात्वी होता है, और जब ऐसी बद आदतको छोड़कर आध्यात्मिक विद्याका अभ्यास करता है तथा आत्मीक रसका स्वाद लेता है तब प्रमादका पतन करके पुण्य

पापका भेद हटा देता है और क्षपकश्रेणी चढ़कर केवली भगवान बनता है, पश्चात् थोडे ही समयमें अष्ट कर्म रहित और अष्ट गुण सहित सिद्ध पदको प्राप्त होता है।

मुख्य अभिप्राय ममता हटाने और समता सम्हालनेका है। जिस प्रकार कि सुनारके प्रसगसे सोनेकी नाना अवस्थाएँ होती हैं, परन्तु उसकी सुवर्णता कहीं नहीं चली जाती। जलानेसे फिर सुवर्णका सुवर्ण ही बना रहता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा अनात्माके संसर्गसे अनेक वेप धारण करता है, परन्तु उसकी चैतन्यता कहीं चली नहीं जाती है—वह तो ब्रह्मका ब्रह्म ही बना रहता है। इसलिये शरीरसे मिथ्या अभिमान हटाकर आत्म सत्ता और अनात्म सत्ताका पृथकरण करना चाहिये, ऐसा करनेसे थोड़ेही समयमें आधुनिक बूद मात्र ज्ञान स्वल्प कालहीमे समुद्ररूप परिणमन करता है और अविचल अखंड अक्षय अनभय और शुद्ध स्वरूप होता है।

सर्व विशुद्धि द्वार।

(१०)

प्रतिज्ञा। दोहा।

इति श्री नाटक ग्रथमें, कहौ मोख अधिकार।
अब बरनौं सछेपसौं, सर्व विसुद्धी द्वार॥ १॥

अर्थ—नाटक समयसार ग्रथके मोक्ष अधिकारकी इति श्री की, अब सर्व विशुद्धि द्वारको सक्षेपमें कहते हैं॥ १॥

सर्व उपाधि रहित शुभ आत्माका स्वरूप। सवैया इकतीसा।

कर्मनिकौ करता है भोगनिकौ भोगता है,
जाकी प्रभुतामें ऐसौ कथन अहित है।
जामें एक इद्री आदि पचधा कथन नांहि,
सदा निरदोष बंध मोखसौं रहित है॥
ग्यानकौ समूह ग्यान गम्य है सुभाव जाकौ,
लोक व्यापी लोकातीत लोकमें महित है।
सुद्ध वस सुद्ध चेतनाके रस अस भर्यौ,
ऐसौ हस परम पुनीतता सहित है॥ २॥

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूत प्रतिपदमय बन्धमोक्षप्रक्लृप्ते।
शुद्ध शुद्ध स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः॥ १॥

शब्दार्थ—प्रभुता=सामर्थ्य। अहित=बुराई करनेवाला। पंचधा=पाच प्रकारकी। लोकातीत=लोकसे परे। महित=पूजनीय। परम पुनीत=अत्यन्त पवित्र।

अर्थ—जिसकी सामर्थ्यके आगे कर्मका कर्ता है और कर्मका भोगता है ऐसा कहना हानिकारक है, पचेंद्रिय भेदका कथन जिसमे नहीं है, जो सर्व दोष रहित है, जो न कर्मसे बधता है न छूटता है, जो ज्ञानका पिंड और ज्ञानगोचर है, जो लोक व्यापी है, लोकसे परे है, ससारमे पूजनीय अर्थात् उपादेय है, जिसकी जाति शुद्ध है, जिसमे चैतन्य रस भरा हुआ है, ऐसा हस अर्थात् आत्मा परम पवित्र है ॥ २ ॥

पुन दोहा।

जो निहचै निरमल सदा, आदि मध्य अरु अंत।
सो चिद्रूप बनारसी, जगत मांहि जयवंत ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—निहचै=निश्चय नयसे। निर्मल=पवित्र। चिद्रूप=चैतन्य रूप।

अर्थ—जो निश्चय नयसे आदि, मध्य और अतमें सदैव निर्मल है, प० बनारसीदासजी कहते हैं कि वह चैतन्य पिंड आत्मा जगतमें सदा जयवंत रहै ॥ ३ ॥

---

१ व्यवहार नय जीवको कर्मका कर्ता भोगता कहता है, परंतु वास्तवमें जीव कर्मका कर्ता भोगता [illegible] अपने ज्ञान दर्शन स्वभावका कर्ता भोगता है।

वास्तवमें जीव कर्मका कर्ता भोगता नहीं है। चौपाई।

जीव करम करता नहि ऐसैं।
रस भोगता सुभाव न तैसें॥
मिथ्यामतिसों करता होई।
गए अग्यान अकरता सोई॥ ४॥

अर्थ—जीव पदार्थ वास्तवमें कर्मका कर्ता नहीं है और न कर्मरसका भोगता है, मिथ्यामतिसे कर्मका कर्ता भोगता होता है, अज्ञान हटनेसे कर्मका अकर्ता अभोगता ही होता है॥ ४॥

अज्ञानमें जीव कर्मका कर्ता है। सवैया इकतीसा।

निहचै निहारत सुभाव याहि आतमाकौ,
आतमीक धरम परम परकासना।
अतीत अनागत वरतमान काल जाकौ,
केवल स्वरूप गुन लोकालोक भासना॥
सोई जीव ससार अवस्था माहि करमकौ,
करतासौ दीसै लीए भरम उपासना।

कर्तृत्व न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्त्ताऽयं तदभावादकारकः॥ २॥
अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्ध स्वरसत
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवन।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्ध प्रकृतिभि
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः॥ ३॥

यहै महा मोहको पसार यहै मिथ्याचार,
यहै भौ विकार यह विवहार वासना ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—निहारत=देखनेसे। उपासना=सेवा। पसार=विस्तार। मिथ्याचार=निजस्वभावसे विपरीत आचरण। भौ=जन्ममरणरूप संसार। व्यवहार=किसी निमित्तके वशसे एक पदार्थको दूसरे पदार्थरूप जाननेवाले ज्ञानको व्यवहार नय कहते हैं, जैसे—मिट्टीके घड़ेको घीके निमित्तसे घीका घड़ा कहना।

अर्थ—निश्चयनयसे देखो तो इस आत्माका निज स्वभाव परम प्रकाशरूप है और जिसमें लोकालोकके छहों द्रव्योंके भूत भविष्यत वर्त्तमान त्रिकालवर्ती अनंत गुण पर्याय प्रतिभासित होती हैं। वही जीव संसारी दशामें मिथ्यात्वकी सेवा करनेसे कर्मका कर्ता दिखता है, सो यह मिथ्यात्वकी सेवा मोहका विस्तार है, मिथ्याचरण है, जन्ममरणरूप ससारका विकार है, व्यवहारका विषयभूत आत्माका अशुद्ध स्वभाव है ॥ ५ ॥

जैसे जीव कर्मका अकर्ता है वैसे अभोगता भी है। चौपाई।

यथा जीव करता न कहावै।
तथा भोगता नाम न पावै ॥
है भोगी मिथ्यामति मांही।
गयें मिथ्यात भोगता नांही ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जीव कर्मका कर्ता नहीं है उसी प्रकार भोगता भी नहीं है, मिथ्यात्वके उदयमें कर्मका भोगता है, मिथ्यात्वके अभावमें भोगता नहीं है ॥ ६ ॥

अज्ञानी जीव विषयोंका भोगता है ज्ञानी नहीं है। सवैया इकतीसा।

जगवासी अग्यानी त्रिकाल परजाइ बुद्धी,
सो तो विषै भोगनिकौ भोगता कहायौ है।
समकिती जीव जोग भोगसौं उदासी तातैं,
सहज अभोगता गरंथनिमें गायौ है॥
याही भांति वस्तुकी व्यवस्था अवधारि बुध,
परभाउ त्यागि अपनौ सुभाउ आयौ है।
निरविकलप निरुपाधि आतम अराधि,
साधि जोग जुगति समाधिमें समायौ है॥७

शब्दार्थ—जगवासी=संसारी। विषै (विषय)=पंच इंद्रिय और मनके भोग। गरंथनिमें=शास्त्रोंमें। अवधारि=निर्णय करके। बुध=ज्ञानी। जोग जुगति=योग निग्रहका उपाय।

अर्थ—शास्त्रोंमें मनुष्य आदि पर्यायोंसे सदा काल अहंबुद्धि रखनेवाले अज्ञानी संसारी जीवको अपने स्वरूपका अज्ञाता होनेसे विषय भोगोंका भोगता कहा है, और ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीवको भोगोंसे विरक्त भाव रखनेके कारण विषय भोगते हुए भी अभोगता कहा है। ज्ञानी लोग इस प्रकार वस्तु स्वरूपका निर्णय करके विभाव भाव छोड़कर स्वभाव ग्रहण करते हैं, और विकल्प

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्ताऽयं तदभावादवेदकः॥४॥

तथा उपाधि रहित आत्माकी आराधना वा योग निग्रह करनेका मार्ग ग्रहण करके निज स्वरूपमें लीन होते हैं ॥ ७ ॥

ज्ञानी कर्मके कर्ता भोगता नहीं है इसका कारण। सवैया इकतीसा।

चिनमुद्राधारी ध्रुव धर्म अधिकारी गुन,
रतन भंडारी अपहारी कर्म रोगकौ ।
प्यारौ पंडितनकौ हुस्यारौ मोख मारगमैं,
न्यारौ पुदगलसौं उज्यारौ उपयोगकौ ॥
जानै निज पर तत्त रहै जगमैं विरत्त,
गहै न ममत्त मन वच काय जोगकौ ।
ता कारन ग्यानी ग्यानावरनादि करमकौ,
करता न होइ भोगता न होइ भोगकौ ॥८॥

शब्दार्थ—चिमुद्रा=चैतन्य चिह्न। ध्रुव=नित्य। अपहारी कर्म रोगकौ=कर्मरूपी रोगका नष्ट करनेवाला। हुस्यारौ (होश्यार)=प्रवीण। उज्यारौ=प्रकाश। उपयोग=ज्ञानदर्शन। तत्त (तत्त्व)=निजस्वरूप। विरत (विरक्त)=वैरागी। ममत्त (ममत्व)=अपनापन।

अर्थ—चैतन्य चिह्नका धारक, अपने नित्य स्वभावका स्वामी, ज्ञान आदि गुणरूप रत्नोंका भंडार, कर्मरूप रोगोंका नष्ट करनेवाला, ज्ञानी लोगोंका प्रिय, मोक्षमार्गमें कुशल, शरीर

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥ ५ ॥

आदि पुद्गलोंसे पृथक, ज्ञानदर्शनका प्रकाशक, निज पर तत्त्वका ज्ञाता, समारसे विरक्त, मन वचन कायके योगोंसे ममत्व रहित होनेके कारण ज्ञानी जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्ता और भोगोंका भोगता नहीं होता है ॥ ८ ॥

दोहा।

निरभिलाष करनी करै, भोग अरुचि घट मांहि।
तातैं साधक सिद्धसम, करता भुगता नाहि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—निरभिलाष=इच्छा रहित। अरुचि=अनुरागका अभाव। साधक=मोक्षका साधक सम्यग्दृष्टी जीव। भुगता (भोक्ता)=भोगनेवाला।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव इच्छा रहित क्रिया करते हैं और अतरगमें भोगोंसे विरक्त रहते हैं, इससे वे सिद्ध भगवानके समान मात्र ज्ञाता दृष्टा हैं, कर्ता भोगता नहीं हैं ॥ ९ ॥

अज्ञानी जीव कर्मोंका कर्ता भोगता है इसका कारण। कवित्त।

ज्यौं हिय अध विकल मिथ्यात धर,
मृषा सकल विकलप उपजावत।
गहि एकत पक्ष आतमकौ,
करता मानि अधोमुख धावत ॥

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥ ६ ॥
ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसावृताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥ ७ ॥

त्यों जिनमती दरवचारित्री कर,
कर करनी करतार कहावत ।
वंछित मुकति तथापि मूढमति,
विन समकित भव पार न पावत ॥ १० ॥

अर्थ—हृदयका अधा अज्ञानी जीव मिथ्यात्वसे व्याकुल होकर मनमे अनेक प्रकारके झूठे विकल्प उत्पन्न करता है, और एकान्त पक्ष ग्रहण करके आत्माको कर्मका कर्ता मानके नीच गतिका पथ पकडता है। वह व्यवहार सम्यक्त्वी भावचारित्रके विना बाह्य चारित्र स्वीकार करके शुभ क्रियासे कर्मका कर्ता कहलाता है। वह मूर्ख मोक्षको तो चाहता है परन्तु निश्चय सम्यक्त्वके विना संसारसमुद्रसे नहीं तरता ॥ १० ॥

वास्तवमें जीव कर्मका अकर्ता है इसका कारण। चौपाई।

चेतन अंक जीव लखि लीन्हा ।
पुदगल कर्म अचेतन चीन्हा ॥
वासी एक खेतके दोऊ ।
जदपि तथापि मिलै नहि कोऊ ॥ ११ ॥

अर्थ—जीवका चैतन्य चिह्न जान लिया और पुद्गल कर्मको अचेतन पहिचान लिया। यद्यपि ये दोनो एक क्षेत्रावगाही हैं तौ भी एक दूसरेसे नहीं मिलते ॥ ११ ॥

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयो ।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥ ८ ॥

पुन दोहा।

निज निज भाव क्रियासहित, व्यापक व्यापि न कोइ।
कर्त्ता पुद्गल करमकौ, जीव कहांसौं होइ ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—व्यापक=जो व्यापै—जो प्रवेश करै। व्यापि=जिसमें व्यापै—जिसमें प्रवेश करे।

अर्थ—दोनों द्रव्य अपने अपने गुण पर्यायमें रहते हैं, कोई किसीका व्याप्य व्यापक नहीं है अर्थात् जीवमें न तो पुद्गलका प्रवेश होता है और न पुद्गलमें जीवका प्रवेश होता है। इससे जीव पदार्थ पौद्गलिक कर्मोंका कर्त्ता कैसे हो सकता है? ॥१२॥

अज्ञानमें जीव कर्मका कर्त्ता और ज्ञानमें अकर्त्ता है। सवैया इकतीसा।

जीव अरु पुदगल करम रहैं एक खेत,
जदपि तथापि सत्ता न्यारी न्यारी कही है।
लक्षन स्वरूप गुन परजै प्रकृति भेद,
दुहूमैं अनादिहीकी दुविधा ह्वै रही है ॥
एतेपर भिन्नता न भासै जीव करमकी,
जौलौं मिथ्याभाव तौलौं ओंधि वाउ वही है।
ग्यानके उदोत होत ऐसी सूधी द्रिष्टि भई,
जीव कर्म पिंडकौ अकरतार सही है ॥१३॥

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्ध ।
तत्कर्तृकर्म्मघटनाऽस्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृमुनयश्च जनाः स्वतत्त्व ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—सत्ता=अस्तित्व। दुविधा=भेदभाव। औंधि=उल्टी। सूधीदृष्टि=सच्चा श्रद्धान। सही=सचमुचमें।

अर्थ—यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म एक क्षेत्रावगाह स्थित हैं तौ भी दोनोंकी जुदी जुदी सत्ता है। उनके लक्षण, स्वरूप, गुण, पर्याय, स्वभावमें अनादिका ही भेद है। इतनेपर भी जब तक मिथ्या भावका उल्टा विचार चलता है तब तक जीव पुद्गलकी भिन्नता नहीं भासती, इससे अज्ञानी जीव अपनेको कर्मका कर्ता मानता है, पर ज्ञानका उदय होते ही ऐसा सत्य श्रद्धान हुआ कि सचमुचमें जीव कर्मका कर्ता नहीं है।

विशेष—जीवका लक्षण उपयोग है, पुद्गलका स्पर्श रस गंध वर्ण है। जीव अमूर्तीक है, पुद्गल मूर्तीक है। जीवके गुण दर्शन ज्ञान सुख आदि हैं, पुद्गलके गुण स्पर्श रस गंध वर्ण आदि हैं। जीवकी पर्यायें नर नारक आदि हैं, पुद्गलकी पर्यायें ईंट पत्थर पृथ्वी आदि हैं। जीव अबंध और अखंड द्रव्य है, पुद्गलमें स्निग्ध रूक्षता है। इससे उसके परमाणु मिलते बिछुरते हैं। भाव यह है कि दोनोंके द्रव्य क्षेत्र काल भावका चतुष्टय जुदा जुदा है और जुदी जुदी सत्ता है। दोनों अपने ही गुण पर्यायोंके कर्ता भोगता हैं, कोई किसी दूसरेका कर्त्ता भोगता नहीं है॥ १३॥

पुन दोहा।

एक वस्तु जैसी जु है, तासौं मिलै न आन।
जीव अकरता करमकौ, यह अनुभौ परवांन॥१४॥

अर्थ—जो पदार्थ जैसा है वह वैसा ही है, उसमें अन्य पदार्थ नहीं मिल सकता, इससे जीव कर्मका अकर्त्ता है, यह विज्ञानसे सर्वथा सत्य है ॥ १४ ॥

अज्ञानी जीव अशुभ भावोंका कर्ता होनेसे भावकर्मका कर्ता है।

चौपाई।

*जो दुरमती विकल अग्यानी।
जिन्हि सु रीति पर रीति न जानी ॥
माया मगन भरमके भरता।
ते जिय भाव करमके करता ॥ १५ ॥

अर्थ—जो दुर्बुद्धिसे व्याकुल और अज्ञानी हैं वे निज परणति और पर परणतिको नहीं जानते, मायामें मग्न हैं और भ्रममें भूले हैं इससे वे भाव कर्मके कर्ता हैं ॥ १५ ॥

जे मिथ्यामति तिमिरसौं, लखै न जीव अजीव।
तेई भावित करमके, करता होंहि सदीव ॥ १६ ॥
जे असुद्ध परनति धरें, करें अहं परवान।
ते असुद्ध परिनामके, करता होहि अजान ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मिथ्याज्ञानके अंधकारसे जीव अजीवको नहीं जानते वे ही सदा भाव कर्मके कर्ता हैं ॥ १६ ॥ जो विभाव

* ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥ १० ॥

परणतिके कारण परपदार्थोंमें अहंबुद्धि करते हैं वे अज्ञानी अशुद्ध भावोंके कर्ता होनेसे भाव कर्मोंके कर्ता हैं ॥ १७ ॥

इसके विषयमें शिष्यका प्रश्न। दोहा।

शिष्य कहै प्रभु तुम कह्यौ, दुविधि करमकौ रूप।
दरव कर्म पुदगल मई, भावकर्म चिद्रूप ॥ १८ ॥
करता दरवित करमकौ, जीव न होइ त्रिकाल।
अब यह भावित करम तुम, कहौ कौनकी चाल॥ १९
करता याकौ कौन है, कौन करै फल भोग।
कै पुदगल कै आतमा, कै दुहुंकौ संजोग? ॥ २० ॥

अर्थ—शिष्य प्रश्न करता है कि हे स्वामि! आपने कहा कि कर्मका स्वरूप दो प्रकारका है, एक पुद्गलमय द्रव्यकर्म है और दूसरे चैतन्यके विकार भावकर्म हैं ॥ १८ ॥ आपने यह भी कहा कि जीव, द्रव्यकर्मोंका कर्त्ता कभी त्रिकालमें भी नहीं हो सकता, तो अब आप कहिये कि भावकर्म किसकी परणति है? ॥ १९ ॥ इन भावकर्मोंका कर्त्ता कौन है? और उनके फलका भोगता कौन है? भावकर्मोंका कर्त्ता भोगता पुद्गल है या जीव है, या दोनोंके संयोगसे कर्त्ता भोगता है? ॥ २० ॥

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो
रज्ञाया प्रकृते स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गात्कृति ।
नैकस्या प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्त्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गल ॥ ११ ॥

इसपर श्रीगुरु समाधान करते हैं। दोहा।

क्रिया एक करता जुगल, यों न जिनागम मांहि।
अथवा करनी औरकी, और करै यों नांहि ॥ २१ ॥
करै और फल भोगवै, और बनै नहि एम।
जो करता सो भोगता, यहै जथावत जेम ॥ २२ ॥
भावकरम करतव्यता, स्वयसिद्ध नहि होइ।
जो जगकी करनी करै, जगवासी जिय सोइ ॥२३॥
जिय करता जिय भोगता, भावकरम जियचाल।
पुद्गल करै न भोगवै, दुविधा मिथ्याजाल ॥ २४ ॥
तातैं भावित करमकौ, करै मिथ्याती जीव।
सुख दुख आपद सपदा, भुजै सहज सदीव ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—जुगल (युगल)=दो। जिनागम (जिन+आगम)=जिनराजका उपदेश। जथावत=वास्तवमें। कर्तव्यता=करतूति। स्वयंसिद्ध=अपने आप। जगवासी जिय=ससारी जीव। जियचाल=जीवकी परणति। दुविधा=दोनों ओरका झुकाव। आपद=इष्ट वियोग, अनिष्टसयोग। संपदा=अनिष्ट वियोग, इष्ट संयोग। भुजै=भोगै।

अर्थ—क्रिया एक और कर्त्ता दो ऐसा कथन जिनराजके आगममें नहीं है, अथवा किसीकी क्रिया कोई करे, ऐसा भी नहीं हो सकता ॥२१॥ क्रिया कोई करे और फल कोई भोगे ऐसा जैन बैनमें नहीं है, क्योंकि जो कर्त्ता होता है, वही वास्तवमें

भोगता होता है ॥ २२ ॥ भावकर्मका उत्पाद अपने आप नहीं होता, जो संसारकी क्रिया—हलन चलन चतुर्गति भ्रमण आदि करता है, वही संसारी जीव भावकर्मका कर्त्ता है ॥ २३ ॥ भाव कर्मोंका कर्त्ता जीव है, भावकर्मोंका भोगता जीव है, भावकर्म जीवकी विभाव परणति हैं। इनका कर्त्ता भोगता पुद्गल नहीं है, और पुद्गल तथा दोनोंका मानना मिथ्या जंजाल है ॥ २४ ॥ इससे स्पष्ट है कि भावकर्मोंका कर्त्ता मिथ्यात्वी जीव है और वही उनके फल सुख दुख वा संयोग वियोगको सदा भोगता है॥२५॥

कर्मके कर्त्ता भोगता बाबत एकांत पक्षपर विचार। सवैया इकतीसा।

केई मूढ़ विकल एकंत पच्छ गहे कहै,
आतमा अकरतार पूरन परम है।
तिन्हिसौं जु कोऊ कहै जीव करता है तासौं,
फेरि कहैं करमकौ करता करम है॥
ऐसे मिथ्यामगन मिथ्याती ब्रह्मघाती जीव,
जिन्हिकैं हिए अनादि मोहकौ भरम है।
तिन्हिकौ मिथ्यात दूर करिवैकौं कहैं गुरु,
स्यादवाद परवांन आतम धरम है॥ २६॥

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥ १२॥

शब्दार्थ—विकल=दुखी। एकान्त पक्ष=पदार्थके एक धर्मको उसका स्वरूप माननेका हठ। मलघाती=अपने जीवका अहित करनेवाला।

अर्थ—अज्ञानसे दुखी अनेक एकान्तवादी कहते हैं कि आत्मा कर्मका कर्त्ता नहीं है, वह पूर्ण परमात्मा है। और उनसे कोई कहे कि कर्मोंका कर्त्ता जीव है, तो वे एकान्तपक्षी कहते हैं कि कर्मका कर्त्ता कर्म ही है। ऐसे मिथ्यात्वमें पगे हुए मिथ्यात्वी जीव आत्माके घातक हैं, उनके हृदयमें अनादि कालसे मोहकर्म जनित भूल भरी हुई है। उनका मिथ्यात्व दूर करनेके लिये श्रीगुरुने स्याद्वादरूप आत्माका स्वरूप वर्णन किया है ॥२६॥

स्याद्वादमें आत्माका स्वरूप। दोहा।

चेतन करता भोगता, मिथ्या मगन अजान।
नहि करता नहि भोगता, निहचै सम्यकवान॥२७॥

अर्थ—मिथ्यात्वमें पगा हुआ अज्ञानी जीव कर्मका कर्त्ता भोगता है, निश्चयका अवलम्बन लेनेवाला सम्यक्त्वी कर्मका न करता है न भोगता है ॥ २७ ॥

इस विषयका एकान्तपक्ष खंडन करनेवाले स्याद्वादका उपदेश।
सवैया इकतीसा।

***जैसें सांख्यमती कहै अलख अकरता है,**
सर्वथा प्रकार करता न होइ कबहीं।

---

१ सांख्यमती आदि।

* मा कर्त्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्त्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्द्ध्वं तूद्धतबोधधाम नियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥ १३ ॥

तैसें जिनमती गुरुमुख एक पक्ष सुनि,
याहि भांति मानै सो एकंत तजौ अवही॥
जौलों दुरमती तौलो करमकौ करता है,
सुमती सदा अकरतार कह्यौ सवहीं।
जाके घटि ग्यायक सुभाउ जग्यौ जवहीसौं,
सो तौ जगजालसौं निरालौ भयो तवहीं २८

शब्दार्थ—जिनमती=जिनराज कथित स्याद्वाद विद्याके ज्ञाता।

अर्थ—जिस प्रकार सांख्यमती कहते हैं कि आत्मा अकर्त्ता है, किसी भी हालतमें कभी कर्ता नहीं हो सकता। जैनमती भी अपने गुरुके मुखसे एक नयका कथन सुनकर इसी प्रकार मानते हैं, पर इस एकान्तवादको अभी ही छोड दो, सत्यार्थ बात यह है कि जब तक अज्ञान है, तब तक ही जीव कर्मका कर्त्ता है, सम्यग्ज्ञानकी सब हालतोंमें सदैव अकर्त्ता कहा है। जिसके हृदयमें जबसे ज्ञायक स्वभाव प्रगट हुआ है वह तभीसे जगतके जजालसे निराला हुआ—अर्थात् मोक्षके सन्मुख हुआ है ॥ २८ ॥

इस विषयमें बौद्धमतवालोंका विचार। दोहा।

बौध छिनकवादी कहै, छिनभंगुर तन मांहि।
प्रथम समय जो जीव है, दुतिय समय सो नांहि ॥२९

क्षणिकमिदमिहैक कल्पयित्वात्मतत्त्व
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोह तस्य नित्यामृतौघै
स्वयमयमभिषिञ्चश्चिच्चमत्कार एव ॥ १४ ॥

तातें मेरे मतविषैं, करै करम जो कोइ।
सो न भोगवै सरवथा, और भोगता होइ ॥ ३० ॥

अर्थ—क्षणिकवादी बौद्धमतवाले कहते हैं कि जीव शरीरमें क्षणभर रहता है, सदैव नहीं रहता। प्रथम समयमें जो जीव है वह दूसरे समयमें नहीं रहता ॥ २९ ॥ इससे मेरे विचारमें जो कर्म करता है वह किसी हालतमें भी भोगता नहीं हो सकता, भोगनेवाला और ही होता है ॥ ३० ॥

बौद्धमतवालोंका एकान्त विचार दूर करनेको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। दोहा।

यह एकंत मिथ्यात पख, दूर करनकै काज।
चिद्विलास अविचल कथा, भाषै श्रीजिनराज॥३१॥
बालापन काहू पुरुष, देख्यौ पुर इक कोइ।
तरुन भए फिरिकै लख्यौ, कहै नगर यह सोइ॥३२॥
जो दुहु पनमैं एक थौ, तौ तिनि सुमिरन कीय।
और पुरुषको अनुभव्यौ, और न जानैं जीय ॥३३॥
जब यह वचन प्रगट सुन्यौ, सुन्यौ जैनमत सुद्ध।
तब इकतवादी पुरुष, जैन भयौ प्रतिबुद्ध ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह एकान्तवादकी मिथ्यापक्ष हटानेके लिये श्रीमज्जिनेन्द्रदेव आत्माके नित्य स्वरूपका कथन करते हुए कहते

१ एक सेकिण्डमें असंख्य समय होते हैं।

हैं ॥ ३१ ॥ कि किसी मनुष्यने बालकपनमे कोई नगर देखा, और फिर कुछ दिनोंके बाद जवानीकी अवस्थामे वही नगर देखा तो कहता है कि यह वही नगर है जो पूर्वमें देखा था ॥ ३२ ॥ दोनों अवस्थाओंमे वह एक ही जीव था तब तो उसने स्मरण किया, किसी दूसरे जीवका आना हुआ वह नहीं जान सकता था ॥ ३३ ॥ जब इस प्रकारका स्पष्ट कथन सुना और सच्चे जैन मतका उपदेश मिला तब वह एकान्तवादी मनुष्य प्रतिबुद्ध हुआ और उसने जैनमत अंगीकार किया ॥ ३४ ॥

बौद्ध भी जीव द्रव्यको क्षण भंगुर कैसे मान बैठे इसका कारण बतलाते हैं । सवैया इकतीसा ।

एक परजाइ एक समैमें विनसि जाइ,
दूजी परजाइ दूजे समै उपजति है ।
ताकौ छल पकरिकैं बौध कहै समै समै,
नवौ जीव उपजै पुरातनकी छति है ॥
तातैं मानै करमकौ करता है और जीव,
भोगता है और वाके हिए ऐसी मति है ।
परजौ प्रवांनकौं सरवथा दरब जानैं,
ऐसे दुरबुद्धीकौं अवसि दुरगति है ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—परजाइ=अवस्था । पुरातन=प्राचीन । छति (क्षति)= नाश । मति=समझ । परजौ प्रवान=हालतोंके अनुसार । दुरबुद्धी=मूर्ख ।

वृत्त्यांशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥ १५ ॥

अर्थ—जीवकी एक पर्याय एक समयमें नष्ट होती है और दूसरे समयमें दूसरी पर्याय उपजती है, और जैनमतका सिद्धान्त भी है, सो उसी बातको पकड़के बौद्धमत कहता है कि क्षण क्षणपर नया जीव उपजता है, और पुराना विनशता है। इससे वे मानते है कि कर्मका कर्त्ता और जीव है, तथा भोगता और ही है, सो उनके चित्तमें ऐसी उलटी समझ बैठ गई है। श्रीगुरु कहते हैं कि जो पर्यायके अनुसार ही द्रव्यको सर्वथा अनित्य मानता है ऐसे मूर्खकी अवश्य कुगति होती है।

विशेष—क्षणिकवादी जानते हैं कि मांस भक्षण आदि अनाचारमें वर्तनेवाला जीव है, वह नष्ट हो जावेगा, अनाचारमें वर्तनेवालेको तो कुछ भोगना ही नहीं पड़ेगा, इससे मौज करते हैं और मनमाने वर्तते हैं। परन्तु किया हुआ कर्म भोगना ही पड़ता है। सो नियमसे वे अपने आत्माको कुगतिमें पटकते हैं॥ ३५॥

दुर्बुद्धीकी दुर्गतिही होती है। दोहा।

कहै अनातमकी कथा, चहै न आतम सुद्धि।
रहै अध्यातमसौं विमुख, दुराराधि दुरबुद्धि॥३६॥
दुरबुद्धी मिथ्यामती, दुरगति मिथ्याचाल।
गहि एकंत दुरबुद्धिसौं, मुकत न होइ त्रिकाल॥३७

शब्दार्थ—अनातम=अजीव। अध्यातम=आत्मज्ञान। विमुख=विरुद्ध। दुराराधि=किसी भी तरहसे न समझनेवाला। दुर्बुद्धि=मूर्ख।

अर्थ—मूर्ख मनुष्य अनात्माकी चरचा किया करता है, आत्माका अभाव कहता है—आत्मशुद्धि नहीं चाहता। वह आत्मज्ञानसे पराङ्मुख रहता है, बहुत परिश्रम पूर्वक समझानेसे भी नहीं समझता ॥ ३६ ॥ मिथ्यादृष्टी जीव अज्ञानी है, और उसकी मिथ्या प्रवृत्ति दुर्गतिका कारण है, वह एकान्तपक्ष ग्रहण करता है, और ऐसी मूर्खतासे वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

दुर्बुद्धीकी भूलपर दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

कायासों विचारै प्रीति मायाहीसों हारि जीति,
लियै हठ रीति जैसें हारिलकी लकरी।
चंगुलके जोर जैसें गोह गहि रहै भूमि,
त्यौंही पाइ गाडै पै न छाडै टेक पकरी ॥
मोहकी मरोरसों भरमको न छोर पावै,
धावै चहुं वोर ज्यौं वढावै जाल मकरी।
ऐसी दुरवुद्धि भूली झूठके झरोखे झूली,
फूली फिरै ममता जंजीरनिसों जकरी ॥३८

शब्दार्थ—काया=शरीर। हठ=दुराग्रह। गहि रहै=पकड़ रक्खे। लकरी=लाठी। चुगल=पकड़। पाइ गाडै=अड़ जाता है। टेक=हठ। धावै=भटके।

अर्थ—अज्ञानी जीव शरीरसे अनुराग रखता है, धनकी कमीमें हार और धनकी बढ़तीमें विजय मानता है, हठीला तो इतना होता

है कि जिस प्रकार हरियल पक्षी अपने पावसे लकडीको खूब मजबूत पकडता है, अथवा जिस प्रकार गोह[1] जमीन वा दीवालको पकडकर रह जाता है, उसी प्रकार वह अपनी कुटेव नहीं छोड़ता—उसी पर डटा रहता है। मोहके झकोरोंसे उसके भ्रमकी थाह नहीं मिलती अर्थात् उसका मिथ्यात्व अनन्त होता है, वह चतुर्गतिमें भटकता हुआ मकडीकासा जाल फैलाता है, इस प्रकार उसकी मूर्खता अज्ञानसे झूठके मार्गमें झूल रही है, और ममताकी साँकलोंसे जकडी हुई बढ़ रही है ॥ ३८ ॥

दुर्बुद्धीकी परणति। सवैया इकतीसा।

बात सुनि चौंकि उठे बातहीसौं भौंकि उठे,
बातसौं नरम होइ बातहीसौं अकरी।
निंदा करै साधुकी प्रसंसा करै हिंसककी,
साता मानै प्रभुता असाता मानै फकरी॥
मोख न सुहाइ दोष देखै तहां पैठि जाइ,
कालसौं डराइ जैसे नाहरसौं बकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूली झूठके झरोखे झूली,
फूली फिरै ममता जंजीरनिसौं जकरी ॥ ३९ ॥

१ गोह एक प्रकारका जानवर होता है। उसे चोर लोग पासमें रखते हैं, जब उन्हें ऊँचे महलों मंदिरोंपर चढ़ना होता है तब वे गोहकी कमरसे लंबी रस्सी बाधकर उसे ऊपरको फेंक देते हैं तो वह ऊपर जमीन वा भीतको खूब मजबूत पकड लेता है और चोर लटकती हुई रस्सीको पकडकर ऊपर चढ जाते हैं।

शब्दार्थ—चौंकि उठै=तेज पड़े। भौंकि उठै=कुत्तेके समान भूखने लगे। अकरी=ऐंठ जावे। प्रभुता=बड़प्पन। फकरी (फकीरी)=गरीबी। काल=मृत्यु। नाहर=बाघ, सिंह।

अर्थ—अज्ञानी जीव हिताहित नहीं विचारता, बात सुनते ही तेज पड़ने लगता है, बात ही सुनकर कुत्तेके समान भौंकने लगता है, मन रुचिती बात सुनकर नरम हो जाता है, और असुहाती बात हो तो ऐंठ जाता है। मोक्षमार्गी साधुओंकी निन्दा करता है, हिंसक अधर्मियोंकी प्रशंसा करता है, साताके उदयमें अपनेको महान और असाताके उदयमें तुच्छ गिनता है। उसे मोक्ष नहीं सुहाता, कहीं दुर्गुण दिखाई देवे तो उन्हें शीघ्र अंगीकार करलेता है। शरीरमें अहंबुद्धि होनेके कारण मौतसे तो ऐसा डरता है जैसे बाघसे बकरी डरती है, इस प्रकार उसकी मूर्खता अज्ञानसे झूठके मार्गमें झूल रही है और ममताकी साँकलोंसे जकड़ी हुई बढ़ रही है ॥ ३९ ॥

अनेकान्तकी महिमा। कवित्त।

केई कहैं जीव क्षनभंगुर, केई कहैं करम करतार।
केई करमरहित नित जपहिं, नय अनंत नानापरकार॥
जे एकांत गहैं ते मूरख, पंडित अनेकांत पख धार।

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरितै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥ १६ ॥

जैसैं भिन्न भिन्न मुकताहल,
गुनसौं गहत कहावै हार ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—छन भंगुर=अनित्य। जपहिं=कहते हैं। एकान्त=एक ही नय। अनेकांत=अपेक्षित अनेक नय। पच्छ धार=पक्ष ग्रहन करना। मुकताहल (मुक्ताफल)=मोती। गुन=सूत।

अर्थ—बौद्धमती जीवको अनित्य ही कहते हैं, मीमांसक-मतवाले जीवको कर्मका करता ही कहते है, सांख्यमती जीवको कर्मरहित ही कहते है। ऐसे अनेक मतवाले एक एक धर्मको ग्रहण करके अनेक प्रकारका कहते है, पर जो एकान्त ग्रहण करते है वे मूर्ख है, विद्वान् लोग अनेकांतको स्वीकार करते है। जिस प्रकार मोती जुदा जुदा होते है, पर सूतमें गुहनेसे हार बन जाता है। उसी प्रकार अनेकांतसे पदार्थकी सिद्धि होती है, और जिस प्रकार जुदा जुदा मोती हारका काम नहीं देते, उसी प्रकार एक नयसे पदार्थका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, बल्कि विपरीत हो जाता है ॥ ४० ॥

पुन । दोहा।

यथा सूत संग्रह विना, मुकत माल नहि होइ।
तथा स्यादवादी विना, मोख न साधै कोइ ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—संग्रह=इकट्ठे। मुकत माल=मोतियोंकी माला।

अर्थ—जैसे सूतमे पोये बिना मोतियोंकी माला नहीं बनती वैसेही स्यादवादीके बिना कोई मोक्षमार्ग नहीं साध सकता ॥४१॥

पुनः। दोहा।

पद सुभाव पूरव उदै, निहचै उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात पथ, सरवंगी सिव चाल॥ ४२॥

शब्दार्थ—पद=पदार्थ। सुभाव (स्वभाव)=निजधर्म। उद्यम=पुरुषार्थ, तदबीर। काल=समय। पक्षपात=एक ही नयका ग्रहण। सरवंगी=अनेक नयका ग्रहण।

अर्थ—कोई पदार्थके स्वभावही को, कोई पूर्व कर्मके उदयहीको, कोई निश्चयमात्रको, कोई पुरुषार्थको और कोई कालहीको मानते हैं, पर एकही पक्षका हठ ग्रहण करना मिथ्यात्व है, और अपेक्षित सबहीको स्वीकार करना सत्यार्थ है॥ ४२॥

भावार्थ—कोई कहता है कि जो कुछ होता है, सो स्वभाव (नेचरल) हीसे अर्थात् प्रकृतिसे होता है, कोई कहते हैं कि जो कुछ होता है, वह तकदीरसे होता है, कोई कहते हैं कि एक ब्रह्म ही है, न कुछ नष्ट होता है, न कुछ उत्पन्न होता है, कोई कहते हैं कि तदबीर ही प्रधान है, कोई कहते हैं कि जो कुछ करता है सो काल ही करता है, परन्तु इन पाँचोंमेंसे एक किसीहीको मानना, शेष चारका अभाव करना एकान्त है।

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं(भर्तुं) न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्येव नः॥१७॥

छहों मतवालोंका जीव पदार्थपर विचार। सवैया इकतीसा।

एक जीव वस्तुके अनेक गुन रूप नाम,
निजजोग सुद्ध परजोगसौं असुद्ध है।
वेदपाठी ब्रह्म कहै मीमांसक कर्म कहैं,
सिवमती सिव कहैं बौद्ध कहैं बुद्ध है॥
जैनी कहैं जिन न्यायवादी करतार कहैं,
छहों दरसनमै वचनकौ विरुद्ध है।
वस्तुकौ सुरूप पहिचानै सोई परवीन,
वचनकै भेद भेद मानै सोई सुद्ध है॥४३॥

शब्दार्थ—निजजोग=निजस्वरूपसे। परजोग=अन्य पदार्थके सयोगसे। दरसन (दर्शन)=मत। वस्तुकौ सुरूप=पदार्थका निज स्वभाव। परवीन (प्रवीण)=पडित।

अर्थ—एक जीव पदार्थके अनेक गुण, अनेक रूप, अनेक नाम हैं, वह परपदार्थके सयोग विना अर्थात् निजस्वरूपसे शुद्ध है और परद्रव्यके सयोगसे अशुद्ध है। उसे वेदपाठी अर्थात् वेदान्ती ब्रह्म कहते है, मीमासक कर्म कहते हैं, शैवलोग वैशेषिक मतवाले शिव कहते हैं, बौद्ध मतवाले बुद्ध कहते है, जैनी लोग जिन कहते हैं, नैयायिक कर्ता कहते है। इस प्रकार छहों मतके कथनमें वचनका विरोध है। परन्तु जो पदार्थका निज स्वरूप जानता है वही पण्डित है, और जो वचनके भेदसे पदार्थमें भेद मानता है वही मूर्ख है॥ ४३॥

पाँचों मतवाले एकान्ती और जैनी स्याद्वादी हैं। सवैया इकतीसा।

वेदपाठी ब्रह्म मांनि निहचै सुरूप गहै,
मीमांसक कर्म मांनि उदैमें रहत है।
बौद्धमती बुद्ध मांनि सूच्छम सुभाव साधै,
सिवमती सिवरूप कालकौ कहत है॥
न्याय ग्रंथके पढैया थापैं करतार रूप,
उद्दिम उदीरि उर आनंद लहत है।
पांचौं दरसनि तेतौ पोषैं एक एक अंग,
जैनी जिनपंथी सरवंगी नै गहत है॥४४॥

शब्दार्थ—उद्दिम=क्रिया। आनद=हर्ष। पोषैं=पुष्ट करें। जिन पंथी=जैन मतके उपासक। सरवंगी नै=सर्वनय-स्याद्वाद।

अर्थ—वेदान्ती जीवको निश्चय नयकी दृष्टिसे देखकर उसे सर्वथा ब्रह्म कहता है, मीमासक जीवके कर्म उदयकी तरफ दृष्टि देकर उसे कर्म कहता है, बौद्धमती जीवको बुद्ध मानता है और उसका क्षणभंगुर सूक्ष्म स्वभाव सिद्ध करता है, शैव जीवको शिव मानता है और शिवको कालरूप कहता है, नैयायिक जीवको क्रियाका कर्त्ता देखकर आनंदित होता है और उसे कर्त्ता मानता है। इस प्रकार पाँचो मतवाले जीवके एक एक धर्मकी पुष्टि करते हैं, परन्तु जैनधर्मके अनुयायी जैनी लोग सर्व नय का विषयभूत आत्मा जानते हैं, अर्थात् जैनमत जीवको अपेक्षासे ब्रह्म भी मानता है, कर्मरूप भी मानता है, अनित्य भी मानता है, शिवस्वरूप भी मानता है, कर्त्ता भी मानता है, निष्कर्म भी

मानता है, पर एकान्त रूपसे नहीं। जैनमतके सिवाय सभी मत मतवाले हैं, सर्वथा एक पक्षके पक्षपाती होनेसे उन्हें स्वरूपकी समझ नहीं है ॥ ४४ ॥

पाँचों मतोंके एक एक अंगका जैनमत समर्थक है। सवैया इकतीसा।

निहचै अभेद अंग उदै गुनकी तरंग,
उद्दिमकी रीति लिए उद्धता सकति है।
परजाइ रूपको प्रवान सूच्छम सुभाव,
कालकीसी ढाल परिनाम चक्र गति है॥
याही भांति आतम दरवके अनेक अंग,
एक मानै एककौं न मानै सो कुमति है।
टेक डारि एकमैं अनेक खोजै सो सुबुद्धि,
खोजी जीवै वादी मरै सांची कहवति है॥४५॥

शब्दार्थ—याही भाँति=इस प्रकार। कुमति=मिथ्याज्ञान। खोजै=ढूँढे। सुबुद्धि=सम्यग्ज्ञान। खोजी=उद्योगी। वादी=बकवाद करनेवाला।

अर्थ—जीव पदार्थके लक्षणमें भेद नहीं है, सब जीव समान हैं, इसलिये वेदान्तीका माना हुआ अद्वैतवाद सत्य है। जीवके उदयमें गुणोंकी तरंगें उठती हैं, इसलिये मीमांसकका माना हुआ उदय भी सत्य है। जीवमें अनंत शक्ति होनेसे स्वभावमें प्रवर्तना है, इसलिये नैयायिकका माना हुआ उद्यम अंग भी सत्य है। जीवकी पर्याय क्षण क्षणमें बदलती हैं, इसलिये बौद्धमतीका माना हुआ क्षणिक भाव भी सत्य है। जीवके परिणाम कालके चक्रके समान फिरते हैं, और उन परिणामोंके परिणमनमें, काल

द्रव्य सहायक है, इसलिये जैनोंका माना हुआ काल भी सत्य है। इस प्रकार आत्म पदार्थके अनेक अंग हैं। एकको मानना और एकको नहीं मानना मिथ्याज्ञान है, और दुराग्रह छोडकर एकमें अनेक धर्म ढूँढना सम्यग्ज्ञान है। इसलिये संसारमें जो कहावत है, कि 'खोजी पावे वादी मरे' सो सत्य है॥ ४५॥

स्याद्वादका व्याख्यान। सवैया इकतीसा।

एकमें अनेक है अनेकहीमें एक है सो,
एक न अनेक कछु कह्यो न परतु है।
करता अकरता है भोगता अभोगता है,
उपजै न उपजत मूएं न मरतु है॥
बोलत विचारत न बोलै न विचारै कछु,
भेखको न भाजन पै भेखसौं धरतु है।
ऐसो प्रभु चेतन अचेतनकी संगतिसौं,
उलट पलट नटबाजीसी करतु है॥ ४६॥

अर्थ—जीवमें अनेक पर्यायें होती हैं इसलिये एकमें अनेक हैं, अनेक पर्यायें एक ही जीव द्रव्यकी हैं इसलिये अनेकमें एक है, इससे एक है या अनेक है कुछ कहा ही नहीं जा सकता। एक भी नहीं है, अनेक भी नहीं है, अपेक्षित एक है, अपेक्षित अनेक है। वह व्यवहार नयसे कर्त्ता है निश्चयसे अकर्त्ता है, व्यवहार नयसे कर्मोंका भोगता है, निश्चयसे कर्मोंका अभोक्ता है, व्यवहार नयसे उपजता है, निश्चय नयसे नहीं उपजता है—था, है और रहेगा, व्यवहार नयसे मरता है निश्चय नयसे अमर है, व्यवहार नयसे

बोलता है, विचारता है, निश्चय नयसे न बोलता है, न विचारता है, निश्चय नयसे उसका कोई रूप नहीं है, व्यवहार नयसे अनेक रूपोंका धारक है। ऐसा चैतन्य परमेश्वर पौद्गलिक कर्मोंकी संगतिसे उलट पलट हो रहा है, मानों नट जैसा खेल खेल रहा है॥ ४६ ॥

निर्विकल्प उपयोग ही अनुभवके योग्य है। दोहा।

नटवाजी[1] विकलप दसा, नांही अनुभौ जोग।
केवल अनुभौ करनकौं, निरविकलप उपजोग॥४७॥

शब्दार्थ—नटवाजी=नटका खेल। जोग=योग्य।

अर्थ—जीवकी नटके समान उलटा पुलटी सविकल्प अवस्था है, वह अनुभवके योग्य नहीं है। अनुभव करने योग्य तो उसकी सिर्फ निर्विकल्प अवस्था ही है॥ ४७ ॥

अनुभवमें विकल्प त्यागनेका दृष्टान्त। सवैया इकतीसा।

जैसैं काहू चतुर सवारी है मुकत माल,
मालाकी क्रियामैं नाना भातिकौ विग्यान है।
क्रियाकौ विकलप न देखै पहिरनवारौ,
मोतिनकी सोभामैं मगन सुखवान है॥
तैसैं न करै न भुजै अथवा करै सो भुजै,
और करै और भुजै सब नय प्रवांन है।
जदपि तथापि विकलप विधि त्याग जोग,
निरविकलप अनुभौ अमृत पान है॥४८॥

१ 'घटवासी' ऐसा भी पाठ है।

शब्दार्थ—सवारी=सजाई। मुक्त माल=मोतियोंकी माला। निग्यान=अकलमंदी। मगन=मस्त। अमृतपान=अमृत पीना।

अर्थ—जैसे किसी चतुर मनुष्यने मोतियोंकी माला बनाई, माला बनानेमें अनेक प्रकार चतुराई की गई, परन्तु पहिननेवाला माला बनानेकी कारीगरीपर ध्यान नहीं देता, मोतियोंकी शोभामें मस्त होकर आनंद मानता है, उसी प्रकार यद्यपि जीव न कर्त्ता है, न भोगता है, जो कर्त्ता है वही भोक्ता है, कर्त्ता और है, भोक्ता और है ये सब नय मान्य हैं तो भी अनुभवमें ये सब विकल्प जाल त्यागने योग्य हैं, केवल निर्विकल्प अनुभवही अमृत पान करना है ॥ ४८ ॥

किस नयसे आत्मा कर्मोंका कर्त्ता है और किस नयसे नहीं है। दोहा।

दरब करम करता अलख, यह विवहार कहाउ।
निहचै जो जैसौ दरब, तैसौ ताकौ भाउ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—दरब करम (द्रव्य कर्म)=ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंकी धूल। अलख=आत्मा।

अर्थ—द्रव्य कर्मका कर्त्ता आत्मा है यह व्यवहार नय कहता है, पर निश्चय नयसे तो जो द्रव्य जैसा है उसका वैसा ही स्वभाव होता है—अर्थात् अचेतन द्रव्य अचेतनका कर्त्ता है और चेतन भावका कर्त्ता चैतन्य है ॥ ४९ ॥

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृकर्म च सदैकमिष्यते ॥ १८ ॥

ज्ञानका ज्ञेयाकाररूप परिणमन होता है पर वह ज्ञेयरूप नहीं हो जाता। सवैया इकतीसा।

ग्यानको सहज ज्ञेयाकार रूप परिणवै,
यद्यपि तथापि ग्यान ग्यानरूप कह्यौ है।
ज्ञेय ज्ञेयरूप यौं अनादिहीकी मरजाद,
काहू वस्तु काहूको सुभाव नहि गह्यौ है॥
एतेपर कोऊ मिथ्यामती कहै ज्ञेयाकार,
प्रतिभासनसौं ग्यान असुद्ध है रह्यौ है।
याही दुरबुद्धिसौं विकल भयौ डोलत है,
समुझै न धरम यौं भरम मांहि वह्यौ है॥५०॥

शब्दार्थ—ज्ञेयाकार=ज्ञेयके आकार। ज्ञेय=जानने योग्य घटपटादि

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः॥

यह श्लोक कलकत्तेकी छपी हुई परमाध्यात्मतरंगिणीमें है। किन्तु इसकी संस्कृत टीका प्रकाशकको उपलब्ध नहीं हुई। काशीके छपे हुए प्रथम गुच्छकमें यह श्लोक नहीं है। ईडर भण्डारकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतिमें भी यह श्लोक नहीं है, और न इसकी कविता ही है।

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरं।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते॥ १९॥

पदार्थ। मरजाद (मर्याद)=सीमा। प्रतिभासना=छाया पड़ना। भर्म (भरम)=भ्रान्ति।

अर्थ—यद्यपि ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयाकार रूप परिणमन करनेका है, तौ भी ज्ञान, ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है। यह मर्यादा अनादि कालसे चली आती है, कोई किसीके स्वभावको ग्रहण नहीं करता अर्थात् ज्ञान ज्ञेय नहीं हो जाता और ज्ञेय ज्ञान नहीं हो जाता। इतनेपर कोई मिथ्यामती—वैशेषिक आदि कहते हैं, कि ज्ञेयाकार परिणमनसे ज्ञान अशुद्ध हो रहा है, सो वे इसी मूर्खतासे व्याकुल हुए भटकते हैं—वस्तु स्वभाव नहीं समझे भ्रममें भूले हुए हैं।

विशेष—वैशेषिकोंका एकान्त सिद्धान्त है, कि जगतके पदार्थ ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं, इससे ज्ञान अशुद्ध हो जाता है, सो जब तक अशुद्धता नहीं मिटेगी तब तक मुक्त नहीं होगा। परन्तु ऐसा नहीं है, ज्ञान स्वच्छ आरसीके समान है, उसपर पदार्थोंकी छाया पड़ती है, सो व्यवहारसे कहना पड़ता है कि अमुक रंगका पदार्थ झलकनेसे काँच अमुक रंगका दिखता है, पर वास्तवमें छाया पड़नेसे काँचमें कुछ परिवर्तन नहीं होता ज्योंका त्यों बना रहता है॥ ५०॥

जगतके पदार्थ परस्पर अव्यापक हैं। चौपाई।

सकल वस्तु जगमें असहाई।
वस्तु वस्तुसौं मिलै न काई॥

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि॥ २०॥

जीव वस्तु जानै जग जेती।
सोऊ भिन्न रहै सब सेती॥ ५१॥

शब्दार्थ—असहाई=स्वाधीन। जेती=जितनी।

अर्थ—निश्चय नयसे जगतमे सब पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं करते और न कोई पदार्थ किसी पदार्थसे मिलता है। जीवात्मा जगतके जितने पदार्थ हैं उन्हे जानता है पर वे सब उससे भिन्न रहते हैं।

भावार्थ—व्यवहार नयसे जगतके द्रव्य एक दूसरेसे मिलते हैं, एक दूसरेमें प्रवेश करते और एक दूसरेको अवकाश देते हैं, पर निश्चय नयसे सब निजाश्रित हैं, कोई किसीसे नहीं मिलते हैं। जीवके पूर्ण ज्ञानमें वे सब और अपूर्ण ज्ञानमें यथासंभव जगतके पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, पर ज्ञान उनसे मिलता नहीं है और न वे पदार्थ ज्ञानसे मिलते हैं॥ ५१॥

कर्म करना और फल भोगना यह जीवका निज स्वरूप नहीं है। दोहा।

करम करै फल भोगवै, जीव अग्यानी कोइ।
यह कथनी विवहारकी, वस्तु स्वरूप न होइ॥५२॥

शब्दार्थ—कथनी=चरचा। वस्तु=पदार्थ।

अर्थ—अज्ञानी जीव कर्म करते हैं और उनका फल भोगते हैं, यह कथन व्यवहार नयका है, पदार्थका निज स्वरूप नहीं है॥ ५२॥

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किंचनापि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात्॥ २१॥

ज्ञान और ज्ञेयकी भिन्नता। कवित्त।

ज्ञेयाकार ग्यानकी परणति,
पै वह ग्यान ज्ञेय नहि होइ।
ज्ञेय रूप षट दरव भिन्न पद,
ग्यानरूप आतम पद सोइ॥
जानै भेदभाउ सु विचच्छन,
गुन लच्छन सम्यक्‌द्रिग जोइ।
मूरख कहै ग्यानमय आकृति,
प्रगट कलंक लखै नहि कोइ॥ ५२॥

शब्दार्थ—ज्ञान=जानना। ज्ञेय=जानने योग्य पदार्थ।

अर्थ—ज्ञानकी परणति ज्ञेयके आकार हुआ करती है, पर ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, छहों द्रव्य ज्ञेय हैं और वे आत्माके निज स्वभाव ज्ञानसे भिन्न हैं, जो ज्ञेय ज्ञायकका भेद भाव गुण लक्षणसे जानता है वह भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टी है। वैशेषिक आदि अज्ञानी ज्ञानमें आकारका विकल्प देखकर कहते हैं कि ज्ञानमें ज्ञेयकी आकृति है, इससे ज्ञान स्पष्टतया अशुद्ध हो जाता है लोग इस अशुद्धताको नहीं देखते।

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः॥ २२॥

मोह गये उपजे सुख केवल,
सिद्ध भयो जगमांहि न आवे ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ—निरोध=उदय । मृषामग=मिथ्या मार्ग ।

अर्थ—जब तक इस जीवको मिथ्याज्ञानका उदय रहता है, तब तक वह राग द्वेषमें वर्तता है । परन्तु जब उसे ज्ञानका उदय हो जाता है, तब वह कर्मपरणतिको अपनेसे भिन्न गिनता है, और जब कर्मपरणति तथा आत्मपरणतिका पृथक्करण करके आत्म अनुभव करता है, तब मिथ्या मोहनीको स्थान नहीं मिलता । और मोहके पूर्णतया नष्ट होनेपर केवलज्ञान तथा अनंत सुख प्रगट होता है, जिससे सिद्ध पदकी प्राप्ति होती है और फिर जन्ममरणरूप संसारमें नहीं आना पडता ॥ ५९ ॥

परमात्म पदकी प्राप्तिका मार्ग । छप्पय छन्द ।

जीव करम संजोग, सहज मिथ्यातरूप धर ।
राग दोष परनति प्रभाव, जानें न आप पर ॥
तम मिथ्यात मिटि गयो, हुवो समकित उदोत ससि ।
राग दोष कछु वस्तु नांहि, छिन मांहि गये नसि ॥
अनुभो अभ्यास सुख रासि रमि,
भयो निपुन तारन तरन ।

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावा
त्तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित् ।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥ २५ ॥

पूरन प्रकास निहचल निरखि,
बनारसि वंदत चरन ॥ ६० ॥

शब्दार्थ—निपुन=पूर्ण ज्ञाता। तरन तारन=संसार सागरसे स्वयं तरनेवाला और दूसरोंको तारनेवाला।

अर्थ—जीवात्माका अनादिकालसे कर्मोंके साथ सम्बन्ध है, इसलिये वह सहज ही मिथ्या भावको प्राप्त होता है, और राग द्वेप परणतिके कारण स्व पर स्वरूपको नहीं जानता। पर मिथ्यात्व रूप अंधकारके नाश और सम्यक्त्व शशिके उदय होनेपर राग द्वेपका अस्तित्व नहीं रहता—क्षणभरमें नष्ट हो जाता है, जिससे आत्म अनुभवके अभ्यासरूप सुखमें लीन होकर तारन तरन पूर्ण परमात्मा होता है। ऐसे पूर्ण परमात्माका निश्चय स्वरूप अवलोकन करके प० बनारसीदासजी चरण वन्दना करते हैं ॥ ६० ॥

राग द्वेपका कारण मिथ्यात्व है। सवैया इकतीसा।

कोऊ सिष्य कहै स्वामी राग दोप परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है।
पुग्गल करम जोग किधौं इंद्रिनिकौ भोग,
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है॥
गुरु कहै छहों दर्व अपने अपने रूप,
सवनिकौ सदा असहाई परिनौन है।

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्ताऽत्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात्॥२६॥

कोऊ दरव काहूको न प्रेरक कदाचि तातें,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है ॥६१॥

शब्दार्थ—मूल=असली। प्रेरक=प्रेरणा करनेवाला। परिजन=घरके लोग। भौन (भवन)=मकान। परिनौन=परिणमन। मदिरा=शराब। अचौन (अचवन)=पीना।

अर्थ—शिष्य प्रश्न करता है कि हे स्वामी, राग द्वेष परिणामोंका मुख्य कारण क्या है? पौद्गलिक कर्म है? या इन्द्रियोंके भोग हैं? या धन है? या घरके लोग हैं? या घर है? सो आप कहिए। इसपर श्रीगुरु समाधान करते हैं, कि छहों द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें सदा निजाश्रित परिणमन करते हैं, कोई द्रव्य किसी द्रव्यकी परणतिके लिये कभी भी प्रेरक नहीं होता, अत. राग द्वेषका मूल कारण मोह मिथ्यात्वका मदिरापान है॥ ६१॥

अज्ञानियोंके विचारमें राग द्वेषका कारण। दोहा।

कोऊ मूरख यौं कहै, राग दोष परिनाम।
पुग्गलकी जोरावरी, वरतै आतमराम॥ ६२॥
ज्यौं ज्यौं पुग्गल बल करै, धरिधरि कर्मज भेष।
रागदोषको परिनमन, त्यौं त्यौं होइ विशेष॥ ६३॥

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूति
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः॥ २७॥

शब्दार्थ—परिनाम=भाव। जोरावरी=जबरदस्ती। भेस (वेष)= रूप। विशेष=ज्यादा।

अर्थ—कोई कोई मूर्ख ऐसा कहते हैं कि आत्मामें राग द्वेष भाव पुद्गलकी जबरदस्तीसे होते हैं ॥ ६२ ॥ वे कहते हैं कि पुद्गल कर्मरूप परिणमनके उदयमें जैसा जैसा जोर करता है, वैसे वैसे बाहुल्यतासे राग द्वेष परिणाम होते है ॥ ६३ ॥

अज्ञानियोंको सत्य मार्गका उपदेश। दोहा।

इहिविधि जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोइ।
सो नर राग विरोधसौं, कबहूं भिन्न न होइ॥६४॥
***सुगुरु कहै जगमें रहै, पुग्गल संग सदीव।**
सहज सुद्ध परिनमनिकौ,औसर लहै न जीव॥६५॥
तातैं चिदभावनि विषै, समरथ चेतन राउ।
राग विरोध मिथ्यातमें, समकितमैं सिव भाउ॥६६॥

शब्दार्थ—विपरीत पख=उल्टा हट। भिन्न=जुदा। परिणाम= भाव। औसर=मौका। चिद्भावनि विषै=चैतन्य भावोंमें—अशुद्ध दशामें राग द्वेष ज्ञानावरणीय आदि और शुद्ध दशामें पूर्णज्ञान पूर्ण आनद आदि। समरथ (समर्थ)=बलवान। चेतन राउ=चैतन्य राजा। सिव भाउ= मोक्षके भाव—पूर्णज्ञान, पूर्णदर्शन, पूर्णआनद, सम्यक्त्व सिद्धत्व आदि।

अर्थ—श्रीगुरु कहते हैं कि जो कोई इस प्रकार उल्टा हठ ग्रहण करके श्रद्धान करते है वे कभी भी राग द्वेष मोहसे नहीं

* रागजन्मनि निमित्तता परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥ २८ ॥

छूट सकते ॥ ६४ ॥ और यदि जगतमें जीवका पुद्गलसे हमेशा ही संबंध रहे, तो उसे शुद्ध भावोंकी प्राप्तिका कोई भी मौका नहीं है—अर्थात् वह शुद्ध होही नहीं सकता ॥ ६५ ॥ इससे चैतन्य भाव उपजानेमें चैतन्य राजा ही समर्थ है, सो मिथ्यात्व की दशामें राग द्वेष भाव उपजाते हैं और सम्यक्त्व दशामें शिव भाव अर्थात् ज्ञान दर्शन सुख आदि उपजते हैं ॥ ६६ ॥

ज्ञानका माहात्म्य । दोहा ।

ज्यों दीपक रजनी समें, चहुं दिसि करै उदोत ।
प्रगटै घटपटरूपमें, घटपटरूप न होत ॥ ६७ ॥
त्यों सुग्यान जानै सकल ज्ञेय वस्तुको मर्म ।
ज्ञेयाकृति परिनवै पै, तजै न आतम-धर्म ॥ ६८ ॥
ग्यानधर्म अविचल सदा, गहै विकार न कोइ ।
राग विरोध विमोहमय, कबहूं भूलि न होइ ॥६९॥
ऐसी महिमा ग्यानकी, निहचै है घट माहि ।
मूरख मिथ्याद्रिष्टिसों, सहज विलोकै नाहि ॥ ७० ॥

अर्थ—जिस प्रकार रात्रिमें चिराग चहुँ ओर प्रकाश पहुँचाता है और घट पट पदार्थोंको प्रकाशित करता है, पर घट,

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधो न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयाः भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥ २९ ॥

पटरूप नहीं हो जाता ॥ ६७ ॥ उसी प्रकार ज्ञान सब ज्ञेय पदार्थोंको जानता है और ज्ञेयाकार परिणमन करता है तौ भी अपने निजस्वभावको नहीं छोडता ॥ ६८ ॥ ज्ञानका जानना स्वभाव सदा अचल रहता है, उसमें कभी किसी भी प्रकारका विकार नहीं होता और न वह कभी भूलकर भी रागद्वेष मोह-रूप होता है ॥ ६९ ॥ निश्चय नयसे आत्मामे ज्ञानकी ऐसी महिमा है, परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टी आत्मस्वरूपकी ओर देखते भी नहीं है ॥ ७० ॥

अज्ञानी जीव परद्रव्यमें ही लीन रहते है। दोहा।

पर सुभावमें मगन है, ठानै राग विरोध।
धरै परिग्रह धारना, करै न आतम सोध ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ—पर सुभाव=आतम स्वभावके बिना सब अचेतन भाव। ठानै=करें। राग विरोध=राग द्वेप। सोध=खोज।

अर्थ—अज्ञानी जीव पर द्रव्योंमे मस्त रहते हैं, राग द्वेप करते है और परिग्रहकी इच्छा करते है, परतु आत्मस्वभावकी खोज नहीं करते ॥ ७१ ॥

अज्ञानीको कुमति और ज्ञानीको सुमति उपजती है। चौपाई।

मूरखके घट दुरमति भासी।
पंडित हिये सुमति परगासी ॥
दुरमति कुबिजा करम कमावै।
सुमति राधिका राम रमावै ॥ ७२ ॥

दोहा।

कुबिजा कारी कूबरी, करै जगतमें खेद।
अलख अराधै राधिका, जानै निज पर भेद॥७३॥

अर्थ—मूर्खके हृदयमें कुमति उपजती है और ज्ञानियोंके हृदयमें सुमतिका प्रकाश रहता है। दुर्बुद्धि कुब्जाके समान है, नवीन कर्मोंका बन्ध करती है, और सुबुद्धि राधिका है, आत्मराममें रमण कराती है ॥ ७२ ॥ कुबुद्धि कारी कूबडी कुब्जाके समान है, संसारमें संताप उपजाती है, और सुबुद्धि राधिकाके समान है, निज आत्माकी उपासना कराती है तथा स्व परका भेद जानती है ॥ ७३ ॥

दुर्मति और कुब्जाकी समानता। सवैया इकतीसा।

कुटिल कुरूप अंग लगी है पराये संग,
अपुनो प्रवान करि आपुही विकाई है।
गहै गति अंधकीसी सकति कबंधकीसी,
बंधको बढाउ करै धंधहीमें धाई है।
रांडकीसी रीत लिये मांडकीसी मतवारी,
सांड ज्यौं सुछंद डोलै भांडकीसी जाई है।

१ हिंदु धर्म देवीभागवत आदि ग्रन्थोंका कथन है कि, कुब्जा कंसकी दासी थी। उसका शरीर कुरूप कान्ति हीन था। राजा श्रीकृष्णचन्द्र अपनी स्त्री राधिकासे अलग होकर उससे फँस गये थे, राधिकाके बहुत प्रयत्न करनेपर वे सन्मार्गपर आये। सो यहांपर दृष्टान्तमात्र ग्रहण किया है।

घरको न जानै भेद करै पराधीन खेद,
यातैं दुरबुद्धि दासी कुबजा कहाई है ॥७४॥

शब्दार्थ—कुटिल=कपटिन। पराये=दूसरेके। संग=साथ। कबंध=एक राक्षसका नाम। राड=विधवा। भाड (मण्ड)=शराब। साड=बिना बधिया किया हुआ। सुछंद=स्वतंत्र। जाई=पैदा हुई। यातैं=इससे।

अर्थ—कुबुद्धि मायाका उदय रहते होती है इससे कुटिला है, और कुब्जा मायाचारणी थी, उसने पराये पतिको वशमें कर रक्खा था। कुबुद्धि जगतको असुहावनी लगती है इससे कुरूपा है, कुब्जा काली कान्तिहीन ही थी इससे कुरूपा थी। कुबुद्धि परद्रव्योंको अपनाती है, कुब्जा परपतिसे सम्बन्ध रखती थी इससे दोनों व्यभिचारिणी हुई। कुबुद्धि अपनी अशुद्धतासे विषयोंके आधीन होती है इससे बिकी हुईके समान है, कुब्जा परवशमें पड़ी हुई थी इससे दूसरेके हाथ बिकी हुई ही थी। दुर्बुद्धिको वा कुब्जाको अपनी भलाई बुराई नहीं दिखती, इससे दोनोंकी दशा अंधेके समान हुई। कुबुद्धि परपदार्थोंसे अहंबुद्धि करनेमें समर्थ है, कुब्जा भी कृष्णको कब्जेमें रखनेके लिये समर्थ थी, इससे दोनों कबंधके समान बलवान हैं। दोनों कर्मोंका बंध

१ व्यभिचारिणी स्त्रियाँ अपने मुखसे अपने शरीरका मोल करती हैं,–अर्थात् अपना अमूल्य शील-रत्न बेंच देती हैं, यह बात ध्यानमें रखके कविने कहा है कि 'आपनो प्रवोनकरि आपुही बिकाइ है'।

२ यह भी हिन्दू धर्म-शास्त्रोंका दृष्टान्त मात्र लिया है, कि कबंध पूर्वजन्ममें गंधर्व था। उसने दुर्वासा ऋषिको गाना सुनाया, पर वे कुछ प्रसन्न नहीं हुए, तब उसने मुनिकी हँसी उड़ाई, तो दुर्वासाने क्रोधित होकर शाप दिया, कि तू राक्षस हो जा। बस फिर क्या था, वह राक्षस हो गया। उसकी एक एक योजनकी भुजाएँ

नचाती है। दोनोंकी प्रवृत्ति उपद्रवकी ओर रहती है। दुर्बुद्धि अपने पति आत्माकी ओर नहीं देखती, कुब्जा भी अपने पतिकी ओर नहीं देखती थी, इससे दोनोंकी रांड सरीखी रीति है। दोनो ही शराबीके समान मतवाली हो रही है। दुर्बुद्धिमें कोई धार्मिक नियम आदिका बंधन नहीं, कुब्जा भी अपने पति आदिकी आज्ञामें नहीं रहती थी, इसलिये दोनों सांड़के समान स्वतंत्र है। दोनों भाँड़की संततिके समान निर्लज्ज है। दुर्बुद्धि अपने आत्मक्षेत्ररूप घरका मर्म नहीं जानती, कुब्जा भी दुराचारमें रत रहती थी, घरका हाल नहीं देखती थी। दुर्बुद्धि कर्मके आधीन है, कुब्जा परपतिके आधीन, इससे दोनों पराधीनताके क्लेशमें है। इस प्रकार दुर्बुद्धिको कुब्जा दासीकी उपमा दी है॥ ७४॥

सुबुद्धिसे राधिकाकी तुलना। सवैया इकतीसा।

रूपकी रसीली भ्रम कुलफकी कीली सील,
सुधाके समुद्र झीली सीली सुखदाई है।
प्राची ग्यानभानकी अजाची है निदानकी,
सुराची निरवाची ठौर साची ठकुराई है॥

थी, और वह बहुत ही बलवान था, सो अपनी भुजाओंसे वह एक योजन दूर तकके जीवोंको खा जाता था, और बहुत उपद्रव करता था, इससे इन्द्रने उसे वज्र मारा, जिससे उसका माथा उसीके पेटमें घँस गया, पर वह शापके कारण मरा नहीं, तबसे उसका नाम कबंध पड़ा। एक दिन वनमें विचरते हुए राजा राम लक्ष्मण दोनों भाइ इसके रपाटेमें आ गये, और इन्हें भी उसने खाना चाहा, तब रामचन्द्रने उसके हाथ काट डाले और उसे स्वर्गधाम पहुँचा दिया।

१ दासी—विवाह विधिके बिना ही धर्मविरुद्ध रक्खी हुई औरत।

धामकी खवरदारि रामकी रमनहारि,
राधा रस-पंथनिके ग्रंथनिमें गाई है।
संतनकी मानी निरवानी नूरकी निसानी,
याते सदबुद्धि रानी राधिका कहाई है॥७५

शब्दार्थ—कुलफ=ताला। कीली=चाबी। झीली=स्नान की हुई। सीली=भीगी हुई। प्राची=पूर्व दिशा। अजाची=नहीं मागनेवाली। निदान=आगामी विषयोंकी अभिलाषा। निरवाची (निरवाच्य)=वचन अगोचर। ठकुराई=स्वामीपन। धाम=घर। रमनहारि=मौज करनेवाली। रस पथके ग्रथनिमें=रस मार्गके शास्त्रोंमें। निरवानी=गभीर। नूरकी निसानी=सौन्दर्यका चिह्न।

अर्थ—सुबुद्धि आत्मस्वरूपमें सरस है, राधिका भी रूपवती है। सुबुद्धि अज्ञानका ताला खोलनेकी चाबी है, राधिका भी अपने पतिको शुभ सम्मति देती है। सुबुद्धि और राधिका दोनों शीलरूपी सुधाके समुद्रमें स्नान की हुई हैं, दोनो शान्त स्वभावी सुखदायक हैं। ज्ञानरूपी सूर्यका उदय करनेमें दोनों पूर्व दिशाके समान हैं। सुबुद्धि आगामी विषय भोगोंकी वाछासे रहित है, राधिका भी आगामी भोगोंकी याचना नहीं करती। सुबुद्धि आत्मस्वरूपमें भले प्रकार राचती है, राधिका भी पति-प्रेममें पगती है। सुबुद्धि और राधिका रानी दोनोंके स्थानकी महिमा वचन अगोचर अर्थात् महान् है। सुबुद्धिका आत्मापर सच्चा स्वामित्व है, राधिकाकी भी घरपर मालिकी है। सुबुद्धि अपने घर अर्थात् आत्माकी सावधानी रखती है, राधिका भी

घरकी निगरानी रखती है। सुबुद्धि अपने आत्मराममें रमण करती है, राधिका अपने पति कृष्णके साथ रमण करती है। सुबुद्धिकी महिमा अध्यात्मरसके ग्रंथोंमें बखानी गई है, और राधिकाकी महिमा शृंगाररस आदिके ग्रन्थोंमें कही गई है। सुबुद्धि साधुजनों द्वारा आदरणीय है, राधिका ज्ञानियों द्वारा माननीय है। सुबुद्धि और राधिका दोनों क्षोभ रहित अर्थात् गंभीर है। सुबुद्धि शोभासे सम्पन्न है, राधिका भी कान्तिमान् है। इस प्रकार सुबुद्धिको राधिकारानीकी उपमा दी गई है॥ ७५॥

कुमति सुमतिका कार्य। दोहा।

वह कुबिजा वह राधिका, दोऊ गति मतिवानि।
वह अधिकारनि करमकी, यह विवेककी खानि॥७६॥

अर्थ—दुर्बुद्धि कुब्जा है, सुबुद्धि राधिका है, कुबुद्धि संसारमें भ्रमण करानेवाली है और सुबुद्धि विवेकवान है। दुर्बुद्धि कर्मबंधके योग्य है और सुबुद्धि स्व पर विवेककी खानि है॥ ७६॥

द्रव्यकर्म भावकर्म और विवेकका निर्णय। दोहा।

दरवकरम पुग्गल दसा, भावकरम मति वक्र।
जो सुग्यानको परिनमन, सो विवेक गुरु चक्र॥७७॥

शब्दार्थ—दरवकरम (द्रव्य कर्म)=ज्ञानावरणीय आदि। भावकर्म=राग द्वेष आदि। मतिवक्र=आत्माका विभाव। गुरु चक्र=बड़ा पुंज।

अर्थ—ज्ञानावर्णीय आदि द्रव्यकर्म पुद्गलकी पर्याये हैं, राग द्वेष आदि भाव कर्म आत्माके विभाव हैं, और स्व पर विवेककी परणति ज्ञानका बड़ा पुंज है॥ ७७॥

फर्मके उदयपर चौपरका दृष्टान्त। कवित्त।

जैसें नर खिलार चौपरिकौ,
लाभ विचारि करै चितचाउ।
धरै सवारि सारि बुधिवलसौं,
पासा जो कुछ परै सु दाउ॥
तैसें जगत जीव स्वारथकौं,
करि उद्दिम चितवै उपाउ।
लिख्यौ ललाट होइ सोई फल,
करम चक्रकौ यही सुभाउ॥ ७८॥

शब्दार्थ—चितचाउ=उत्साह। सारि=गोंट। उपाउ (उपाय)= तदवीर। लिख्यौ ललाट=मस्तकका लिखा—तकदीर।

अर्थ—जिस प्रकार चौपड़का खेलनेवाला मनमें जीतनेका उत्साह रखके अपनी अक्कके जोरसे सम्हालकर ठीक ठीक गोटें जमाता है, पर दाव तो पॉसेके आधीन है। उसी प्रकार जगतके जीव अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रयत्न सोचते हैं, पर जैसा कर्मका उदय है वैसा ही होता है, कर्मपरणतिकी ऐसी ही रीति है। उदयावलीमें आया हुआ कर्म फल दिये विना नहीं रुकता॥ ७८॥

विवेक चक्रके स्वभावपर सतरंजका दृष्टान्त। कवित्त।

जैसे नर खिलार सतरंजको,
समुझै सब सतरजकी घात।

निरुपाधि आतम समाधिमें विराजे तातें,
कहिए प्रगट पूरन परम हंस हैं ॥ ८२ ॥

शब्दार्थ—सरवंस (सर्वस्व)=पूर्ण संपत्ति। जाने ज्ञेय वस्तु मर्म=त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थोंको जानते हैं।

अर्थ—जहाँ शुद्ध ज्ञानकी कलाका प्रकाश दिखता है, वहाँ उसके अनुसार चारित्रका अंश रहता है, इससे ज्ञानी जीव सब हेय उपादेयको समझते हैं। उनका सर्वस्व वैराग्यभाव ही रहता है, वे राग द्वेष मोहसे भिन्न रहते हैं, इससे उनके पहलेके बँधे हुए कर्म झडते हैं, और वर्तमान तथा भविष्यमें कर्मबंध नहीं होता। वे शुद्ध आत्माकी भावनामें स्थिर होते हैं, इससे साक्षात् पूर्ण परमात्मा ही हैं ॥ ८२ ॥

पुनः। दोहा।

ग्यायक भाव जहां तहां, सुद्ध चरनकी चाल।
तातैं ग्यान विराग मिलि, सिव साधे समकाल॥८३॥

शब्दार्थ—ज्ञायक भाव=आत्म स्वरूपका ज्ञान। चरन=चारित्र। समकाल=एक ही समयमें।

अर्थ—जहाँ ज्ञानभाव है वहाँ शुद्ध चारित्र रहता है, इसलिये ज्ञान और वैराग्य एक साथ मिलकर मोक्ष साधते हैं॥८३॥

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः॥३१॥

ज्ञान चारित्रपर पगु अंधका दृष्टान्त । दोहा।

जथा अंधके कंधपर, चढ़ै पंगु नर कोइ ।
वाके दृग वाके चरन, होंहि पथिक मिलि दोइ॥८४॥
जहां ग्यान किरिया मिलै, तहां मोख-मग सोइ ।
वह जानै पदकौ मरम, वह पदमैं थिर होइ ॥ ८५ ॥

शब्दार्थ—पंगु=लँगड़ा । वाके=उसके । दृग=नेत्र । चरन=पैर ॥ पथिक=रास्तागीर । क्रिया=चारित्र । पदकौ मरम=आत्माका स्वरूप । पदमैं थिर होइ=आत्मामें स्थिर होवे ।

अर्थ—जिस प्रकार कोई लँगड़ा मनुष्य अंधेके कंधेपर चढ़े, तो लँगडेकी आँखों और अंधेके पैरोंके योगसे दोनोंका गमन होता है ॥ ८४ ॥ उसी प्रकार जहाँ ज्ञान और चारित्रकी एकता है वहाँ मोक्षमार्ग है, ज्ञान आत्माका स्वरूप जानता है और चारित्र आत्मामें स्थिर होता है ॥ ८५ ॥

ज्ञान और क्रियाकी परणति । दोहा ।

ग्यान जीवकी संजगता, करम जीवकी भूल ।
ग्यान मोख अंकूर है, करम जगतकौ मूल ॥ ८६ ॥
ग्यान चेतनाके जगे, प्रगटै केवलराम ।
कर्म चेतनामैं वसै, कर्मबंध परिनाम ॥ ८७ ॥

शब्दार्थ—सजगता=सावधानी । अंकूर=पौधा । केवलराम=आत्माका शुद्ध स्वरूप । कर्म चेतना=ज्ञान रहित भाव । परिनाम=भाव ।

१ ' सहजगति ' ऐसा भी पाठ है ।

अर्थ—ज्ञान जीवकी सावधानता है, और शुभाशुभ परणति उसे भुलाती है, ज्ञान मोक्षका उत्पादक है और कर्म जन्म मरणरूप संसारका कारण है ॥ ८६ ॥ ज्ञान चेतनाका उदय होनेसे शुद्ध परमात्मा प्रगट होता है, और शुभाशुभ परणतिसे बंधके योग्य भाव उपजते हैं ॥ ८७ ॥

कर्म और ज्ञानका भिन्न भिन्न प्रभाव। चौपाई।

जबलग ग्यान चेतना न्यारी[1]।
तबलग जीव विकल संसारी ॥
जब घट ग्यान चेतना जागी।
तब समकिती सहज वैरागी ॥ ८८ ॥
सिद्ध समान रूप निज जानै।
पर संजोग भाव परमानै ॥
सुद्धातम अनुभौ अभ्यासै।
त्रिविधि कर्मकी ममता नासै ॥ ८९ ॥

अर्थ—जबतक ज्ञान चेतना अपनेसे भिन्न है, अर्थात् ज्ञान चेतनाका उदय नहीं हुआ है, तबतक जीव दुखी और संसारी रहता है, और जब हृदयमें ज्ञान चेतना जगती है, तब वह अपने

1 'भारी' ऐसा भी पाठ है।

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥ ३२ ॥

आप ही ज्ञानी वैरागी होता है ॥ ८८ ॥ वह अपना स्वरूप सिद्ध सदृश शुद्ध जानता है, और परके निमित्तसे उत्पन्न हुए भावोंको पर स्वरूप मानता है। वह शुद्ध आत्माके अनुभवका अभ्यास करता है और भावकर्म द्रव्यकर्म तथा नोकर्मको अपने नहीं मानता ॥ ८९ ॥

ज्ञानीकी आलोचना। दोहा।

ग्यानवंत* अपनी कथा, कहै आपसौं आप।
मैं मिथ्यात दसाविषैं, कीने वहु विधि पाप ॥९०॥

अर्थ—ज्ञानी जीव अपनी कथा अपनेहीसे कहता है, कि मैंने मिथ्यात्वकी दशामे अनेक प्रकारके पाप किये ॥ ९० ॥

पुन। सवैया इकतीसा।

हिरदै हमारे महा मोहकी विकलताई,
तातैं हम करुना न कीनी जीवघातकी।
आप पाप कीनें औरनिकों उपदेस दीनें,
हुती अनुमोदना हमारे याही वातकी ॥
मन वच कायामें मगन है कमाये कर्म,
धाये भ्रमजालमें कहाये हम पातकी।
ग्यानके उदय भए हमारी दसा ऐसी भई,
जैसैं भानु भासत अवस्था होत प्रातकी ॥ ९१ ॥

* यदहकार्षं यदहमचीकर यत्कुर्वं तमप्यन्य समन्वज्ञास, मनसा च वाचा च कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।

अर्थ—हमारे हृदयमें महा मोहजनित भ्रम था, इससे हमने जीवोंपर दया नहीं की। हमने खुद पाप किये, दूसरोंको पापका उपदेश दिया, और किसीको पाप करते देखा, तो उसका समर्थन किया। मन वचन कायकी प्रवृत्तिके निजत्वमें मग्न होकर कर्म-बंध किये, और भ्रमजालमें भटककर हम पापी कहलाये, परन्तु ज्ञानका उदय होनेसे हमारी ऐसी अवस्था हो गई, जैसे कि सूर्यका उदय होनेसे प्रभातकी होती है—अर्थात् प्रकाश फैल जाता है, और अंधकार नष्ट हो जाता है ॥ ९१ ॥

ज्ञानका उदय होनेपर अज्ञान दशा हट जाती है। सवैया इकतीसा।

ग्यानभान भासत प्रवान ग्यानवान कहै,
करुना-निधान अमलान मेरौ रूप है।
कालसौं अतीत कर्मजालसौं अजीत जोग-
जालसौं अभीत जाकी महिमा अनूप है॥
मोहकौ विलास यह जगतकौ वास मैं तौ,
जगतसौं सुन्न पाप पुन्न अंध कूप है।
पाप किनि कियौ कौन करै करि है सु कौन,
क्रियाकौ विचार सुपिनेकी दौर धूप है॥९२॥

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्त्ते ॥ ३३ ॥

अर्थ—ज्ञान-सूर्यका उदय होते ही ज्ञानी ऐसा विचारता है कि मेरा स्वरूप करुणामय और निर्मल है। उसपर मृत्युकी पहुँच नहीं है, वह कर्म-परणतिको जीत लेता है, वह योग समुदायसे निर्भय है, उसकी महिमा अपरम्पार है, यह जगतका जंजाल मोहजनित है, मै तो ससार अर्थात् जन्म मरणसे रहित हूँ, और शुभाशुभ प्रवृत्ति अध-कूपके समान है। किसने पाप किये? पाप कौन करता है? पाप कौन करेगा? इस प्रकारकी क्रियाका विचार ज्ञानीको स्वप्नके समान मिथ्या दिखता है ॥ ९२ ॥

कर्म प्रपच मिथ्या है। दोहा।

मैं कीनौ मै यौं करौं, अब यह मेरौ काम।
मन वच कायामे वसै, ए मिथ्या परिनाम ॥९३॥
मनवचकाया करमफल, करम-दसा जड़ अंग।
दरवित पुग्गल पिंडमय, भावित भरम तरंग॥९४॥
तातै आतम धरमसौं, करम सुभाउ अपूठ।
कौन करावै को करै, कोसल है सब झूठ ॥ ९५ ॥

शब्दार्थ—अपूठ=अजानकार।

अर्थ—मैंने यह किया, अब ऐसा करूँगा, यह मेरी कार्रवाई है, ये सब मिथ्याभाव मन वचन कायमे निवास करते

१ वह जानता है कि मन वचन कायके योग पुद्गलके हैं, मेरे स्वरूपको बिगाड़ नहीं सकते।

न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्य समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।

है ॥ ९३ ॥ मन वचन काय कर्म जनित हैं, कर्म-परणति जड है, द्रव्यकर्म पुद्गलके पिण्ड है, और भावकर्म अज्ञानकी लहर है।९४॥ आत्मासे कर्म स्वभाव विपरीत है, इससे कर्मको कौन करावे ? कौन करे ? यह सब कौशल मिथ्या है ॥ ९५ ॥

मोक्ष मार्गमें क्रियाका निषेध। दोहा।

करनी हित हरनी सदा, मुकति वितरनी नांहि।
गनी बंध पद्धति विषै, सनी महादुखमांहि ॥ ९६ ॥

अर्थ—क्रिया आत्माकी अहित करनेवाली है, मुक्ति देनेवाली नहीं है, इससे क्रियाकी गणना बंध-पद्धतिमें की गई है, यह महा दुःखसे लिप्त है ॥ ९६ ॥

क्रियाकी निंदा। सवैया इकतीसा।

करनीकी धरनीमें महा मोह राजा वसै,
करनी अग्यान भाव राकिसकी पुरी है।
करनी करम काया पुग्गलकी प्रति छाया,
करनी प्रगट माया मिसरीकी छुरी है ॥

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ ३४ ॥

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।

इस प्रकारका ऊपर तीन जगह संस्कृत गद्य दिया गया है, सो यह गद्य दोनों मुद्रित प्रतियोंमें नहीं है। किन्तु इडरकी प्रतिसे उपलब्ध हुआ है। इन गद्योंके अर्थसे कविताके अर्थका बराबर मिलान नहीं होता है। इडरकी प्रतिमें कहींसे उद्धृत किया है ऐसा मालूम पड़ता है।

करनीके जालमै उरझि रह्यौ चिदानंद,
करनीकी वोट ग्यानभान दुति दुरी है।
आचारज कहै करनीसौं विवहारी जीव,
करनी सदैव निहचै सुरूप वुरी है॥ ९७॥

अर्थ—क्रियाकी भूमिपर मोह महाराजाका निवास है, क्रिया अज्ञानभावरूप राक्षसका नगर है, क्रिया कर्म और शरीर आदि पुद्गलोंकी मूर्ति है, क्रिया साक्षात् मायारूप मिश्री लपेटी हुई छुरी है, क्रियाके जंजालमें आत्मा फँस रहा है, क्रियाकी आड ज्ञान-सूर्यके प्रकाशको छुपा देती है। श्रीगुरु कहते हैं, कि क्रियासे जीव कर्मका कर्त्ता होता है, निश्चय स्वरूपसे देखो तो क्रिया सदैव दुःखदायक है॥ ९७॥

ज्ञानियोंका विचार। चौपाई।

मृपा मोहकी परनति फैली।
तातै करम चेतना मैली॥
ग्यान होत हम समझ्यौ एती।
जीव सदीव भिन्न परसेती॥ ९८॥

दोहा।

जीव अनादि सरूप मम, करम रहित निरुपाधि।
अविनासी असरन सदा, सुखमय सिद्ध समाधि ९९

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसम्मोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्त्ते॥ ३५॥
समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे॥ ३६॥

अर्थ—पहले झूठा मोहका उदय फैल रहा था, उससे मेरी चेतना कर्म सहित होनेसे मलीन हो रही थी, अब ज्ञानका उदय होनेसे हम समझ गये कि आत्मा सदा पर परणतिसे भिन्न है ॥ ९८ ॥ हमारा स्वरूप चैतन्य है, अनादि है, कर्म रहित है, शुद्ध है, अविनाशी है, स्वाधीन है, निर्विकल्प और सिद्ध समान सुखमय है ॥ ९९ ॥

पुन । चौपाई ।

*मैं त्रिकाल करनीसों न्यारा ।
चिदविलास पद जग उजयारा ॥
राग विरोध मोह मम नांही ।
मेरो अवलबन मुझमाही ॥ १०० ॥

अर्थ—मैं सदैव कर्मसे प्रथक हूँ, मेरा चैतन्य पदार्थ जगत्का प्रकाशक है, राग द्वेष मोह मेरे नहीं है, मेरा स्वरूप मुझही में है ॥ १०० ॥

सवैया तेईसा ।

सम्यकवंत कहे अपने गुन,
मैं नित राग विरोधसौं रीतौ ।
मैं करतूति करू निरवछक,
मोहि विषे रस लागत तीतौ ॥

१ यदि ज्ञान ढक जाय, तो समस्त ससार अधकारमय ही है ।

*विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
सञ्चेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मान ॥ ३७ ॥

सुद्ध सुचेतनकौ अनुभौ करि,
मैं जग मोह महा भट जीतौ ।
मोख समीप भयौ अव मो कहूं,
काल अनंत इही विधि वीतौ ॥ १०१ ॥

शब्दार्थ—रीता=रहित । मोय=मुझे । तीतौ (तिक्त)=चरपरा ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव अपना स्वरूप विचारते हैं कि मैं सदा राग द्वेष मोहसे रहित हूँ, मैं लौकिक क्रियाएँ इच्छा रहित करता हूँ, मुझे विषयरस असुहावने लगते हैं, मैंने जगतमें शुद्ध आत्माका अनुभव करके मोहरूपी महा योद्धाको जीता है, मोक्ष मेरे बिलकुल समीप हुआ, अब मेरा अनंतकाल इसी प्रकार बीते ॥ १०१ ॥

दोहा।

कहै विचच्छन मैं रह्यौ, सदा ग्यान रस राचि ।
सुद्धातम अनुभूतिसौं, खलित न होहुं कदाचि १०२
पुव्वकरमविष तरु भए, उदै भोग फलफूल ।
मैं इनकौ नहि भोगता, सहज होहु निरमूल ॥१०३॥

अर्थ—ज्ञानी जीव विचारते हैं कि मैं सदैव ज्ञानरसमें रमण करता हूँ और शुद्ध आत्म-अनुभवसे कभी भी नहीं चूकता ॥१०२॥ पूर्वकृत कर्म विष वृक्षके समान हैं, उनका उदय फल फूलके

निःशेषकर्मफलसंन्यसनात्मनैव
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्ते ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्व
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥ ३८ ॥

समान है, मैं इनका भोगता नहीं हूँ, इसलिये अपने आप ही नष्ट हो जायेंगे ॥ १०३ ॥

वैराग्यकी महिमा । दोहा ।

जो पूरवकृत करम-फल, रुचिसों भुंजै नाहि ।
मगन रहै आठों पहर, सुद्धातम पद मांहि ॥१०४॥
सो बुध करमदसा रहित, पावै मोख तुरत ।
भुंजै परम समाधि सुख, आगम काल अनत ॥१०५

अर्थ—जो ज्ञानीजीव पूर्वमें कमाये हुए शुभाशुभ कर्म फलको अनुराग पूर्वक नहीं भोगता, और सदैव शुद्ध आत्म पदार्थमें मस्त रहता है, वह शीघ्र ही कर्म परणति रहित मोक्षपद प्राप्त करता है, और आगामी कालमें परम ज्ञानका आनंद अनत काल तक भोगता है ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

ज्ञानीकी उन्नतिका क्रम । छप्पय ।

जो पूरवकृतकरम, विरख विष-फल नहि भुंजै ।
जोग जुगति कारिज करति, ममता न प्रयुंजै ॥

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निःकर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥ ३९ ॥
अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०॥

राग विरोध निरोधि, संग विकलप सब छंडइ ।
सुद्धातम अनुभौ अभ्यासि, सिव नाटक मंडइ ॥
जो ग्यानवंत इहि मग चलत, पूरन ह्वै केवल लहै ।
सो परम अतींद्रिय सुख विषैं, मगन रूप संतत रहै ॥

अर्थ—जो पूर्वमें कमाये हुए कर्मरूप विष-वृक्षके विष-फल नहीं भोगता, अर्थात् शुभ फलमें रति और अशुभ फलमें अरति नहीं करता, जो मन वचन कायके योगोंका निग्रह करता हुआ वर्तता है, और ममता रहित राग द्वेषको रोककर परिग्रह जनित सब विकल्पोंका त्याग करता है, तथा शुद्ध आत्माके अनुभवका अभ्यास करके मुक्तिका नाटक खेलता है, वह ज्ञानी ऊपर कहे हुए मार्गको ग्रहण करके पूर्ण स्वभाव प्राप्तकर केवलज्ञान पाता है, और सदैव उत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुखमें मस्त रहता है ॥ १०६ ॥

शुद्ध आतम द्रव्यको नमस्कार। सवैया इकतीसा।

*निरभै निराकुल निगम वेद निरभेद,
जाके परगासमैं जगत माइयतु है ।
रूप रस गंध फास पुदगलको विलास,
तासौं उदवास जाको जस गाइयतु है ॥
विग्रहसौं विरत परिग्रहसौं न्यारौ सदा,
जामैं जोग निग्रह चिहन पाइयतु है ।

---

* इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद्विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् ।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥ ४१ ॥

सो है ग्यान परवांन चेतन निधान ताहि,
अविनासी ईस जानि सीस नाइयतु है॥१०७

शब्दार्थ—निराकुल=क्षोभरहित। निगम=उत्कृष्ट। निरभै (निर्भय)=भय रहित। परगास (प्रकाश)=उजेला। माइयतु है=समाता है। उदयास=रहित। विग्रह=शरीर। निग्रह=रोककर। चिह्न=लक्षण।

अर्थ—आत्मा निर्भय, आनंदमय, सर्वोत्कृष्ट, ज्ञानरूप और भेद रहित है। उसके ज्ञानरूप प्रकाशमें त्रैलोक्यका समावेश होता है। स्पर्श रस गंध वर्ण ये पुद्गलके गुण हैं, इनसे उसकी महिमा निराली कही गई है। उसका लक्षण शरीरसे भिन्न, परिग्रहसे रहित, मन वचन कायके योगोंसे निराला है, वह ज्ञानस्वरूप चैतन्य पिण्ड है, उसे अविनाशी ईश्वर मानकर मस्तक नवाता हूं॥ १०७॥

शुद्ध आतम द्रव्य अर्थात् परमात्माका स्वरूप। सवैया इकतीसा।

जैसौ निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ,
तैसौ निरभेद अब भेद कौन कहैगो।
दीसै कर्म रहित सहित सुख समाधान,
पायौ निजथान फिर बाहरि न बहैगो॥

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथग्वस्तुता
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति॥ ४२॥

कवहूं कदाचि अपनौ सुभाव त्यागि करि,
राग रस राचिकै न पर वस्तु गहैगो।
अमलान ग्यान विद्यमान परगट भयौ,
याही भांति आगम अनंत काल रहैगो॥

शब्दार्थ—निरभेद=भेद रहित। अतीत=पहले। राचिकैं=लीन होकर। अमलान=मल रहित। आगामी=भविष्यमें।

अर्थ—पूर्वमें अर्थात् संसारी दशामें निश्चय नयसे आत्मा जैसा अभेदरूप था, वैसा प्रगट हो गया, उस परमात्माको अब भेदरूप कौन कहेगा? अर्थात् कोई नहीं। जो कर्म रहित और सुख शान्ति सहित दिखता है, तथा जिसने निजस्थान अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति की है, वह बाहिर अर्थात् जन्म मरणरूप संसारमें न आवेगा। वह कभी भी अपना निज स्वभाव छोड़कर राग द्वेषमें लगकर पर पदार्थ अर्थात् शरीर आदिको ग्रहण नहीं करेगा, क्योंकि वर्त्तमानकालमें जो निर्मल पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ है, वह तो आगामी अनंत काल तक ऐसा ही रहेगा॥ १०८॥

पुन। सवैया इकतीसा।

जवहीतें चेतन विभावसों उलटि आपु,
समै पाइ अपनौ सुभाव गहि लीनौ है।
तवहीतें जोजो लेने जोग सोसो सब लीनौ,
जोजो त्यागजोग सोसो सब छांडि दीनौ है॥

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह॥ ४३॥

लैवेकों न रही ठौर त्यागिवेकों नांही और,
 वाकी कहा उवरयौ जु कारजु नवीनौ है।
संग त्यागि अग त्यागि वचन तरग त्यागि,
 मन त्यागि वुद्धि त्यागि आपा सुद्ध कीनौ है१०९

शब्दार्थ—उलटि=विमुख होकर। समै (समय)=मौका। उवरयौ=शेष रहा। कारजु (कार्य)=काम। संग=परिग्रह। अग=देह। तरग=लहर। वुद्धि=इन्द्रिय जनितज्ञान। आपा=निज आत्म।

अर्थ—अवसर मिलनेपर जबसे आत्माने विभाव परणति छोड़कर निज स्वभाव ग्रहण किया है, तबसे जो जो बातें उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य थीं, वे वे सब ग्रहण कीं, और जो जो बातें हेय अर्थात् त्यागने योग्य थी, वे वे सब छोड दीं। अब ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य कुछ नहीं रह गया और न कुछ शेष रह गया जो नया काम करनेको बाकी हो। परिग्रह छोड दिया, शरीर छोड़ दिया, वचनकी क्रियासे रहित हुआ, मनके विकल्प त्याग दिये, इन्द्रियजनित ज्ञान छोडा और आत्माको शुद्ध किया॥ १०९॥

मुक्तिका मूल कारण द्रव्यलिंग नहीं है। दोहा।

सुद्ध ग्यानके देह नहि, मुद्रा भेप न कोइ।
तातै कारन मोखकौ, दरवलिग नहि होइ॥ ११०॥

व्यतिरिक्त परद्रव्यादेव ज्ञानमवस्थितम्।
कथमाहारक तत्स्यात्येन देहोऽस्य शङ्कयते॥ ४४॥

दरवलिंग* न्यारौ प्रगट, कला वचन विग्यान।
अष्ट महारिधि अष्ट सिधि, एऊ होहि न ग्यान॥१११

शब्दार्थ—मुद्रा=शकल। भेस (वेश)=बनावट। दरवलिंग=बाह्य वेष। प्रगट=स्पष्ट।

अर्थ—आत्मा शुद्धज्ञानमय है, और शुद्धज्ञानके शरीर नहीं है, और न आकृति-वेष आदि हैं, इसलिये द्रव्यलिंग मोक्षका कारण नहीं है॥ ११०॥ बाह्य वेष जुदा है, कलाकौशल जुदा है, वचन चातुरी जुदा है अष्ट महाऋद्धिएँ जुदी है, अष्ट सिद्धिएँ जुदी हैं और ये कोई ज्ञान नहीं हैं॥ १११॥

आत्माके सिवाय अन्यत्र ज्ञान नहीं है। सवैया इकतीसा।

भेषमैं न ग्यान नहि ग्यान गुरु वर्तनमैं,
मंत्र जत्र तंत्रमैं न ग्यानकी कहानी है।
ग्रंथमैं न ग्यान नहि ग्यान कवि चातुरीमैं,
बातनिमैं ग्यान नहि ग्यान कहा बानी है॥
तातैं भेष गुरुता कवित्त ग्रंथ मंत्र बात,
इनतैं अतीत ग्यान चेतना निसानी है।

१ अष्ट ऋद्धिएँ—

दोहा—अणिमा महिमा गरमिता, लघिमा प्राप्ती काम।
वशीकरण अरु ईशता, अष्ट रिद्धिके नाम॥

२ अष्ट सिद्धिएँ—आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचन, बुद्धि, उपयोग और संग्रह संलीनता

* एव ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम्॥ ४५॥

ग्यानहीमें ग्यान नहि ग्यान और ठौर कहूं,
जाकै घट ग्यान सोई ग्यानका निदानी है ॥११२

शब्दार्थ—मंत्र=झाड़ना फूँकना। जंत्र=गण्डा तावीज। तंत्र=टोटका। कहानी=बात। ग्रंथ=शास्त्र। निसानी=चिह्न। बानी=वचन। ठौर=स्थान। निदानी=कारण।

अर्थ—वेषमें ज्ञान नहीं है, महंतजी बने फिरनेमें ज्ञान नहीं है, मंत्र जंत्र तंत्रमें ज्ञानकी बात नहीं है, शास्त्रमें ज्ञान नहीं है, कविता-कौशलमें ज्ञान नहीं है, व्याख्यानमें ज्ञान नहीं है, क्योंकि वचन जड़ है, इससे वेष, गुरुता, कविताई, शास्त्र, मंत्र तंत्र, व्याख्यान इनसे चैतन्य लक्षणका धारक ज्ञान निराला है। ज्ञान ज्ञानहीमें है, अन्यत्र नहीं है। जिसके घटमें ज्ञान उपजा है, वही ज्ञानका मूल कारण अर्थात् आत्मा है ॥ ११२ ॥

ज्ञानके विना वेषधारी विषयके भिखारी हैं। सवैया इकतीसा।

भेष धरि लोकनिकों वंचै सो धरम ठग,
गुरू सो कहावै गरुवाई जाहि चहिये।
मंत्र तंत्र साधक कहावै गुनी जादूगर,
पंडित कहावै पंडिताई जामें लहिये॥
कवित्तकी कलामें प्रवीन सो कहावै कवि,
वात कहि जानै सो पवारगीर कहिये।

१ २ ये ज्ञान नहीं ज्ञानके कारण हैं। ३ वचन शब्दका प्रकार है, सो शब्द जड़ है, चैतन्य नहीं है।

एतौ सब विषैके भिखारी मायाधारी जीव,
इन्हकौं विलोकिकै दयालरूप रहिये ॥११३॥

शब्दार्थ—वचै=ठगे। प्रवीन=चतुर। पगारगीर=बातचीतमें होश्यार-समाचतुर। विलौकि=देखकर।

अर्थ—जो वेष बनाकर लोगोंको ठगता है, वह धर्म-ठग कहलाता है, जिसमें लौकिक बडप्पन होता है, वह बड़ा कहलाता है, जिसमें मंत्र तंत्र साधनेका गुण है, वह जादूगर कहलाता है, जो कविताईमें होश्यार है, वह कवि कहलाता है, जो बात चीतमें चटपटा है, वह व्याख्याता कहलाता है। सो ये सब कपटी जीव विषयके भिक्षुक है, विषयोंकी पूर्तिके लिये याचना करते फिरते है, इनमें स्वार्थ-त्यागका अंश भी नहीं है। इन्हें देखकर दया आनी चाहिये ॥ ११३ ॥

अनुभवकी योग्यता। दोहा।

जो दयालता भाव सो, प्रगट ग्यानको अंग।
पै तथापि अनुभौ दसा, वरतै विगत तरंग ॥११४॥
दरसन ग्यान चरन दसा, करै एक जो कोइ।
थिर है साधै मोख-मग,सुधी अनुभवी सोइ ॥११५॥

शब्दार्थ—प्रगट=साक्षात्। तथापि=तौ भी। विगत=रहित। तरंग=विकल्प। सुधी=भेदविज्ञानी।

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मन ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ८६ ॥

अर्थ—यद्यपि करणाभाव ज्ञानका साक्षात् अंग है, पर तौ भी अनुभवकी परणति निर्विकल्प रहती है ॥ ११४ ॥ जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता पूर्वक आत्मस्वरूपमें स्थिर होकर मोक्षमार्गको साधता है, वही भेदविज्ञानी अनुभवी है ॥ ११५ ॥

आत्म अनुभवका परिणाम। सवैया इकतीसा।

जोई द्रिग ग्यान चरनातममैं वैठि ठौर,
भयौ निरदौर पर वस्तुकौं न परसै।
सुद्धता विचारै ध्यावै सुद्धतामैं केलि करै,
सुद्धतामैं थिर ह्वै अमृत-धारा वरसै॥
त्यागि तन कष्ट ह्वै सपष्ट अष्ट करमकौ,
करि थान भ्रष्ट नष्ट करै और करसै।
सोतौ विकलप विजई अलप काल मांहि,
त्यागि भौ विधान निरवान पद परसै॥११६॥

शब्दार्थ—निरदौर=परणामोंकी चंचलता रहित। परसै (स्पर्शे) =छूवे। केलि=मौज। सपष्ट (स्पष्ट)=खुलासा। थान (स्थान)= क्षेत्र। करसै (कृश करे)=जीर्ण करे। विकलप विजई=विकल्प जाल जीतनेवाला। अलप (अल्प)=थोड़ा। भौ विधान=जन्म मरणका फेरा। निरवान (निर्वाण)=मोक्ष।

अर्थ—जो कोई सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप आत्मामें अत्यन्त दृढ़ स्थिर होकर विकल्प-जालको दूर करता है, और उसके परिणाम पर पदार्थोंको छू तक नहीं पाते। जो आत्म

शुद्धिकी भावना व ध्यान करता है, वा शुद्ध आत्मामें मौज करता है, अथवा यों कहो कि शुद्ध आत्मामें स्थिर होकर आत्मीय आनंदकी अमृत-धारा बरसाता है, वह शारीरिक कष्टोंको नहीं गिनता, और स्पष्टतया आठों कर्मोंकी सत्ताको शिथिल और विचलित कर देता है, तथा उनकी निर्जरा और नाश करता है, वह निर्विकल्प ज्ञानी थोड़े ही समयमें जन्म मरणरूप संसारको छोड़कर परमधाम अर्थात् मोक्ष पाता है ॥ ११६ ॥

आत्म अनुभव करनेका उपदेश। चौपाई।

गुन परजैमें द्रिष्टि न दीजै।
निरविकलप अनुभौ-रस पीजै ॥
आप समाइ आपमें लीजै।
तनुपौ मेटि अपनुपौ कीजै ॥ ११७ ॥

शब्दार्थ—द्रिष्टि=नजर। रस=अमृत। तनुपौ=शरीरमें अहंकार। अपनुपौ=आत्माको अपना मानना।

अर्थ—आत्माके अनेक गुण पर्यायोंके विकल्पमें न पड़कर निर्विकल्प आत्म अनुभवका अमृत पियो। आप अपने स्वरूपमें लीन हो जाओ, और शरीरमें अहंबुद्धि छोड़कर निज आत्माको अपनाओ ॥ ११७ ॥

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥ ४०

पुन दोहा।

तजि विभाउ हूजे मगन, सुद्धातम पद मांहि।
एक मोख-मारग यहै, और दूसरो नांहि ॥ ११८ ॥

अर्थ—राग द्वेष आदि विभाव परणतिको हटाकर शुद्ध आत्मपदमें लीन होओ, यही एक मोक्षका रास्ता है, दूसरा मार्ग कोई नहीं है ॥ ११८ ॥

आत्म अनुभवके विना बाह्य चारित्र होनेपर भी जीव अव्रती है।

सवैया इकतीसा।

*केई मिथ्याद्रिष्टी जीव धरै जिनमुद्रा भेष,
क्रियामैं मगन रहैं कहैं हम जती हैं।
अतुल अखंड मल रहित सदा उदोत,
ऐसे ग्यान भावसौं विमुख मूढमती हैं॥
आगम सभालैं दोस टालैं विवहार भालैं,
पालैं व्रत जदपि तथापि अविरती हैं।
आपुकौं कहावैं मोख मारगके अधिकारी,
मोखसौं सदीव रुष्ट दुष्ट दुरमती¹ हैं ॥११९॥

---

१ 'दुरगती' ऐसा भी पाठ है।

*ये त्वेन परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युता।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—क्रिया=बाह्यचारित्र। जती (यति) साधु। अतुल=उपमा रहित। अखंड=नित्य। सदा उदोत=हमेशा प्रकाशित रहनेवाला। विमुख=परामुख। मूढमती=अज्ञानी। आगम=शास्त्र। भाखैं=देखें। अविरती (अव्रती)=व्रत रहित। रुष्ट=नाराज। दुरमती= खोटी बुद्धिवाले।

अर्थ—कई मिथ्यादृष्टी जीव जिनलिंग धारण करके शुभाचारमें लगे रहते है, और कहते है कि हम साधु हैं, वे मूर्ख, अनुपम, अखंड, अमल, अविनाशी और सदा प्रकाशवान ऐसे ज्ञान भावसे सदा पराङ्मुख हैं। यद्यपि वे सिद्धांतका अध्ययन करते, निर्दोष आहार विहार करते और व्रतोंका पालन करते, तो भी अव्रती हैं। वे अपनेको मोक्षमार्गका अधिकारी कहते है, परन्तु वे दुष्ट मोक्षमार्गसे विमुख हैं, और दुर्मति है ॥ ११९ ॥

पुन। चौपाई।

जैसें मुगध धान पहिचानै।
तुष तंदुलकौ भेद न जानै॥
तैसे मूढमती विवहारी।
लखै न बंध मोख गति न्यारी ॥ १२० ॥

अर्थ—जिस प्रकार भोला मनुष्य धानको पहिचाने और तुष तंदुलका भेद न जाने, उसी प्रकार बाह्य क्रियामें लीन रहनेवाला अज्ञानी बंध और मोक्षकी पृथकता नहीं समझता ॥ १२० ॥

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ॥ ४२ ॥

पुन ।दोहा।

जे विवहारी मूढ नर, परजै बुद्धी जीव ।
तिन्हकौं वाहिज क्रियाविषै, है अवलम्ब सदीव॥१२१
कुमती वाहिज दृष्टिसौं, वाहिज क्रिया करंत ।
मानै मोख परपरा, मनमैं हरप धरंत ॥ १२२ ॥
सुद्धातम अनुभौ कथा, कहै समकिती कोइ ।
सो सुनिकैं तासौं कहै, यह सिवपथ न होइ॥१२३॥

अर्थ—जो व्यवहारमें लीन और पर्यायहीमे अहबुद्धि करनेवाले भोले मनुष्य हैं, उन्ह हमेशा बाह्य क्रियाकाण्डहीका बल रहता है ॥ १२१ ॥ जो वहिरदृष्टी और अज्ञानी हैं वे बाह्य चारित्र ही अगीकार करते हैं, और मनमें प्रसन्न होकर उसे मोक्षमार्ग समझते है ॥ १२२ ॥ यदि कोई सम्यग्दृष्टी जीव उन मिथ्यात्वियोंसे शुद्ध आतम अनुभवकी वार्त्ता करे, तो उसको सुनकर वे कहते हैं कि यह मोक्षमार्ग नहीं है ॥ १२३ ॥

अज्ञानी और ज्ञानियोंकी परणतिमें भेद है। कवित्त।

*जिन्हके देहबुद्धि घट अतर,
मुनि-मुद्रा धरि क्रिया प्रवांनहि ।
ते हिय अध बधके करता,
परम तत्तको भेद न जानहि ॥

*द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न ।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥ ५० ॥

जिन्हके हिए सुमतिकी कनिका,
　　वाहिज क्रिया भेष परमानहि ।
ते समकिती मोख मारग मुख,
　　करि प्रस्थान भवस्थिति भानहि ॥ १२४ ॥

शब्दार्थ—देहबुद्धि=शरीरको अपना मानना । प्रमानहि=सत्य मानना । हिय=हृदय । परमतत्त=आत्म पदार्थ । कनिका=किरण । भवस्थिति=ससारकी स्थिति । भानहि=नष्ट करते हैं ।

अर्थ—जिनके हृदयमें शरीरसे अहबुद्धि है, वे मुनिका वेष धारण करके बाह्य चारित्रहीको सत्य मानते हैं । वे हृदयके अधे बधके कर्त्ता हैं, आत्म पदार्थका मर्म नहीं जानते, और जिन सम्यग्दृष्टी जीवोंके हृदयमें सम्यग्ज्ञानकी किरण प्रकाशित हुई है, वे बाह्य क्रिया और वेषको अपना निज स्वरूप नहीं समझते, वे मोक्षमार्गके सन्मुख गमन करके भवस्थितिको नष्ट करते हैं ॥ १२४ ॥

समयसारका सार । सवैया इकतीसा ।

आचारज कहैं जिन वचनको विसतार,
　　अगम अपार है कहैंगे हम कितनौ ।

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै
　　रयमिह परमार्थश्चिन्त्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
　　न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥ ५१ ॥

बहुत बोलिवेसों न मकसूद चुप्प भली,
बोलिये सुवचन प्रयोजन है जितनौ॥
नानारूप जलपसौं नाना विकलप उठें,
तातें जेतौ कारज कथन भलो तितनौ।
सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ अभ्यास कीजे,
यहै मोख पथ परमारथ है इतनौ ॥ १२५ ॥

शब्दार्थ—बिसतार (विस्तार)=फैलाव। अगम=अथाह। मकसूद=इष्ट। जलप=बकवाद। कारज=काम। परमारथ (परमार्थ)= परम पदार्थ।

अर्थ—श्रीगुरु कहते हैं कि जिनवाणीका विस्तार विशाल और अपरम्पार है, हम कहाँ तक कहेंगे। बहुत बोलना हमें इष्ट नहीं है, इससे अब मौन हो रहना भला है, क्योंकि वचन उतने ही बोलना चाहिये, जितनेसे प्रयोजन सधे। अनेक प्रकारका बकवाद करनेसे अनेक विकल्प उठते हैं, इसलिये उतना ही कथन करना ठीक है जितनेका काम है। बस, शुद्ध परमात्माके अनुभवका अभ्यास करो यही मोक्ष-मार्ग है और इतना ही परमार्थ है ॥ १२५ ॥

पुनः। दोहा।

सुद्धातम अनुभौ क्रिया, सुद्ध ग्यान द्रिग दौर।
मुकति पथ साधन यहै, वागजाल सब और॥१२६॥

शब्दार्थ—क्रिया=चारित्र। द्रिग=दर्शन। वागजाल=वाक्याडम्बर।

अर्थ—शुद्ध आत्माका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है, यही मोक्षका मार्ग है, बाकी सब वाक्याडम्बर है ॥१२६॥

अनुभव योग्य शुद्ध आत्माका स्वरूप। दोहा।

जगत चक्षु आनंदमय, ग्यान चेतनाभास।
निरविकलप सासुत सुथिर, कीजे अनुभौ तास १२७
अचल अखंडित ग्यानमय, पूरन वीत ममत्व।
ग्यान गम्य बाधा रहित, सो है आतम तत्व॥१२८॥

अर्थ—आत्म पदार्थ जगतके सब पदार्थोंको देखनेके लिये नेत्र है, आनंदमय है, ज्ञान चेतनासे प्रकाशित है, संकल्प विकल्प रहित है, स्वयं सिद्ध है, अविनाशी है, अचल है, अखंडित है, ज्ञानका पिण्ड है, सुख आदि अनंत गुणोंसे परिपूर्ण है, वीतराग है, इन्द्रियोंके अगोचर है, ज्ञान गोचर है, जन्म मरण वा क्षुधा तृषा आदिकी बाधासे रहित निराबाध है। ऐसे आत्मतत्त्वका अनुभव करो ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥ ५२ ॥
इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितं।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ॥ ५३ ॥

इति सर्वविशुद्धिज्ञानाधिकार ॥ १० ॥

दोहा।

सर्व विसुद्धी द्वार यह, कह्यौ प्रगट सिवपथ।
कुंद कुंद मुनिराज कृत, पूरन भयौ गरथ ॥१२९॥

अर्थ—साक्षात् मोक्षका मार्ग यह सर्वविशुद्धि अधिकार कह और स्वामी कुन्दकुंदमुनि रचित शास्त्र समाप्त हुआ ॥ १२९ ॥

ग्रन्थकर्ताका नाम और ग्रन्थकी महिमा। चौपाई।

कुंदकुंद मुनिराज प्रवीना।
तिन्ह यह ग्रंथ इहांलौं कीना ॥
गाथा बद्ध सुप्राकृत वानी।
गुरुपरंपरा रीति वखानी ॥ १३० ॥
भयौ गिरंथ जगत विख्याता।
सुनत महा सुख पावहिं ग्याता ॥
जे नव रस जगमांहि वखाने।
ते सव समयसार रस सांने ॥ १३१ ॥

अर्थ—आध्यात्मिक विद्यामें कुशल स्वामीकुंदकुंद मुनिने यह ग्रन्थ यहाँ तक रचा है, और वह गुरु परम्पराके कथन अनुसार प्राकृत भाषामें गाथाबद्ध कथन किया है ॥१३०॥ यह ग्रन्थ जगत् प्रसिद्ध है, इसे सुनकर ज्ञानी लोग परमानंद प्राप्त करते हैं। लोकमें जो नव रस प्रसिद्ध हैं वे सब इस समयसारके रसमें समाये हुए हैं ॥ १३१ ॥

* 'सन्दे' ऐसा भी पाठ है।

पुन । दोहा ।

प्रगटरूप संसारमे, नव रस नाटक होइ ।
नवरस गर्भित ग्यानमय, विरला जाने कोइ॥१३२॥

अर्थ—ससारमे प्रसिद्ध है कि नाटक नव रस सहित होता है, पर ज्ञानमे नव ही रस गर्भित है, इस वातको कोई विरला ही ज्ञानी जानता है ।

भावार्थ—नव रसोमे सवका नायक शान्त रस है, और शान्त रस ज्ञानमें है ॥ १३२ ॥

नव रसोंके नाम । कवित्त ।

प्रथम सिगार वीर दूजौ रस,
तीजौ रस करुना सुखदायक ।
हास्य चतुर्थ रुद्र रस पंचम,
छट्ठम रस वीभच्छ विभायक ॥
सप्तम भय अट्ठम रस अद्भुत,
नवमो शांत रसनिकौ नायक ।
ए नव रस एई नव नाटक,
जो जहं मगन सोइ तिहि लायक ॥ १३३ ॥

अर्थ—पहला शृगार, दूसरा वीर रस, तीसरा सुखदायक करुणा रस, चौथा हास्य, पाँचवाँ रौद्र रस, छठा घिनावना वीभत्स रस, सातवाँ भयानक, आठवॉ अद्भुत और नवमा सब रसोंका सरताज शान्त रस है। ये नव रस है और यही नाटक-

रूप हैं। जो जिस रसमें मग्न होवे उसको वही रुचिकर होता है ॥ १३३ ॥

नव रसोंके लौकिक स्थान । सवैया इकतीसा ।

सोभामें सिंगार बसै वीर पुरुषारथमें,
कोमल हिएमें करुना रस बखानिये ।
आनदमें हास्य रुंड मुंडमें विराजै रुद्र,
बीभत्स तहां जहा गिलानि मन आनिये ॥
चिंतामें भयानक अथाहतामें अदभुत,
मायाकी अरुचि तामें सांत रस मानिये ।
एई नव रस भवरूप एई भावरूप,
इनिकौ विलेछिन सुद्रिष्टि जागें जानिये १३४

शब्दार्थ—रुंड मुंड=रण संग्राम । विलेछिन=पृथक्करण ।

अर्थ—शोभामे शृंगार, पुरुषार्थमे वीर, कोमल हृदयमे करुणा, आनदमे हास्य, रण-संग्राममे रौद्र, ग्लानिमे बीभत्स, शोक मरणादिकी चिंतामे भयानक, आश्चर्यमें अद्भुत और वैराग्यमे शान्त रसका निवास है । ये नव रस लौकिक है और परमार्थिक हैं, सो इनका पृथक्करण ज्ञानदृष्टिका उदय होनेपर होता है ॥१३४॥

नव रसोंके पारमार्थिक स्थान । छप्पय ।

गुन विचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख ।
करुना सम रस रीति, हास हिरदै उछाह सुख ॥

अष्ट करम दल मलन, रुद्र वरतै तिहि थानक।
तन विलेछ वीभच्छ, दुंद मुख दसा भयानक॥
अदभुत अनत वल चिंतवन, सांत सहज वैराग ध्रुव।
नव रस विलास परगास तव,
जव सुवोध घट प्रगट हुव॥ १३५॥

शब्दार्थ—उछाह=उत्साह। दल मलन=नष्ट करना। विलेछ=अशुचि।

अर्थ—आत्माको ज्ञान गुणसे विभूषित करनेका विचार श्रृंगार रस है, कर्म निर्जराका उद्यम वीर रस है, अपने ही समान सब जीवोंको समझना करुणा रस है, मनमें आत्म अनुभवका उत्साह हास्य रस है, अष्ट कर्मोंका नष्ट करना रौद्र रस है, शरीरकी अशुचिता विचारना वीभत्स रस है, जन्म मरण आदिका दुख चिंतवन करना भयानक रस है, आत्माकी अनतशक्ति चिंतवन करना अद्भुत रस है, दृढ वैराग्य धारण करना शान्त रस है। सो जब हृदयमें सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है तब इस प्रकार नव रसका विलास प्रकाशित होता है॥ १३५॥

चौपाई।

जव सुवोध घटमें परगासै।
तव रस विरस विषमता नासै॥
नव रस लखै एक रस मांही।
तातैं विरस भाव मिटि जांही॥१३६॥

शब्दार्थ—सुबोध=सम्यग्ज्ञान। विषमता=भेद।

अर्थ—जब हृदयमें सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, तब रस विरसका भेद मिट जाता है। एक ही रसमें नव रस दिखाई देते हैं, इससे विरस भाव नष्ट होकर एक शान्त रसहीमें आत्मा विश्राम लेता है ॥ १३६ ॥

दोहा।

सबरसगर्भित मूल रस, नाटक नाम गरंथ।
जाके सुनत प्रवान जिय, समुझै पथ कुपथ ॥१३७

शब्दार्थ—मूल रस=प्रधान रस। कुपंथ=खोटा मार्ग।

अर्थ—यह नाटक समयसार ग्रन्थ सब रसोंसे गर्भित आत्मा अनुभव रूप मूलरसमय है, इसके सुनते ही जीव सन्मार्ग और उन्मार्गको समझ जाता है ॥ १३७ ॥

चौपाई।

बरतै ग्रंथ जगत हित काजा।
प्रगटे अमृतचंद्र मुनिराजा ॥
तब तिन्हि ग्रंथ जानि अति नीका।
रची बनाई संसकृत टीका ॥ १३८ ॥

अर्थ—यह जगत्हितकारी ग्रन्थ प्राकृत भाषामें था सो अमृतचन्द्रस्वामीने इसे अत्यंत श्रेष्ठ जानकर इसकी संस्कृतटीका बनाई ॥ १३८ ॥

दोहा।

सरव विसुद्धी द्वारलौं, आए करत वखान।
तव आचारज भगतिसौं, करै ग्रंथ गुन गान १३९

अर्थ—स्वामीअमृतचद्रने सर्वविशुद्धिद्वार पर्यंत इस ग्रन्थका संस्कृत भाषामे व्याख्यान किया है और भक्तिपूर्वक गुणानुवाद गाया है॥ १३९॥

दशवें अधिकारका सार।

अनंतकालसे जन्म मरणरूप ससारमे निवास करते हुए इस मोही जीवने पुद्गलोके समागमसे कभी अपने स्वरूपका आस्वादन नही किया, और राग द्वेष आदि मिथ्या भावोंमे तत्पर रहा। अब सावधान होकर निजात्म अभिरुचिरूप सुमति राधिकासे नाता लगाना और परपदार्थोंमे अहंबुद्धिरूप कुमति कुवजासे विरक्त होना उचित है। सुमति राधिका सतरजके खिलाडीके समान पुरुषार्थको प्रधान करती है और कुमति कुवजा चौसरके खिलाडीके समान 'पॉसा परे सो दाव' की नीतिसे तकदीरका अवलम्बन लेती है। इस दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि नीतिसे अपने बुद्धिवल और वाह्य साधनोंको सग्रह करके उद्योगमे तत्पर होनेकी शिक्षा दी गई है। नसीवकी बात है, कर्म जैसा रस देगा सो होवेगा, तकदीरमे नहीं है। इत्यादि किसमतके रोनेको अज्ञान भाव बतलाया है, क्योंकि तकदीर अधी है और तदवीर सूझती हुई है।

आत्मा पूर्व कर्मरूप विष-वृक्षोका कर्ता भोगता नही है, इस प्रकारका विचार दृढ रखनेसे और शुद्धात्म पदमे मस्त रहनेसे वे

शब्दार्थ—सुबोध=सम्यग्ज्ञान। विषमता=भेद।

अर्थ—जब हृदयमें सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, तब रस विरसका भेद मिट जाता है। एक ही रसमें नव रस दिखाई देते हैं, इससे विरस भाव नष्ट होकर एक शान्त रसहीमें आत्मा विश्राम लेता है॥ १३६॥

दोहा।

सबरसगर्भित मूल रस, नाटक नाम गरंथ।
जाके सुनत प्रवांन जिय, समुझै पथ कुपथ॥१३७

शब्दार्थ—मूल रस=प्रधान रस। कुपंथ=खोटा मार्ग।

अर्थ—यह नाटक समयसार ग्रन्थ सब रसोंसे गर्भित आत्मा नुभव रूप मूलरसमय है, इसके सुनते ही जीव सन्मार्ग और उन्मार्गको समझ जाता है॥ १३७॥

चौपाई।

वरतै ग्रंथ जगत हित काजा।
प्रगटे अमृतचंद्र मुनिराजा॥
तब तिन्हि ग्रंथ जानि अति नीका।
रची बनाई ससकृत टीका॥ १३८॥

अर्थ—यह जगत्हितकारी ग्रन्थ प्राकृत भाषामे था सो अमृतचन्द्रस्वामीने इसे अत्यंत श्रेष्ठ जानकर इसकी संस्कृतटीका बनाई॥ १३८॥

दोहा।

सरव विसुद्धी द्वारलौं, आए करत वखान।
तव आचारज भगतिसौं, करै ग्रंथ गुन गान १३९

अर्थ—स्वामीअमृतचद्रने सर्वविशुद्धिद्वार पर्यंत इस ग्रन्थका संस्कृत भाषाम व्याख्यान किया ह और भक्तिपूर्वक गुणानुवाद गाया है ॥ १३९ ॥

दशवे अधिकारका सार।

अनंतकालसे जन्म मरणरूप ससारमे निवास करते हुए इस मोही जीवने पुद्गलोंके समागमसे कभी अपने स्वरूपका आस्वादन नहीं किया, और राग द्वेप आदि मिथ्या भावोंमे तत्पर रहा। अब सावधान होकर निजात्म अभिरचिरूप सुमति राधिकासे नाता लगाना और परपदार्थोंम अहंबुद्धिरूप कुमति कुबजासे विरक्त होना उचित है। सुमति राधिका सतरजके खिलाडीके समान पुरुपार्थको प्रधान करती है और कुमति कुबजा चौसरके खिलाडीके समान 'पाँसा परै सो दाव' की नीतिसे तकदीरका अवलम्बन देती है। इस दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि नीतिसे अपने बुद्धिबल और बाह्य साधनोंको सग्रह करके उद्योगमे तत्पर होनेकी शिक्षा दी गई है। नसीबकी बात है, कर्म जैसा रस देगा सो होवेगा, तकदीरमे नहीं है। इत्यादि किस्मतके रोनेको अज्ञान भाव बतलाया है, क्योंकि तकदीर अधी है और तदवीर सूझती हुई है।

आत्मा पूर्व कर्मरूप विप-वृक्षोंका कर्ता भोगता नहीं है, इस प्रकारका विचार दृढ रखनेसे और शुद्धात्म पदमे मस्त रहनेसे वे

(११)

स्वामीअमृतचंद्र मुनिकी प्रतिज्ञा। चौपाई।

अदभुत ग्रंथ अध्यातम वानी।
समुझै कोऊ विरला ग्यानी॥
यामैं स्यादवाद अधिकारा।
ताकौ जो कीजै विसतारा॥ १॥
तो गरथ अति सोभा पावै।
वह मंदिर यहु कलस कहावै॥
तब चित अमृत वचन गढि खोले।
अमृतचंद्र आचारज बोले॥ २॥

शब्दार्थ—अदभुत=अथाह। विरला=कोई कोई। गढ़ि=रचकर।

अर्थ—यह अध्यात्म-कथनका गहन ग्रन्थ है, इसे कोई विरला ही मनुष्य समझ सकता है। यदि इसमें स्याद्वाद अधिकार बढ़ाया जावे तो यह ग्रन्थ अत्यन्त सुन्दर हो जावे, अर्थात् यदि कुंदकुंदस्वामी रचित ग्रन्थकी रचना मंदिरवत् है, तो उसपर स्याद्वादका कथन कलशाके समान सुशोभित होगा। ऐसा विचार कर अमृत-वचनोंकी रचना करके स्वामीअमृतचंद्र कहते हैं॥१॥२॥

पुनः । दोहा ।

कुंदकुंद नाटक विषै, कह्यो दरव अधिकार ।
स्यादवाद नै साधि मैं, कहौं अवस्था द्वार ॥ ३ ॥
कहौं मुकति-पदकी कथा, कहौं मुकतिको पंथ ।
जैसे घृत कारज जहां, तहां कारन दधि मंथ ॥ ४ ॥

अर्थ—स्वामीकुंदकुंदाचार्यने नाटकग्रन्थमें जीव अजीव द्रव्योंका स्वरूप वर्णन किया है, अब मैं स्याद्वाद, नय और साध्य साधक अधिकार कहता हूँ ॥ ३ ॥ साध्य स्वरूप मोक्षपद और साधक स्वरूप मोक्षमार्गका कथन करता हूं, जिस प्रकार कि घृतरूप पदार्थकी प्राप्तिके हेतु दधि-मथन कारण है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार दधिमथनरूप कारण मिलानेसे घृत पदार्थकी प्राप्तिरूप कार्य सिद्ध होता है, उसी प्रकार मोक्ष-मार्ग ग्रहण करनेसे मोक्षपदार्थकी प्राप्ति होती है । मोक्षमार्ग कारण है और मोक्षपदार्थ कार्य है । कारणके बिना कार्यकी सिद्धि नहीं होती, इससे कारण स्वरूप मोक्षमार्ग और कार्य स्वरूप मोक्ष दोनोंका वर्णन किया जाता है ।

चौपाई ।

अमृतचंद्र बोले मृदुवानी ।
स्यादवादकी सुनौ कहानी ॥
कोऊ कहै जीव जग मांही ।
कोऊ कहै जीव है नांही ॥ ५ ॥

दोहा।

एकरूप कोऊ कहै, कोऊ अगनित अंग।
छिनभंगुर कोऊ कहै, कोऊ कहै अभंग ॥ ६ ॥
नै अनंत इहविधि कही, मिलै न काहू कोइ।
जो सब नै साधन करै, स्यादवाद है सोई ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—कहानी=कथन। अगनित अंग=अनेक रूप। छिन भंगुर=अनित्य। अभंग=नित्य।

अर्थ—स्वामीअमृतचन्द्रने मृदु वचनोंमें कहा, कि स्याद्वादका कथन सुनो, कोई कहता है कि संसारमे जीव है, कोई कहता है कि जीव नहीं है ॥ ५ ॥ कोई जीवको एकरूप और कोई अनेकरूप कहता है, कोई जीवको अनित्य और कोई नित्य कहता है ॥ ६ ॥ इस प्रकार अनेक नय हैं कोई किसीसे नहीं मिलते, परस्पर विरुद्ध हैं, और जो सब नयोंको साधता है वह स्याद्वाद है ॥ ७ ॥

विशेष—कोई जीव पदार्थको अस्ति स्वरूप और कोई जीव पदार्थको नास्ति स्वरूप कहते हैं। अद्वैतवादी जीवको एक ब्रह्मरूप कहते हैं, नैयायिक जीवको अनेकरूप कहते हैं, बौद्धमतवाले जीवको अनित्य कहते हैं, सांख्यमतवाले शास्वत अर्थात् नित्य कहते हैं। और यह सब परस्पर विरुद्ध हैं, कोई किसीसे नहीं मिलते, पर स्याद्वादी सब नयोंको अविरुद्ध साधता है।

स्याद्वाद संसार सागरसे तारनेवाला है। दोहा।

स्यादवाद अधिकार अव, कहौ जैनकौ मूल।
जाके जानत जगत जन, लहैं जगत-जल-कूल॥८॥

शब्दार्थ—मूल=मुख्य। जगत जन=संसारके मनुष्य। कूल=किनारा।

अर्थ—जैनमतका मूल सिद्धान्त 'स्याद्वाद अधिकार' कहता हूँ, जिसका ज्ञान होनेसे जगतके मनुष्य संसार-सागरसे पार होते हैं॥८॥

नय समूहपर शिष्यकी शंका और गुरुका समाधान।
सवैया इकतीसा।

शिष्य कहै स्वामी जीव स्वाधीन कि पराधीन,
जीव एक है किधौं अनेक मानि लीजिए।
जीव है सदीव किधौं नांही है जगत मांहि,
जीव अविनश्वर कि नश्वर कहीजिए॥
सतगुरु कहै जीव है सदीव निजाधीन,
एक अविनश्वर दरव-द्रिष्टि दीजिए।

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते॥ १॥
बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभव-
द्विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति॥ २॥

जीव पराधीन छिनभगुर अनेक रूप,
नांही जहां तहा परजै प्रवांन कीजिए ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—अविनस्वर=नित्य। नस्वर=अनित्य। निजाधीन=अपने आधीन। पराधीन=दूसरेके आधीन। नांही=नष्ट होनेवाला।

अर्थ—शिष्य पूछता है कि हे स्वामी! जगतमें जीव स्वाधीन है कि पराधीन? जीव एक है अथवा अनेक? जीव सदाकाल है? अथवा कभी जगतमें नहीं रहता है? जीव अविनाशी है अथवा नाशवान् है? श्रीगुरु कहते हैं कि द्रव्यदृष्टिसे देखो तो जीव सदाकाल है, स्वाधीन है, एक है, और अविनाशी है। पर्याय-दृष्टिसे पराधीन, क्षणभगुर, अनेकरूप और नाशवान् है, सो जहाँ जिस अपेक्षासे कहा गया है उसे प्रमाण करना चाहिये।

विशेष—जब जीवकी कर्म रहित शुद्ध अवस्थापर दृष्टि डाली जाती है तब वह स्वाधीन है, जब उसकी कर्माधीन दशा-पर ध्यान दिया जाता है, तब वह पराधीन है। लक्षणकी दृष्टि-से सब जीवद्रव्य एक है, सख्याकी दृष्टिसे अनेक है। जीव था, जीव है, जीव रहेगा, इस दृष्टिसे जीव सदाकाल है, जीव गतिसे गत्यान्तरमें जाता है, इसलिये एक गतिमें सदाकाल नहीं है। जीव पदार्थ कभी नष्ट नहीं हो जाता, इसलिये वह अविनाशी है, क्षण क्षणमें परिणमन करता है इसलिये वह अनित्य है ॥ ९ ॥

पदार्थ स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है। सवैया इकतीसा।

दर्व खेत काल भाव च्यारौ भेद वस्तुहीमैं,
अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानियै।

१ यहाँ 'नांही से नाशवानका अभिप्राय है।

परके चतुष्क वस्तु नासति नियत अंग,
ताकौ भेद दर्व-परजाइ मध्य जानियै ॥
दरव तौ वस्तु खेत सत्ताभूमि काल चाल,
स्वभाव सहज मूल सकति वखानियै ।
याही भांति पर विकलप बुद्धि कलपना,
विवहारद्रिष्टि अंस भेद परवांनियै ॥ १० ॥

शब्दार्थ—चतुष्क=चार-द्रव्य क्षेत्र काल भाव। अस्ति=है। नासति=नहीं है। नियत=निश्चय। परजाइ=अवस्था। सत्ताभूमि=क्षेत्रावगाह।

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भाव ये चारों वस्तुहीमें हैं, इसलिये अपने चतुष्क अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षासे वस्तु अस्ति स्वरूप है, और परचतुष्क अर्थात परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप है। इस प्रकार निश्चयसे द्रव्य अस्ति नास्तिरूप है। उनका भेद द्रव्य और पर्यायमें जाना जाता है। वस्तुको द्रव्य, सत्ताभूमिको क्षेत्र, वस्तुके परिणमनको काल और वस्तुके मूल स्वभावको भाव कहते हैं। इस प्रकार बुद्धिसे स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी कल्पना करना सो व्यवहार नयका भेद है।

विशेष—गुण पर्यायोंके समूहको वस्तु कहते हैं, इसीका नाम द्रव्य है। पदार्थ आकाशके जिन प्रदेशोंको रोककर रहता है, अथवा जिन प्रदेशोंमें पदार्थ रहता है, उस सत्ताभूमिको क्षेत्र

कहते हैं। पदार्थके परिणमन अर्थात् पर्यायसे पर्यायान्तररूप होनेको काल कहते हैं। और पदार्थके निजस्वभावको भाव कहते हैं। यही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव पदार्थका चतुष्क अथवा चतुष्टय कहलाता है, यह पदार्थका चतुष्टय सदा पदार्थहीमें रहता है, उससे पृथक नहीं होता। जैसे—घटमें स्पर्श रस वा रूक्ष कठोर रक्त आदि गुण पर्यायोंका समुदाय द्रव्य है, जिन आकाशके प्रदेशोंमें घट स्थित है वा घटके प्रदेश उसका क्षेत्र है, घटके गुण पर्यायोंका परिवर्तन उसका काल है, घटकी जल धारणा शक्ति उसका भाव है। इसी प्रकार पट भी एक पदार्थ है, घटके समान पटमें भी द्रव्य क्षेत्र काल भाव है। घटका द्रव्य क्षेत्र काल भाव घटमें है, पटमें नहीं, इसलिये घट अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अस्तिरूप है और पटके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नास्तिरूप है। इसी प्रकार पटका द्रव्य क्षेत्र काल भाव पटमें है, इसलिये पट अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अस्तिरूप है, पटका द्रव्य क्षेत्र काल भाव घटमें नहीं है, इसलिये पट, घटके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नास्तिरूप है ॥ १० ॥

स्याद्वादके सप्त भंग। दोहा।

है नांही नांही सु है, है है नांही नांहि।
यह सरवंगी नय धनी, सब मानै सबमांहि ॥११॥

शब्दार्थ—है=अस्ति। नांही=नास्ति। है नाही=अस्ति नास्ति नांही सु है=अवक्तव्य।

अर्थ—अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य और अस्ति नास्ति अवक्तव्य। ऐसे सात

भग होते हैं, सो इन्हे सर्वांग नयका स्वामी स्याद्वाद सर्व वस्तुमें मानता है।

विशेष—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव इस अपने चतुष्टयकी अपेक्षा तो द्रव्य अस्ति स्वरूप है अर्थात् आपसा है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव, इस परचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य नास्ति स्वरूप है, अर्थात् पर सदृश नही है। उपर्युक्त स्व-चतुष्टय परचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य क्रमसे तीन कालमे अपने भावोकर अस्ति नास्ति स्वरूप है अर्थात् आपसा ह—परसदृश नहीं है। और स्वचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य एकही काल वचन गोचर नही है, इस कारण अवक्तव्य है अर्थात् कहनेमे नही आता। और वही स्वचतुष्टयकी अपेक्षा और एकही काल स्व पर चतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्य अस्ति स्वरूप है तथापि अवक्तव्य है। और वही द्रव्य परचतुष्टयकी अपेक्षा और एक ही काल स्व पर चतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति स्वरूप है, तथापि कहा जाता नहीं। और वही द्रव्य स्वचतुष्टयकी अपेक्षा और परचतुष्टयकी अपेक्षा और एकही वार स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति नास्ति स्वरूप है, तथापि अवक्तव्य है। जैसे कि—एक ही पुरुष पुत्रकी अपेक्षा पिता कहलाता है, और वही पुरुष अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र कहलाता है, और वही पुरुष मामाकी अपेक्षा भानजा कहलाता है, और भानजेकी अपेक्षा मामा कहलाता है, स्त्रीकी अपेक्षा पति कहलाता है, बहिनकी अपेक्षा भाई भी कहलाता है,तथा वही पुरुष अपने वैरीकी अपेक्षा शत्रु कहलाता है, और इष्टकी अपेक्षा मित्र भी कहलाता है। इत्यादि अनेक नातोंसे एक ही पुरुष कथंचित् अनेक प्रकार

कहा जाता है, उसी प्रकार एक द्रव्य सप्त भगके द्वारा साधा जाता है । इन सप्त भगोंका विशेष स्वरूप सप्तभगीतरगिणी आदि अन्यान्य जैनशास्त्रोंसे समझना चाहिये ॥ ११ ॥

एकान्तवादियोंके चौदह नय भेद । सवैया इकतीसा ।

ग्यानकौ कारन ज्ञेय आतमा त्रिलोकमय,
ज्ञेयसौं अनेक ग्यान मेल ज्ञेय छाही है ।
जौलौं ज्ञेय तौलौं ग्यान सर्व दर्वमें विग्यान,
ज्ञेय क्षेत्र मान ग्यान जीव वस्तु नाही है ॥
देह नसै जीव नसै देह उपजत लसै,
आतमा अचेतना है सत्ता अस मांही है ।
जीव छिनभगुर अग्यायक सहजरूपी[1] ग्यान,
ऐसी ऐसी एकान्त अवस्था मूढ पाही है ॥१२

अर्थ—(१) ज्ञेय, (२) त्रैलोक्यमय, (३) अनेकज्ञान, (४) ज्ञेयका प्रतिबिम्ब, (५) ज्ञेय काल, (६) द्रव्यमय ज्ञान, (७) क्षेत्रयुत ज्ञान, (८) जीव नास्ति, (९) जीव विनाश, (१०) जीव उत्पाद, (११) आत्मा अचेतन, (१२) सत्ता अश (१३) क्षण भगुर और (१४) अज्ञायक । ऐसे चौदह नय हैं। सो जो कोइ एक नयको ग्रहण करे और शेपको छोडे, वह एकान्ती मिथ्यादृष्टी है ।

(१) ज्ञेय—एक पक्ष यह है कि ज्ञानके लिये ज्ञेय कारण है । -

१ ' शुरूपा ज्ञान ' ऐसा भी पाठ है ।

(२) त्रैलोक्य प्रमाण—एक पक्ष यह है कि आत्मा तीन लोकके बराबर है।

(३) अनेक ज्ञान—एक पक्ष यह है कि ज्ञेयमें अनेकता होनेसे ज्ञेय भी अनेक है।

(४) ज्ञेयका प्रतिबिम्ब—एक पक्ष यह है कि ज्ञानमें ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं।

(५) ज्ञेय काल—एक पक्ष यह है कि जब तक ज्ञेय है तब तक ज्ञान है, ज्ञेयका नाश होनेसे ज्ञानका भी नाश है।

(६) द्रव्यमय ज्ञान—एक पक्ष यह है कि सब द्रव्य ब्रह्मसे अभिन्न हैं, इससे सब पदार्थ ज्ञानरूप हैं।

(७) क्षेत्रयुत ज्ञान—एक पक्ष यह है कि ज्ञेयके क्षेत्रके बराबर ज्ञान है इससे बाहर नहीं है।

(८) जीवनास्ति—एक पक्ष यह कि जीव पदार्थका अस्तित्व ही नहीं है।

(९) जीव विनाश—एक पक्ष यह है' कि देहका नाश होते ही जीवका नाश हो जाता ह।

(१०) जीव उत्पाद—एक पक्ष यह है कि शरीरकी उत्पत्ति होनेपर जीवकी उत्पत्ति होती है।

(११) आत्मा अचेतन—एक पक्ष यह है कि आत्मा अचेतन है, क्योंकि ज्ञान अचेतन है।

(१२ सत्ता अंश—एक पक्ष यह है कि आत्मा सत्ताका अंश है।

(१३) क्षण भगुर—एक पक्ष यह है कि जीवका सदा परिणमन होता है, इससे क्षणभगुर है।

(१४) अज्ञायक—एक पक्ष यह है कि ज्ञानमें जाननेकी शक्ति नहीं है, इससे अज्ञायक है ॥ १२ ॥

प्रथम पक्षका स्पष्टीकरण और खडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ मूढ कहै जैसें प्रथम सवांरी भींति,
पाछें ताके ऊपर सुचित्र आछयो लेखिए।
तैसें मूल कारन प्रगट घट पट जैसौ,
तैसौ तहां ग्यानरूप कारज विसेखिए ॥
ग्यानी कहै जैसी वस्तु तैसोही सुभाव ताकौ,
तातैं ग्यान ज्ञेय भिन्न भिन्न पद पेखिए।
कारन कारज दोऊ एकहीमें निहचै पै,
तेरो मत साचौ विवहारदृष्टि देखिए ॥१३॥

ज्ञानका कारण ज्ञेय है। इसपर स्याद्वादी ज्ञानी संबोधन करते हैं कि जो जैसा पदार्थ होता है, वैसा ही उसका स्वभाव होता है, इससे ज्ञान और ज्ञेय भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। निश्चय नयमें कारण और कार्य दोनों एक ही पदार्थमें हैं, इससे तेरा जो मन्तव्य है वह व्यवहार नयसे सत्य है ॥ १३ ॥

द्वितीय पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ मिथ्यामती लोकालोक व्यापी ग्यान मानि,
समुझै त्रिलोक पिंड आतम दरव है।
याहीतै सुछंद भयौ डोलै मुखहू न बोलै,
कहै या जगतमैं हमारौई परव है॥
तासौं ग्याता कहै जीव जगतसौं भिन्न पै,
जगतकौ विकासी तौही याहीतै गरव है।
जो वस्तु सो वस्तु पररूपसौं निराली सदा,
निहचै प्रमान स्यादवादमैं सरव है॥ १४॥

शब्दार्थ—लोक=जहाँ छह द्रव्य पाये जाँय। अलोक=लोकसे बाहरका क्षेत्र। सुछंद=स्वतंत्र। गरव=अभिमान।

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥ ३॥

(१३) क्षण भंगुर—एक पक्ष यह है कि जीवका स
परिणमन होता है, इससे क्षणभंगुर है।

(१४) अज्ञायक—एक पक्ष यह है कि ज्ञानमें जानने
शक्ति नहीं है, इससे अज्ञायक है॥ १२॥

प्रथम पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ मूढ कहै जैसे प्रथम सवांरी भींति,
पाछै ताकै ऊपर सुचित्र आछयौ लेखिए
तैसे मूल कारन प्रगट घट पट जैसौ,
तैसौ तहा ग्यानरूप कारज विसेखिए ॥
ग्यानी कहै जैसी वस्तु तैसौही सुभाव ताकौ,
तातैं ग्यान ज्ञेय भिन्न भिन्न पद पेखिए।
कारन कारज दोऊ एकहीमें निहचै पै,
तेरो मत साचौ विवहारदृष्टि देखिए ॥१३॥

शब्दार्थ—भींति=दीवाल। आछयौ=उत्तम। मूलकारन=मु
कारण। कारज=कार्य। निहचै=निश्चय नयसे।

अर्थ—कोई अज्ञानी (मीमांसक आदि) कहते हैं
पहले दीवाल साफ करके पीछे उसपर चित्रकारी करनेसे चि
अच्छा आता है, और यदि दीवाल खराब हो तो चित्र भी खर
उघडता है, उसी प्रकार ज्ञानके मूल कारण घट पट आदि
जैसे होते हैं, वैसा ही ज्ञानरूप कार्य होता है, इससे स्पष्ट है

शब्दार्थ—पसु=मूर्ख। विसतर्यौ=फैला। लरयौ=झगड़ता है। भजिवेकौं=नष्ट करनेके लिये।

अर्थ—अनंत ज्ञेयके आकाररूप परिणमन करनेसे ज्ञानमें अनेक विचित्रताएँ दिखती है, उन्हे विचारकर कोई कोई पशुवत् अज्ञानी कहते है कि ज्ञान अनेक है, और इसका एकान्त पक्ष ग्रहण करके लोगोंसे झगड़ते हैं। उनका अज्ञान हटानेके लिये स्याद्वादी ज्ञानी कहते है कि ज्ञान अगम्य, गंभीर, और निराबाध रससे परिपूर्ण है। उसका ज्ञायक स्वभाव है, सो वह यद्यपि पर्याय-दृष्टिसे अनेक है, तौ भी द्रव्यदृष्टिसे एक ही है ॥ १५ ॥

चतुर्थ पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ कुधी कहे ग्यान मांहि ज्ञेयकौ अकार,
प्रतिभासि रह्यौ है कलंक ताहि धोइये।
जब ध्यान जलसौं पखारिकै धवल कीजै,
तब निराकार सुद्ध ग्यानमय होइयै॥
तासौं स्यादवादी कहै ग्यानकौ सुभाउ यहै,
ज्ञेयकौ अकार वस्तु मांहि कहां खोइयै।
जैसे नानारूप प्रतिबिंबकी झलक दीखै,
जद्यपि तथापि आरसी विमल जोइयै॥१६॥

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥ ५ ॥

अर्थ—कोई अज्ञानी (नैयायिक आदि) ज्ञानको लोकालोक व्यापी जानकर आत्म-पदार्थको त्रैलोक्य प्रमाण समझ बैठे हैं, इसलिये अपनेको सर्वव्यापी समझकर स्वतंत्र वर्तते हैं, और अभिमानमें मस्त होकर दूसरोंको मूर्ख समझते हैं, किसीसे बात भी नहीं करते, और कहते हैं कि संसारमें हमारा ही सिद्धान्त सच्चा है। उनसे स्याद्वादी ज्ञानी कहते हैं कि जीव जगतसे जुदा है, परन्तु उसका ज्ञान त्रैलोक्यमें प्रसारित होता है इससे तुझे ईश्वरपनेका अभिमान है, परंतु पदार्थ अपने सिवाय अन्य पदार्थोंसे सदा निराला रहता है, सो निश्चय नयसे स्याद्वादमें मत गर्भित है॥१४॥

तृतीय पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ पसु ग्यानकी अनंत विचित्राई देखै,
ज्ञेयके अकार नानारूप विसतर्यौ है।
ताहीकौ विचारि कहै ग्यानकी अनेक सत्ता,
गहिकै एकंत पच्छ लोकनिसौं लर्यौ है॥
ताकौ भ्रम भंजिवेकौं ग्यानवंत कहै ग्यान,
अगम अगाध निराबाध रस भर्यौ है।
ज्ञायक सुभाइ परजायसौं अनेक भयौ,
जद्यपि तथापि एकतासौं नहि टर्यौ है॥१५

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लसद्
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन् पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्
नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित्॥ ४॥

शब्दार्थ—पसु=मूर्ख। विसतरयौ=फैला। लरयौ=झगड़ता है। नजिबेकौं=नष्ट करनेके लिये।

अर्थ—अनत ज्ञेयके आकाररूप परिणमन करनेसे ज्ञानमें अनेक विचित्रताएँ दिखती है, उन्हें विचारकर कोई कोई पशुवत् अज्ञानी कहते है कि ज्ञान अनेक है, और इसका एकान्त पक्ष ग्रहण करके लोगोंसे झगड़ते हैं। उनका अज्ञान हटानेके लिये स्याद्वादी ज्ञानी कहते है कि ज्ञान अगम्य, गंभीर, और निराबाध रससे परिपूर्ण है। उसका ज्ञायक स्वभाव है, सो वह यद्यपि पर्याय-दृष्टिसे अनेक है, तो भी द्रव्यदृष्टिसे एक ही है ॥ १५ ॥

चतुर्थ पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ कुधी कहै ग्यान मांहि ज्ञेयकौ अकार,
प्रतिभासि रह्यौ है कलंक ताहि धोइयै।
जब ध्यान जलसौं पखारिकै धवल कीजै,
तब निराकार सुद्ध ग्यानमय होइयै॥
तासौं स्यादवादी कहै ग्यानकौ सुभाउ यहै,
ज्ञेयकौ अकार वस्तु मांहि कहा खोइयै।
जैसे नानारूप प्रतिबिंबकी झलक दीखै,
जद्यपि तथापि आरसी विमल जोइयै॥१६॥

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कुधा=मूर्ख। प्रतिभासि=झलकना। कलंक=दोष। पखारिकै=धोकरके। धवल=उज्ज्वल। आरसी=दर्पण। जोइयै=देखिये।

अर्थ—कोई अज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानमें ज्ञेयका आकार झलकता है, यह ज्ञानका दोष है, जब ध्यानरूप जलसे ज्ञानका यह दोष धोकर साफ किया जावे तब शुद्ध ज्ञान निराकार होता है। उससे स्याद्वादी ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानका ऐसाही स्वभाव है, ज्ञेयका आकार जो ज्ञानमें झलकता है, वह कहाँ भगा दिया जावे? जिस प्रकार दर्पणमें यद्यपि अनेक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, तो भी दर्पण ज्योंका त्यों स्वच्छ ही बना रहता है, उसमें कुछ भी विकार नहीं होता॥ १६॥

पचम पक्षका स्पष्टीकरण और खडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ अज्ञ कहै ज्ञेयाकार ग्यान परिनाम,
जौलौं विद्यमान तौलौं ग्यान परगट है।
ज्ञेयके विनास होत ग्यानकौ विनास होइ,
ऐसी वाके हिरदै मिथ्यातकी अलट है॥
तासौं समकितवंत कहै अनुभौ कहानि,
पर्जय प्रवांन ग्यान ''नाकार नट है।

निरविकलप अविनस्वर दरवरूप,
ग्यान ज्ञेय वस्तुसौं अव्यापक अघट है॥१७॥

शब्दार्थ—अज्ञ=अज्ञानी । विद्यमान=मौजूद । कहानि=कथा । पर्जय प्रवान=पर्यायके बराबर । नानाकार=अनेक आकृति । अव्यापक= एकमेक नहीं होने वाला। अघट=नहीं घटती अर्थात् नहीं बैठती ।

अर्थ—कोई कोई अज्ञानी कहते है कि ज्ञानका परिणमन ज्ञेयके आकार होता है, सो जब तक ज्ञेय विद्यमान रहता है, तब तक ज्ञान प्रगट रहता है, और ज्ञेयके विनाश होते ही ज्ञान नष्ट हो जाता है, इस प्रकार उसके हृदयमें मिथ्यात्वका दुराग्रह है। उससे भेदविज्ञानी अनुभवकी बात कहते है कि जिस प्रकार एक ही नट अनेक स्वांग बनाता है, उसी प्रकार एक ही ज्ञान पर्यायोंके अनुसार अनेकरूप धारण करता है। वास्तवमें ज्ञान निर्विकल्प और नित्य पदार्थ है, वह ज्ञेयमें प्रवेश नहीं करता, इसलिये ज्ञान और ज्ञेयकी एकता नहीं घटती ॥ १७ ॥

छट्ठे पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ मंद कहै धर्म अधर्म आकास काल,
पुदगल जीव सब मेरो रूप जगमें ।

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥ ७ ॥

जानै न मरम निज मानै आपा पर वस्तु,
बांधै द्रिढ करम धरम खोवै डगमै ॥
समकिती जीव सुद्ध अनुभौ अभ्यासै तातैं,
परकौ ममत्व त्याग करै पग पगमैं ।
अपने सुभावमैं मगन रहै आठौं जाम,
धारावाही पथक कहावै मोख मगमैं ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—द्रिढ=पक्के । धरम=पदार्थका निज स्वभाव । डग=कदम । जाम=पहर । आठौं जाम=हमेशा । पथक=मुसाफिर ।

अर्थ—कोई ब्रह्म अद्वैतवादी मूर्ख कहते हैं कि धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल और जीव यह सर्व जगत मेरा ही स्वरूप है, अर्थात् सब द्रव्यमय ब्रह्म है, वे अपना निजस्वरूप नहीं जानते और पर पदार्थोंको निज आत्मा मानते हैं, इससे वे समय समयपर कर्मोंका दृढ बंध करके अपने स्वरूपको मलिन करते है। पर सम्यग्ज्ञानी जीव शुद्ध आत्म अनुभव करते है, इससे क्षण क्षणमे पर पदार्थोंसे ममत्व भाव हटाते हैं, वे सदा अपने स्वभावमे लीन रहते है, ... धारा प्रवाही पथिक कहाते

सप्तम पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ सठ कहै जेतौ ज्ञेयरूप परवांन,
तेतौ ग्यान तातैं कहू अधिक न और है।
तिहूं काल परक्षेत्रव्यापी परनयौ मानै,
आपा न पिछानै ऐसी मिथ्यादृग दौर है॥
जैनमती कहै जीव सत्ता परवांन ग्यान,
ज्ञेयसौं अव्यापक जगत सिरमौर है।
ग्यानकी प्रभामैं प्रतिबिंबित विविध ज्ञेय,
जदपि तथापि थिति न्यारी न्यारी ठौर है१९

शब्दार्थ—दौर=भटकना। सिरमौर=प्रधान।

अर्थ—कोई मूर्ख कहते हैं कि जितना छोटा या बड़ा ज्ञेयका स्वरूप होता है, उतना ही ज्ञान होता है, उससे अधिक कम नहीं होता, इस प्रकार वे सदैव ज्ञानको परक्षेत्रव्यापी और ज्ञेयसे तन्मय मानते हैं, इससे कहना चाहिये कि वे आत्माका स्वरूप नहीं समझ सके, सो मिथ्यात्वकी ऐसी ही गति है। उनसे स्याद्वादी जैनी कहते हैं कि ज्ञान आत्म-सत्ताके बराबर है, वह घट पटादि

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्॥ ८॥

ज्ञेयसे तन्मय नहीं होता, ज्ञान जगतका चूडामणि है, उसकी प्रभामें यद्यपि अनेक ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं तो भी दोनोंकी सत्ताभूमि जुदी जुदी है ॥ १९ ॥

अष्टम पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ सुनवादी कहै ज्ञेयके विनास होत,
ग्यानकौ विनास होइ कहौ कैसे जीजिये।
तातैं जीवतव्यताकी थिरता निमित्त सब,
ज्ञेयाकार परिनामनिकौ नास कीजिये।
सत्यवादी कहै भैया हूजे नाहि खेद खिन्न,
ज्ञेयसौं विरचि ग्यान भिन्न मानि लीजिये।
ग्यानकी सकति साधि अनुभौ दसा अराधि,
करमकौं त्यागिकै परम रस पीजिये ॥२०॥

शब्दार्थ—जीजिये=जीना होगा। खेद खिन्न=दुखी। विरचि=विरक्त होकर। अराधि=आराधना करके। सत्यवादी=पदार्थका यथार्थ स्वरूप कथन करनेवाला।

अर्थ—कोई कोई शून्यवादी अर्थात् नास्तिक कहते हैं, ज्ञेयका नाश होनेसे ज्ञानका नाश होना सम्भव है, और ज्ञान जीवका

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झना
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन् ॥
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥ ९ ॥

स्वरूप है, इसलिये ज्ञानका नाश होनेसे जीवका नाश होना स्पष्ट है, तो फिर ऐसी दशामे क्योंकर जीवन रह सकता है, अतः जीवकी नित्यताके लिये ज्ञानमें ज्ञेयाकार परिणमनका अभाव मानना चाहिये । इसपर सत्यवादी ज्ञानी कहते है कि हे भाई ! तुम व्याकुल मत होओ, ज्ञेयसे उदासीन होकर ज्ञानको उससे पृथक मानो, तथा ज्ञानकी ज्ञायक शक्ति सिद्ध करके अनुभवका अभ्यास करो और कर्मबन्धनसे मुक्त होकर परमानंदमय अमृत-रसका पान करो ॥ २० ॥

नवमें पक्षका स्पष्टीकरण और खडन । सवैया इकतीसा ।

कोऊ क्रूर कहै काया जीव दोऊ एक पिंड,
जब देह नसैगी तबही जीव मरैगौ ।
छायाकौसौ छल किधौं मायाकौसौ परपंच,
कायामैं समाइ फिरि कायाकौ न धरैगौ ॥
सुधी कहै देहसौं अव्यापक सदीव जीव,
समै पाइ परकौ ममत्व परिहरैगौ ।
अपने सुभाई आइ धारना धरामैं धाइ,
आपमैं मगन ह्वैके आप सुद्ध करैगौ ॥२१॥

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाश विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशु ।
अस्तित्व निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥ १० ॥

शब्दार्थ—मूर=मूर्ख। परपंच=ठगाई। सुधी=सम्यग्ज्ञानी। परिहरैगौ=छोड़ेगा। धरा=धरती।

अर्थ—कोई कोई मूर्ख चार्वाक कहते हैं कि शरीर और जीव दोनोंका एक पिण्ड है, सो जब शरीर नष्ट होगा, तब जीव भी नष्ट हो जायगा, जिस प्रकार वृक्षके नष्ट होनेसे छाया नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शरीरके नाश होनेसे जीव भी नाश हो जायगा यह इन्द्रजालियाकी मायाके समान कौतुक बन रहा है, सो जीवात्मा दीपककी लव(ज्योति)के प्रकाशके समान शरीरमें समा जायगा, फिर शरीर धारण नहीं करेगा। इसपर सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि जीव पदार्थ शरीरसे सदैव भिन्न है, सो काल लब्धि पाकर परपदार्थोंसे ममत्व छोड़ेगा, और अपने स्वरूपको प्राप्त होकर निजात्मभूमिमें विश्राम करके उसीमें लीन होकर अपनेको आपही शुद्ध करेगा॥ २१॥

पुन। दोहा।

ज्यौं तन कंचुक त्यागसौं, विनसै नांहि भुजंग।
त्यौं सरीरके नासतैं, अलख अखंडित अंग॥२२॥

शब्दार्थ—कंचुक=कॉंचली। भुजंग=सॉंप। अखंडित=अविनाशी।

अर्थ—जिस प्रकार कॉंचलीके छोडनेसे सर्प नष्ट नहीं हो जाता, उसी प्रकार शरीरका नाश होनेसे जीव पदार्थ नष्ट नहीं होता॥ २२॥

दशवें पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ दुरबुद्धी कहै पहले न हुतौ जीव,
देह उपजत अब उपज्यौ है आइकै।
जौलौं देह तौलौं देहधारी फिर देह नसै,
रहैगौ अलख जोति जोतिमैं समाइकै॥
सदबुद्धी कहै जीव अनादिकौ देहधारी,
जब ग्यानी होइगौ कबहूं काल पाइकै।
तबहीसौं पर तजि अपनौ सरूप भजि,
पावैगौ परमपद करम नसाइकै॥ २३॥

अर्थ—कोई कोई मूर्ख कहते हैं कि पहले जीव नहीं था, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्वमय शरीरके उत्पन्न होनेपर ज्ञान शक्तिरूप जीव उपजता है, जबतक शरीर रहता है, तबतक जीव रहता है, और शरीरके नाश होनेपर जीवात्माकी ज्योतिमें ज्योति समा जाती है। इसपर सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि जीव पदार्थ अनादि कालसे देह धारण किये हुए है, नवीन नहीं उपजता, और न देहके नष्ट होनेसे वह नष्ट होता है, कभी अवसर पाकर जब शुद्ध ज्ञान प्राप्त करेगा, तब परपदार्थोंसे

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन्पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन्॥ ११॥

अहंबुद्धि छोडकर आत्मस्वरूपको ग्रहण करेगा और अष्ट कर्मोंको विध्वंश करके निर्वाणपद पावेगा ॥ २३ ॥

ग्यारहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ पक्षपाती जीव कहै ज्ञेयके अकार,
परिनयौ ग्यान तातैं चेतना असत है।
ज्ञेयके नसत चेतनाकौ नास ता कारन,
आतमा अचेतन त्रिकाल मेरे मत है॥
पंडित कहत ग्यान सहज अखंडित है,
ज्ञेयकौ आकार धरै ज्ञेयसौं विरत है।
चेतनाकौ नास होत सत्ताकौ विनास होइ,
यातैं ग्यान चेतना प्रवान जीव तत है॥२४॥

शब्दार्थ—पक्षपाती=हठग्राही। असत=सत्ता रहित। सहज=स्वाभाविक। विरत=विरक्त। तत=तत्त्व।

अर्थ—कोई कोई हठग्राही कहते हैं कि ज्ञेयके आकार ज्ञान-का परिणमन होता है, और आकार परिणमन असत् है, इससे चेतनाका अभाव हुआ, ज्ञेयके नाश होनेसे चेतनाका नाश है, इसलिये मेरे सिद्धान्तमें आत्मा सदा अचेतन है। इसपर स्याद्वादी

विश्रान्त परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतन।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥ १२ ॥

ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानस्वभावसे ही अविनाशी है वह ज्ञेयाकार परिणमन करता है, पर ज्ञेयसे भिन्न है, यदि ज्ञान चेतनाका नाश मानोगे तो आत्मसत्ताका नाश हो जायगा, इससे जीव तत्त्वको ज्ञान चेतनायुक्त मानना सम्यग्ज्ञान है ॥ २४ ॥

बारहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ महामूरख कहत एक पिंड मांहि,
जहांलों अचित चित अंग लह लहै है।
जोगरूप भोगरूप नानाकार ज्ञेयरूप,
जेते भेद करमके तेते जीव कहै है॥
मतिमान कहै एक पिंड मांहि एक जीव,
ताहीके अनंत भाव अंस फैलि रहै है।
पुग्गलसौं भिन्न कर्म जोगसौं अखिन्न सदा,
उपजै विनसै थिरता सुभाव गहै है ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—अचित=अचेतन-जड़। चित=चेतन। मतिमान=बुद्धिमान-सम्यग्ज्ञानी।

अर्थ—कोई कोई मूर्ख कहते हैं कि एक शरीरमें जबतक चेतन अचेतन पदार्थोंके तरंग उठते हैं, तबतक जो जोगरूप

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ॥ १३ ॥

परिणमे वह जोगी जीव और जो भोगरूप परिणमे वह भोगी जीव है, ऐसे ज्ञेयरूप क्रियाके जितने भेद होते हैं जीवके उतने भेद एक देहमें उपजते हैं, इसलिये आत्मसत्ताके अनंत अंश होते हैं। उनसे सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि एक शरीरमें एकही जीव है, उसके ज्ञान गुणके परिणमनसे अनंत भावरूप अंश प्रगट होते हैं। यह जीव शरीरसे पृथक है, कर्म संयोगसे रहित है और सदा उत्पाद व्यय ध्रौव्य गुण सम्पन्न है॥ २५॥

तेरहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ एक छिनवादी कहै एक पिंड माहि,
एक जीव उपजत एक विनसत है।
जाही समै अंतर नवीन उतपति होइ,
ताही समै प्रथम पुरातन बसत है॥
सरवांगवादी कहै जैसे जल वस्तु एक,
सोई जल विविध तरंगनि लसत है।
तैसे एक आतम दरब गुन परजैसों,
अनेक भयौ पै एक रूप दरसत है॥ २६॥

शब्दार्थ—सरवांगवादी=अनेकान्तवादी। तरंगनि=लहरों।

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहद्ज्ञानांशनानात्मना
निर्ज्ञानात् क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् जीवति॥ १४॥

अर्थ—कोई कोई क्षणिकवादी-बौद्ध कहते हैं कि एक शरीरमें एक जीव उपजता और एक नष्ट होता है, जिस क्षणमें नवीन जीव उत्पन्न होता है उसके पूर्व समयमें प्राचीन जीव था। उनसे स्याद्वादी कहते हैं कि जिस प्रकार पानी एक पदार्थ है वही अनेक लहरोंरूप होता है, उसी प्रकार आत्म द्रव्य अपने गुण पर्यायोंसे अनेकरूप होता है, पर निश्चयनयसे एकरूप दिखता है ॥ २६ ॥

चौदहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ बालबुद्धी कहे ग्यायक सकति जौलौं,
तौलौं ग्यान असुद्ध जगत मध्य जानियें।
ज्ञायक सकति काल पाइ मिटि जाइ जब,
तब अविरोध बोध विमल बखानियें॥
परम प्रवीन कहे ऐसी तौ न बनै बात,
जैसें बिन परगास सूरज न मानियें।
तैसें बिन ग्यायक सकति न कहावै ग्यान,
यह तौ न परोच्छ परतच्छ परवांनियें॥२७॥

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तु वृत्तिक्रमात् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—बालबुद्धी=अज्ञानी। परम प्रवीन=सम्यग्ज्ञानी। परगास (प्रकाश)=उजेला। परतच्छ=साक्षात्।

अर्थ—कोई कोई अज्ञानी कहते हैं कि जबतक ज्ञानमें ज्ञायक शक्ति है, तबतक वह ज्ञान संसारमें अशुद्ध कहलाता है भाव यह है कि ज्ञायकशक्ति ज्ञानका दोष है, और जब समय पाकर ज्ञायक शक्ति नष्ट हो जाती है, तब ज्ञान निर्विकल्प और निर्मल हो जाता है। इसपर सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि यह बात अनुभवमें नहीं आती, क्योंकि जिस प्रकार बिना प्रकाशके सूर्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना ज्ञायकशक्तिके ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये तुम्हारा पक्ष प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है ॥२७॥

स्याद्वादकी प्रशंसा। दोहा।

इहि विधि आतम ग्यान हित, स्यादवाद परवांन।
जाके वचन विचारसौं, मूरख होइ सुजान ॥ २८ ॥
स्यादवाद आतम दशा, ता कारन वलवान।
सिवसाधक बाधा रहित, अखै अखंडित आन॥२९

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसादयन्।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥ १६ ॥
एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन्स्वयम्।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥ १७ ॥

इति स्याद्वादाधिकारः।

अर्थ—इस प्रकार आत्मज्ञानके लिये स्याद्वाद ही समर्थ है, इसके वचन सुनने व अध्ययन करनेसे अज्ञानी लोग पंडित हो जाते हैं ॥ २८ ॥ स्याद्वादसे आत्माका स्वरूप पहिचाना जाता है, इसलिये यह ज्ञान बहुत बलवान् है, मोक्षका साधक है, अनुमान प्रमाणकी बाधासे रहित है, अक्षय है, इसको आत्मवादी प्रतिवादी खंडन नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

ग्यारहवे अधिकारका सार।

जैनधर्मके महत्त्वपूर्ण अनेक सिद्धान्तोंमें स्याद्वाद प्रधान है, जैनधर्मको जो कुछ गौरव है, वह स्याद्वादका है। यह स्याद्वाद अन्य धर्मोंको निर्मूल करनेके लिये सुदर्शन-चक्रके समान है, इस स्याद्वादका रहस्य समझना कठिन नहीं है, पर गूढ अवश्य है, और इतना गूढ है कि इसे स्वामी शंकराचार्य वा स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे अजैन विद्वान् नहीं समझ सके, और स्याद्वादका उलटा खण्डन करके जैनधर्मको बड़ा धक्का दे गये। इतना ही नहीं आधुनिक कई विद्वान् इस धर्मपर नास्तिकपनेका लाञ्छन लगाते हैं।

पदार्थमें जो अनेक धर्म होते हैं, वे सब एक साथ नहीं कहे जा सकते, क्योंकि शब्दमें इतनी शक्ति नहीं जो कि अनेक धर्मोंको एक साथ कह सके, इसलिये किसी एक धर्मको मुख्य और शेषको गौण करके कथन किया जाता है। 'स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा है:—

णाणाधम्मजुद पि य एयं धम्म पि वुच्चदे अत्थं ।
तस्सेयविवक्खादो णत्थि विवक्खाहु सेसाणं॥२६४॥

अर्थ—इसलिये जिस धर्मका जिसकी अपेक्षा कथन किया गया है वह धर्म, जिस शब्दसे कथन किया गया है वह शब्द, और उसको जाननेवाला ज्ञान ये तीनों नय हैं ॥ कहा भी है कि —

सो चिय इक्को धम्मो वाचयसद्दो वि तस्स धमस्स ।
त जाणदि त णाणं ते तिण्णि विणय विसेसा य ॥

अर्थ—हमारे नित्यके बोलचाल भी नय गर्भित हुआ करते हैं, जैसे जब कोई मरणोन्मुख होता है, तब उसे साहस देते हैं कि जीव नित्य है, जीव तो मरता नहीं है, शरीररूप वस्त्रका उससे सम्बन्ध है, सो वस्त्रके समान शरीर बदलना पड़ता है। न तो जीव जन्मता है, न मरता है, और न धन संतान कुटुम्ब आदिसे उसका नाता है, यह जो कुछ कहा गया है वह जीव पदार्थके नित्यधर्मकी ओर दृष्टि देकर कहा गया है। पश्चात् जब वह मर जाता है, और उसके सम्बन्धियोंको सम्बोधन करते हैं तब कहते हैं कि संसार अनित्य है, जो जन्मता है वह मरता ही है, पर्यायोंका पलटना जीवका स्वभाव ही है, यह कथन पदार्थके अनित्य धर्मकी ओर दृष्टि रखकर कहा है । कुंदकुंदस्वामीने पंचास्तिकायमें इस विषयको खूब स्पष्ट किया है, स्वामीजीने कहा है कि जीवके चेतना उपयोग आदि गुण हैं, नर नारक आदि पर्याय हैं । जब कोई जीव मनुष्य पर्यायसे देव पर्यायमें आता है तब मनुष्य पर्यायका

अभाव (व्यय) और देव पर्यायका सद्भाव (उत्पाद) होता है, परन्तु जीव न उपजा है न मरा है, यह उसका ध्रुव धर्म है, बस! इसीका नाम उत्पाद व्यय ध्रौव्य है ।

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो ।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसुत्ति पज्जाओ ॥१८॥

पचास्तिकाय पृ० ३८

अर्थ—वह ही जीव उपजता है, जो कि मरण भावको प्राप्त होता है, स्वभावसे वह जीव न विनशा है और न निश्चयसे उपजा है, सदा एकरूप है तब कौन उपजा और विनशा है ? पर्याय ही उपजी और पर्याय ही विनशी है, जैसे कि देव पर्याय उत्पन्न हुई है, मनुष्य पर्याय नष्ट हुई है यह पर्यायका उत्पादव्यय है । जीवको ध्रौव्य जानना ।

एवं भावमभाव भावाभावं अभावभाव च ।
गुणपज्जयेहि सहिदो ससरमाणो कुणदि जीवो॥२१

पचास्तिकाय पृ० ४५

अर्थ—पर्यायार्थिक नयकी विवक्षासे पचपरावर्त्तनरूप ससारमे भ्रमण करता हुआ यह आत्मा देवादिक पर्यायोंको उत्पन्न करता है, मनुष्यादि पर्यायोंको नाश करता है, तथा विद्यमान देवादिक पर्यायोंके नाशका आरभ करता है, और जो विद्यमान नहीं है मनुष्यादि पर्याय उनके उत्पादका आरम करता है ।

णाणाधम्मजुद पि य एय धम्मं पि व
तस्सेयविवक्खादो णत्थि विवक्खाहु

अर्थ—इसलिये जिस धर्मका जिसकी
गया है वह धर्म, जिस शब्दसे कथन किया ग
उसको जाननेवाला ज्ञान ये तीनों नय हैं ॥

सो चिय इक्को धम्मो वाचयसद्दो
त जाणदि त णाणं ते तिण्णि वि

अर्थ—हमारे नित्यके बोलचाल भी
जैसे जब कोई मरणोन्मुख होता है, तब
नित्य है, जीव तो मरता नहीं है, शरी
है, सो वस्त्रके समान शरीर बदलता
है, न मरता है, और न अब सतान
है, यह जो कुछ कहा गया है वह
ओर दृष्टि देकर कहा गया है।
और उसके सम्बन्धियोंको समझो
ससार अनित्य है, जो जन्मता
पलटना जीवका स्वभाव ही है,
ओर दृष्टि रखकर कहा है।
इस विषयको खूब स्पष्ट किया
चेतना उपयोग आदि गुण है
कोई जीव मनुष्य पर्यायसे देव

साध्य साधक द्वार।

(१२)

प्रतिज्ञा। दोहा।

स्यादवाद अधिकार यह, कह्यौ अलप विसतार।
अमृतचंद मुनिवर कहै, साधक साध्य दुवार ॥ १॥

शब्दार्थ—साध्य=जो सिद्ध करने योग्य है—इष्ट। साधक=जो साध्यको सिद्ध करे।

अर्थ—यह स्याद्वाद अधिकारका संक्षिप्त वर्णन किया अब श्रीअमृतचन्द्र मुनिराज साध्य साधक द्वारका वर्णन करते हैं॥१॥

सवैया इकतीसा।

जोई जीव वस्तु अस्ति प्रमेय अगुरु लघु,
अभोगी अमूरतीक परदेसवंत है।
उतपतिरूप नासरूप अविचलरूप,
रतनत्रयादि गुन भेदसौं अनंत है॥
सोई जीव दरब प्रमान सदा एकरूप,
ऐसौ सुद्ध निहचै सुभाउ निरतंत है।

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयता न जहाति भावः।
एव क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्य्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु॥ १॥

खूब स्मरण रहे नयका कथन अपेक्षित होता है, और तभी वह सुनय कहलाता है, यदि अपेक्षा रहित कथन किया जावे तो वह नय नहीं कुनय है।

ते साविक्खा सुणया णिरविक्खा ते वि दुण्णया होंति
सयलववहारसिद्धी सुणयादो होदि णियमेण ॥

अर्थ—ये नय परस्पर अपेक्षा सहित हों तब तो सुनय हैं, और वे ही जब अपेक्षा रहित ग्रहण किये जाँय, तब दुर्नय हैं, सुनयसे सर्व व्यवहारकी सिद्धि होती है।

अन्य मतावलंबी भी जीव पदार्थके एक ही धर्मपर दृष्टि देकर मस्त हो गये हैं, इसलिये जैनमतमें उन्हें 'मेतवारे'[1] कहा है। इस अधिकारमें चौदह मतवालोंको सम्बोधन किया है, और उनके माने हुए प्रत्येक धर्मका समर्थन करते हुए स्याद्वादको पुष्ट किया है।

---

१ पागल।

साध्य साधक द्वार।

(१२)

प्रतिज्ञा। दोहा।

स्यादवाद अधिकार यह, कह्यौ अलप विसतार।
अमृतचंद मुनिवर कहै, साधक साध्य दुवार॥ १॥

शब्दार्थ—साध्य=जो सिद्ध करने योग्य है—इष्ट। साधक=जो साध्यको सिद्ध करे।

अर्थ—यह स्याद्वाद अधिकारका संक्षिप्त वर्णन किया अब श्रीअमृतचन्द्र मुनिराज साध्य साधक द्वारका वर्णन करते हैं॥१॥

सवैया इकतीसा।

जोई जीव वस्तु अस्ति प्रमेय अगुरु लघु,
अभोगी अमूरतीक परदेसवंत है।
उतपतिरूप नासरूप अविचलरूप,
रतनत्रयादि गुन भेदसौं अनंत है॥
सोई जीव दरव प्रमान सदा एकरूप,
ऐसौ सुद्ध निहचै सुभाउ निरतंत है।

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु॥ १॥

स्यादवाद मांहि साध्य पद अधिकार कह्यौ,
अब आगे कहिवेकौ साधक सिद्धत है ॥२॥

शब्दार्थ—अस्ति=था, है और रहेगा। प्रमेय=प्रमाणमें आने योग्य। अगुरु लघु=न भारी न हलका। उतपति=नवीन पर्यायका प्रगट होना। नास=पूर्व पर्यायका अभाव। अविचल=ध्रौव्य।

अर्थ—यह जीव पदार्थ अस्तित्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, अभोगतृत्व, अमूर्तिकत्व, प्रदेशत्व सहित है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य वा दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणोंसे अनंतरूप है। निश्चयनयमें उस जीव पदार्थका स्वाभाविक धर्म सदा सत्य और एकरूप है। उसे स्याद्वाद अधिकारमें साध्य स्वरूप कहा, अब आगे उसे साधक-रूप कहते हैं ॥ २ ॥

जीवकी साध्य साधक अवस्थाओंका वर्णन। दोहा।

साध्य सुद्ध केवल दशा, अथवा सिद्ध महंत।
साधक अविरत आदि बुध, छीन मोह परजंत ॥३॥

शब्दार्थ—सुद्ध केवल दशा=तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत। सिद्ध महंत=जीवकी अष्टकर्म रहित शुद्ध अवस्था। अविरत बुध=चौथे गुणस्थानवर्ती अव्रतसम्यग्दृष्टी। छीनमोह (क्षीणमोह)=बारहवें गुणस्थानवर्ती सर्वथा निर्मोही।

अर्थ—केवलज्ञानी अरहंत वा सिद्ध परमात्मपद साध्य है और अव्रत सम्यग्दृष्टी अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानसे लगाकर क्षीण-

१ सम्यग्ज्ञान प्रमाण।

मोह अर्थात् बारहवें गुणस्थान पर्यंत नव गुणस्थानोंमेंसे किसी भी गुणस्थानका धारक ज्ञानी जीव साधक है ॥ ३ ॥

साधक अवस्थाका स्वरूप। सवैया इकतीसा।

जाकौ अधो अपूरव अनिवृति करनकौ,
भयौ लाभ भई गुरुवचनकी वोहनी ।
जाके अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ,
अनादि मिथ्यात मिश्र समकित मोहनी ॥
सातौं परकिति खपीं किंवा उपसमी जाके,
जगी उर मांहि समकित कला सोहनी ।
सोई मोख साधक कहायौ ताके सरवंग,
प्रगटी सकति गुन थानक अरोहनी ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अध करण=जिस करणमें (परिणाम समूहमें) उपरितनसमयवर्ती तथा अधस्तनसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश हों । अपूर्वकरण=जिस करणमें उत्तरोत्तर अपूर्वही अपूर्व परिणाम होते जायँ, इस करणमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदा विसदृश ही रहते हैं, और एक समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश भी और विसदृश भी रहते हैं । अनिवृत्तिकरण=जिस करणमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही हों और एक समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश ही हों । वोहनी (बोधनी)=उपदेश । खपीं=समूल नष्ट हुईं । किंवा =अथवा । सोहनी=सुहावनी । अरोहनी=चढ़नेकी ।

१ २-३ इनके विशेष समझनेके लिये गोम्मटसार जीवकांडका अध्ययन करना चाहिये और सुशीलाउपन्यासके पृष्ठ २४७ से २६३ तकके पृष्ठोंमें इसका विस्तारसे वर्णन है ।

हो ! तुम कहाँसे आये हो और कहाँ चले जाओगे और दौलत जहाँकी तहाँ पडी रहेगी। लक्ष्मी न तुम्हारी जातिकी है, न पाँतिकी है, न वश परपराकी है, और तो क्या तुम्हारे एक प्रदेशका भी प्रतिरूप नही है। यदि इसे तुमने नौकरानी बनाकर न रक्खा तो यह तुम्हे लाते मारेगी, सो बडे होकर तुम्हे ऐसा अन्याय करना उचित नही है ॥ ७ ॥

पुन । दोहा ।

माया छाया एक है, घटै बढै छिन मांहि ।
इन्हकी सगति जे लगै, तिन्हहि कहू सुख नांहि॥८॥

अर्थ — लक्ष्मी और छाया एक सारखी हैं, क्षणमे बढती और क्षणमें घटती हैं, जो इनके सगमे लगते हैं अर्थात् नेह लगाते हैं, उन्हे कभी चैन नही मिलती ॥ ८ ॥

कुटुम्बियों आदिसे मोह हटानेका उपदेश। सवैया तेईसा।

लोकनिसौं कछु नातौ न तेरौ न,
तोसौं कछु इह लोकको नातौ ।
ए तौ रहै रमि स्वारथके रस,
तू परमारथके रस मातौ ॥
ये तनसौ तनमै तनसे जड़,
चेतन तू तिनसौं नित हांतौ ।

होहु सुखी अपनौ वल फेरिकै,
तोरिकै राग विरोधको तांतौ ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—लोकनिसौं=कुटुम्बी आदि जनोंसे। नातौ=सम्बन्ध। रहे रमि=लीन हुए। परमारथ=आत्म हित। मातौ=मस्त। तनमै (तन्मय)=लीन। हातौ=भिन्न। फेरिकै=प्रगट करके। तोरिकै=तोड़कर। तांतौ (तन्तु)=धागा।

अर्थ—हे जीव! कुटुम्बी आदि जनोंका तुमसे कुछ सम्बन्ध नहीं है और न तुम्हारा उनसे कुछ इस लोक संबन्धी प्रयोजन है, ये तो अपने मतलबके वास्ते तुम्हारे शरीरसे मुहब्बत लगाते हैं और तुम अपने आत्महितमें मस्त हो। ये लोग शरीरमें तन्मय हो रहे हैं, इसलिये शरीरहीके समान जड़ बुद्धि हैं, और तुम चैतन्य हो, इनसे अलग हो, इसलिये राग द्वेषका धागा तोड़कर अपना आत्मबल प्रगट करो और सुखी होओ ॥ ९ ॥

इन्द्रादि उच्च पदकी चाह अज्ञानता है। सोरठा।

जे दुरबुद्धी जीव, ते उतंग पदवी चहैं।
जे समरसी सदीव, तिनकौं कछू न चाहिये ॥ १० ॥

अर्थ—जो अज्ञानी जीव इन्द्रादि उचपदकी अभिलाषा करते हैं, परन्तु जो सदा समतारसके रसिया हैं, वे संसार सम्बन्धी कोई भी वस्तु नहीं चाहते ॥ १० ॥

समताभाव मात्रहीमें सुख है। सवैया इकतीसा।

हांसीमें विषाद बसै विद्यामें विवाद बसै,
कायामें मरन गुरु वर्तनमें हीनता।

सुचिमें गिलानि बसै प्रापतिमें हानि बसै,
जैमें हारि सुंदर दसामें छवि छीनता ॥
रोग बसै भोगमें संजोगमें वियोग बसै,
गुनमें गरब बसै सेवा मांहि हीनता ।
और जग रीति जेती गर्भित असाता सेती,
साताकी सहेली है अकेली उदासीनता॥११॥

शब्दार्थ—विषाद=रंज। विवाद=उत्तर प्रत्युत्तर। छवि=कान्ति। छीनता=कमी। गरब=घमंड। साता=सुख। सहेली=साथ देनेवाली।

अर्थ—यदि हँसीमें सुख माना जावे तो हँसीमें तकरार (लड़ाई) खड़ी होनेकी संभावना है, यदि विद्यामें सुख माना जावे तो विद्यामें विवादका निवास है, यदि शरीरमें सुख माना जावे तो जो जन्मता है वह अवश्य मरता है, यदि बडप्पनमें सुख माना जावे तो उसमें नीचपनेका वास है, यदि पवित्रतामें सुख माना जावे तो पवित्रतामें ग्लानिका धाम है, यदि लाभमें सुख माना जावे तो जहाँ नफा है वहाँ नुकसान भी है, यदि जीतमें सुख माना जावे तो जहाँ जय है वहाँ हार भी है, यदि सुन्दरतामें सुख माना जावे तो वह सदा एकसी नहीं रहती—बिगडती भी है, यदि भोगोंमें सुख माना जावे तो वे रोगोंके कारण हैं, यदि इष्ट संयोगमें सुख माना जावे तो जिसका संयोग होता है, उसका

१ 'प्रीतिमें अप्रीति' ऐसा भी पाठ है।
१ लौकिक पवित्रता नित्य नहीं है, उसके नष्ट होनेपर मलिनता आजाती है।

वियोग भी है, यदि गुणोंमे सुख माना जावे तो गुणोंमे घमंडका निवास है, यदि नौकरी चाकरीमे सुख माना जावे तो वह गुलामगीरी ही है। इनके सिवाय और भी जो लौकिक कार्य हैं वे सब असातामय हैं, इससे स्पष्ट है कि साताका संयोग मिलानेके लिये उदासीनता सखीके समान है, सार यह है कि समतामात्रभावही जगतमे सुखदायक है ॥ ११ ॥

जिस उन्नतिकी फिर अवनति है वह उन्नति नहीं है।

जिहि उतंग चढ़ि फिर पतन, नहि उतंग वह कूप।
जिहि सुख अतर भय वसै, सो सुख है दुख रूप॥१२
जो विलसै सुख संपदा, गये तहां दुख होइ।
जो धरती वहु तृनवती, जरै अगनिसौं सोइ॥१३॥

शब्दार्थ—उतंग=ऊंचा। पतन=गिरना। कूप=कुआ। विलसै=भोगे। तृनवती=घासवाली। जरै=जलती है।

अर्थ—जिस उच्च स्थानपर पहुँचके फिर गिरना पड़ता है, वह उच्च पद नहीं गहरा कुआ ही है। उसी प्रकार जिस सुखके प्राप्त होनेपर उसके नष्ट होनेका भय है वह सुख नहीं दुखरूप है ॥ १२ ॥ क्योंकि लौकिक सुख सम्पत्तिका विलास नष्ट होनेपर फिर दुख ही प्राप्त होता है, जिस प्रकार कि सघन घासवाली ही धरती अग्निसे जल जाती है ॥ १३ ॥

---

१ 'सुखमें फिर दुख बसै' ऐसा भी पाठ है।

श्रीगुरुके उपदेशमें ज्ञानी जीव रुचि लगाते हैं और मूर्ख समझते ही नहीं। दोहा।

सबद मांहि सतगुरु कहे, प्रगट रूप निज धर्म।
सुनत विचच्छन सद्दहै, मूढ न जानै मर्म॥ १४॥

अर्थ—श्रीगुरु आत्म पदार्थका स्वरूप वर्णन करते हैं, उसे सुनकर बुद्धिमान लोग धारण करते हैं और मूर्ख उसका मर्म ही नहीं समझते॥ १४॥

ऊपरके दोहेका दृष्टान्त द्वारा समर्थन। सवैया इकतीसा।

जैसे काहू नगरके वासी द्वै पुरुष भूले,
तामें एक नर सुष्ट एक दुष्ट उरकौ।
दोउ फिरैं पुरके समीप परे ऊटवमें,
काहू और पथिकसौं पूछे पथ पुरकौ॥
सो तौ कहै तुमारौ नगर है तुमारे ढिग,
मारग दिखावै समुझावै खोज पुरकौ।
एतेपर सुष्ट पहचानै पै न मानै दुष्ट,
हिरदै प्रवांन तैसे उपदेस गुरुकौ॥ १५॥

शब्दार्थ—वासी=रहनेवाले। सुष्ट=समझदार। दुष्ट=दुर्बुद्धि। ऊवट=उल्टा रास्ता।

अर्थ—जिस प्रकार किसी शहरके रहनेवाले दो पुरुष वस्तीके समीप रास्ता भूल गये, उसमें एक सज्जन और दूसरा हृदयका दुर्जन

था। रास्ता भूलकर उलट फिरें और किसी तीसरे रास्तागीरसे अपने नगरका रास्ता पूछें तथा वह रास्तागीर उन्हे रास्ता समझा कर दिखावे और कहे कि यह तुम्हारा नगर तुम्हारे ही निकट है। सो उन दोनो पुरुषोंमे जो सज्जन है वह उसकी बातको सची मानता है अर्थात् अपने नगरको पहिचान लेता है और मूर्ख उसे नहीं मानता, इसी प्रकार ज्ञानी लोग श्रीगुरुके उपदेशको सत्य श्रद्धान करते है, पर अज्ञानियोंकी समझमे नहीं आता। भाव यह है कि उपदेशका असर श्रोताओंके परिणामोंके अनुसार ही होता है[1] ॥ १५ ॥

जैसे काहू जंगलमें पावसको समै पाइ,
अपनै सुभाव महामेघ वरषतु है।
आमल कषाय कटु तीखन मधुर खार,
तैसौ रस वाढ़ै जहां जैसौ दरखतु है॥
तैसै ग्यानवत नर ग्यानको वखान करै,
रसको उमाहू है न काहू परखतु है।
वहै धुनि सुनि कोऊ गहै कोऊ रहै सोइ,
काहूको विखाद होइ कोऊ हरखतु है ॥१६॥

शब्दार्थ—पावस=बरसात। आमल=खट्टा। कषाय=ऐंठायला। कटु=कडुआ। तीखन (तीक्ष्ण)=चरपरा। मधुर=मीठा। खार (क्षार)

1 चौपाई-सुगुरु सिखावहिं बारहिं बारा। सूझ परै तऊ मति अनुसारा॥

=खारा। दरख्त (दरख्त)=पेड़। उमाहू=उत्साहित। न परखत है= परीक्षा नहीं करता। धुनि (ध्वनि)=शब्द। विखाद (विषाद)=रंज।

अर्थ—जैसे किसी वनमें बरसातके दिनोंमें अपने आप पानी बरसता है तो खट्टा, कषायला, कडुवा, चरपरा, मिष्ट, खारा जिस रसका वृक्ष होता है वह पानी भी उसी रसरूप हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी लोग ज्ञानके व्याख्यानमें अपना अनुभव प्रगट करते हैं, पात्र अपात्रकी परीक्षा नहीं करते, उस वाणीको सुनकर कोई तो ग्रहण करते हैं, कोई ऊंघते हैं, कोई विषाद करते हैं और कोई आनंदित होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार पानी अपने आप बरसता है और वह नींबके वृक्षपर पडनेसे कडवा, नींबूके वृक्षपर पडनेसे खट्टा, गन्नेके झाडपर पडनेसे मिष्ट, मिर्चके झाड़पर पड़नेसे चरपरा, चनेके झाडपर पडनेसे खारा और बबूलपर पडनेसे कषायला हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञानी लोग ख्याति लाभादिकी अपेक्षा रहित माध्यस्थभावसे तत्त्वका स्वरूप कथन करते हैं, उसे सुनकर कोई श्रोता परमार्थ ग्रहण करते हैं, कोई संसारसे भयभीत होकर यम नियम लेते हैं, कोई लड़ बैठते हैं, कोई ऊँघते हैं, कोई कुतर्क करते हैं, कोई निंदा स्तुति करते हैं और कोई व्याख्यानके पूर्ण होनेकी ही बाट देखते रहते हैं॥ १६॥

दोहा।

गुरु उपदेश कहा करै, दुराराध्य संसार।
बसै सदा जाकै उदर, जीव पंच परकार॥१७॥

[1] अर्थ—जिसमें पाँच प्रकारके जीव निवास करते हैं वह संसार ही बहुत दुस्तर है, उसके लिये श्रीगुरुका उपदेश क्या करेगा ? ॥ १७ ॥

पाँच प्रकारके जीव। दोहा।

डूंघा प्रभु चूंघा चतुर, सूंघा रूंचक सुद्ध।
ऊंघा दुरबुद्धी विकल, घूंघा घोर अबुद्ध ॥१८॥

शब्दार्थ—रूंचक=रुचिवाला। अबुद्ध=अज्ञान।

अर्थ—डूघा जीव प्रभु हैं, चूंघा चतुर है, सूघा सुद्ध रुचिवत है, ऊंघा दुर्बुद्धि और दुखी है और घूघा महा अज्ञानी है ॥ १८ ॥

डूघा जीवका लक्षण। दोहा।

जाकी परम दसा विषै, करम कलंक न होइ।
डूंघा अगम अगाधपद, वचन अगोचर सोइ ॥१९॥

अर्थ—जिसका कर्म-कालिमा रहित अगम्य, अगाध और वचन अगोचर उत्कृष्ट पद है वे सिद्ध भगवान डूघा जीव हैं ॥ १९ ॥

चूघा जीवका लक्षण। दोहा।

जो उदास है जगतसौं, गहै परम रस प्रेम।
सो चूघा गुरुके वचन, चूंघै बालक जेम ॥ २० ॥

शब्दार्थ—उदास=विरक्त। परम रस=आत्म अनुभव। चूंघै=चूसे।

---

1 यह कथन प० बनारसीदासजीने अपने मनसे किया है किसी ग्रंथके आधारसे नहीं।

अर्थ—जो संसारसे विरक्त होकर आत्म अनुभवका रस सप्रेम ग्रहण करता है और श्रीगुरुके वचन बालकके समान दुग्ध वत् चूसता है वह चूषा जीव है ॥ २० ॥

सूषा जीवके लक्षण। दोहा।

जो सुवचन रुचिसौं सुनै, हियै दुष्टता नांहि।
परमारथ समुझै नहि, सो सूषा जगमांहि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—रुचिसौं=प्रेमसे। परमारथ=आत्मतत्त्व।

अर्थ—जो गुरुके वचन प्रेम पूर्वक सुनता है और हृदयमें दुष्टता नहीं है—भद्र है, पर आत्मस्वरूपको नहीं पहिचानता ऐसा मंद कषायी जीव सूषा है ॥ २१ ॥

ऊंघा जीवका लक्षण। दोहा।

जाकौं विकथा हित लगै, आगम अंग अनिष्ट।
सो ऊंघा विषयी विकल, दुष्ट रुष्ट पापिष्ट ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—विकथा=खोटीवार्ता। अनिष्ट=अप्रिय। दुष्ट=द्वेषी रुष्ट=क्रोधी। पापिष्ट=अधर्मी।

अर्थ—जिसे सत् शास्त्रका उपदेश तो अप्रिय और विकथायें प्रिय लगती हैं वह विषयाभिलाषी, द्वेषी, क्रोधी और अधर्म जीव ऊंघा है ॥ २२ ॥

घूंघा जीवका लक्षण। दोहा।

जाकै वचन श्रवन नहि, नहि मन सुरति विराम।
जडतासौं जड़वत भयौ, घूंघा ताकौ नाम ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—कृपा=दया। प्रसम (प्रशम)=कषायोंकी मंदता। संवेग=संसारसे भयभीत। दम=इंद्रियोंका दमन। आस्तिभाव (आस्तिक्य)=जिन वचनोंपर श्रद्धा। वैराग=संसारसे विरक्त।

अर्थ—दया, प्रशम, संवेग, इन्द्रिय दमन, आस्तिक्य, वैराग्य और सप्त व्यसनका त्याग ये चूधा अर्थात् साधक जीवके चिह्न हैं॥ २६॥

सात व्यसनके नाम। चौपाई।

जूवा आमिष मदिरा दारी।
आखेटक चोरी परनारी॥
एई सात विसन दुखदाई।
दुरित मूल दुरगतिके भाई॥ २७॥

शब्दार्थ—आमिष=मांस। मदिरा=शराब। दारी=वेश्या। आखेटक=शिकार। परनारी=पराई स्त्री। दुरित=पाप। मूल=जड़।

अर्थ—जुआ खेलना, मांस खाना, शराब पीना, वेश्या सेवन, शिकार करना, चोरी और परस्त्री सेवन। ये सातों व्यसन दुखदायक हैं, पापकी जड़ है और कुगतिमें लेजानेवाले है॥ २७॥

व्यसनोंके द्रव्य और भाव भेद। दोहा।

दरवित ये सातो विसन, दुराचार दुखधाम।
भावित अंतर कलपना, मृषा मोह परिनाम॥२८॥

अर्थ—ये सातों जो शरीरसे सेवन किये जाते हैं वे दुराचाररूप द्रव्य व्यसन हैं, और झूठे मोह परिणामकी अंतरंग

कल्पना सो भाव व्यसन है। द्रव्य और भाव दोनों ही दुःखोंके घर हैं ॥ २८ ॥

सप्त भाव व्यसनोंका स्वरूप। सवैया इकतीसा।

अशुभमें हारि शुभजीति यहै दूत कर्म,
देहकी मगनताई यहै मांस भखिवौ ।
मोहकी गहलसौं अजान यहै सुरापान,
कुमतिकी रीति गनिकाकौ रस चखिवौ ॥
निरदै है प्रानघात करवौ यहै सिकार,
परनारी संग परबुद्धिकौ परखिवौ ।
प्यारसौं पराई सौंज गहिवेकी चाह चोरी,
एई सातौं विसन विडारै ब्रह्म लखिवौ ॥२९

शब्दार्थ—दूत (द्यूत)=जूआ । गहल=मूर्छा । अजान=अचेत । सुरा=शराब । पान=पीना । गनिका=वेश्या । सौंज=वस्तु । बिडारै=विदारण करें ।

अर्थ—अशुभ कर्मके उदयमें हार और शुभ कर्मके उदयमें विजय मानना यह भाव जुवा है, शरीरमें लीन होना यह भाव मांस भक्षण है, मिथ्यात्वसे मूर्छित होकर स्वरूपको भूलना यह भाव मद्यपान है, कुबुद्धिके मार्गपर चलना यह भाव वेश्या सेवन है, कठोर परिणाम रखकर प्राणोंका घात करना भाव शिकार है, देहादि परवस्तुमें आत्मबुद्धि रखना सो भाव परस्त्री संग है,

अनुराग पूर्वक परपदार्थोंके ग्रहण करनेकी अभिलाषा करना सो भाव चोरी है। ये ही सातो भाव व्यसन आत्मज्ञानको विदारण करते हैं अर्थात् आत्मज्ञान नहीं होने देते हैं ॥ २९ ॥

साधक जीवका पुरुषार्थ। दोहा।

विमल भाव जामैं नहीं, पौरुष अगम अपार।
किये प्रगट घट सिंधुमैं, चौदह रतन उदार ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—सिंधु=समुद्र। उदार=महान।

अर्थ—जिसके चित्तमें भाव व्यसनोंका लेश भी नहीं रहता है वह अतुल्य और अपरम्पार पुरुषार्थका धारक हृदयरूप समुद्रमें चौदह महारत्न प्रगट करता है ॥ ३० ॥

चौदह भाव रतन। सवैया इकतीसा।

लक्ष्मी सुबुद्धि अनुभूति कउस्तुभ मनि,
वैराग कलपवृच्छ संख सुवचन है।
ऐरावत उद्दिम प्रतीति रंभा उदै विष,
कामधेनु निर्जरा सुधा प्रमोद धन है॥
ध्यान चाप प्रेमरीति मदिरा विवेक वैद्य,
सुद्धभाव चन्द्रमा तुरगरूप मन है।
चौदह रतन ये प्रगट होंहि जहां तहां,
ग्यानके उदोत घट सिंधुकौ मथन है ॥३१॥

शब्दार्थ—सुधा=अमृत। प्रमोद=आनंद। चाप=धनुष। तुरंग=घोड़ा।

अर्थ—जहाँ ज्ञानके प्रकाशमें चित्तरूप समुद्रका मन्थन किया जाता है वहाँ सुबुद्धिरूप लक्ष्मी, अनुभूतिरूप कौस्तुभमणि, वैराग्यरूप कल्पवृक्ष, सत्यवचनरूप शख, ऐरावत हाथीरूप उद्यम, श्रद्धारूप रंभा, उदयरूप विष, निर्जरारूप कामधेनु, आनंदरूप अमृत, ध्यानरूप धनुष, प्रेमरूप मदिरा, विवेकरूप वैद्य शुद्धभावरूप चन्द्रमा और मनरूप घोडा ऐसे चौदह रत्न प्रगट होते हैं ॥ ३१ ॥

चौदह रत्नोंमें कौन हेय और कौन उपादेय हैं। दोहा।

किये अवस्थामें प्रगट, चौदह रतन रसाल।
कछु त्यागै कछु संग्रहै, विधिनिषेधकी चाल ॥ ३२ ॥
रमा संख विष धनु सुरा, वैद्य धेनु हय हेय।
मनि रंभा गज कलपतरु, सुधा सोम आदेय ॥३३॥
इह विधि जो परभाव विष, वमै रमै निजरूप।
सो साधक सिवपथको, चिद वेदक चिद्रूप ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—संग्रहै=ग्रहण करे। विधि=ग्रहण करना। निषेध=छोड़ना। रमा=लक्ष्मी। धनु=धनुष। सुरा=शराब। धेनु=गाय। हय=घोड़ा। रंभा=अप्सरा। सोम=चन्द्रमा। आदेय=ग्रहण करने योग्य। वमै=छोड़े।

अर्थ—साधकदशामें जो चौदह रत्न प्रगट किये उन्हें ज्ञानी जीव विधि निषेधकी रीतिपर कुछ त्याग करता है और कुछ

१ साधक दशा।

शब्दार्थ—निरखैं=देखैं। प्रनीत (प्रणीत)=रचित।

अर्थ—जिनके अंतरगमें ज्ञान-दृष्टि द्रव्यगुण और पर्यायोंका अवलोकन करती है, जो स्वयमेव ही दिनपर दिन स्याद्वादके द्वारा अपना स्वरूप अधिक अधिक जानते हैं। जो केवली कथित धर्ममार्गमें श्रद्धा करके उसके अनुसार आचरण करते हैं, वे ज्ञानी मनुष्य मोहकर्मका मल नष्ट करते हैं और परमपदको प्राप्त करके स्थिर होते हैं॥ ३५॥

शुद्ध अनुभवसे मोक्ष और मिथ्यात्वसे संसार है। सवैया इकतीसा।

*चाकसौ फिरत जाकौ संसार निकट आयौ,
पायौ जिन सम्यक मिथ्यात नास करिकै।
निरदुंद मनसा सुभूमि साधि लीनी जिन,
कीनी मोखकारन अवस्था ध्यान धरिकै॥
सो ही सुद्ध अनुभौ अभ्यासी अविनासी भयौ,
गयौ ताकौ करम भरम रोग गरिकै।

नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो
ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलङ्घयन्तः॥ २॥

यह श्लोक इडरकी प्रतिमें नहीं है, किन्तु मुद्रित दोनों प्रतियोंमें है।

* ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति॥ ३॥

मिथ्यामती अपनौ सरूप न पिछानै तातैं,
डोलै जगजालमैं अनत काल भरिकैं ॥३६॥

शब्दार्थ—चाक=चका। निरदुद (निरद्वंद)=दुविधा रहित गरिकै (गलिकै)=गलकर नष्ट हुआ। पिछानै=पहिचाने।

अर्थ—चाकके समान घूमते घूमते जिसके संसारका अं निकट आगया और जिसने मिथ्यात्वका नाश करके सम्यग्दर्श प्राप्त किया, जिसने राग द्वेष छोड़कर मनरूप भूमिको शुद्ध किय है और ध्यानके द्वारा अपनेको मोक्षके योग्य बनाया है, वही शुद्ध अनुभवका अभ्यास करनेवाला अविचल पद पाता है, और उसः कर्म नष्ट हो जाते हैं व अज्ञानरूपी रोग हट जाता है, परन्त मिथ्यादृष्टी अपने स्वरूपको नहीं पहिचानते इससे वे अनंतका पर्यंत जगतके जालमें भटकते हैं और जन्ममरणके चक्कर लगा हैं ॥ ३६ ॥

आत्म अनुभवका परिणाम। सवैया इकतीसा।

जे जीव दरवरूप तथा परजायरूप,
दोऊ नै प्रवांन वस्तु सुद्धता गहतु हैं।
जे असुद्ध भावनिके त्यागी भये सरवथा,
विषैसौं विमुख ह्वै विरागता वहतु हैं॥
जे जे ग्राह्य भाव त्याग भाव दोऊ भावनिकौं,
अनुभौ अभ्यास विषै एकता करतु हैं।

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥ ४ ॥

तेई ग्यान क्रियाके आराधक सहज मोख,
मारगके साधक अबाधक महतु हैं ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिन जीवोंने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंके द्वारा पदार्थका स्वरूप समझकर आत्माकी शुद्धता ग्रहण की है। जो अशुद्ध भावोंके सर्वथा त्यागी हैं, इन्द्रिय विषयोसे परांमुख होकर वीतरागी हुए हैं, जिन्होंने अनुभवके अभ्यासमें उपादेय और हेय दोनों प्रकारके भावोंको एकसा जाना है, वे ही जीव ज्ञान क्रियाके उपासक हैं, मोक्षमार्गके साधक हैं, कर्म बाधा रहित है और महान हैं ॥ ३७ ॥

ज्ञान क्रियाका स्वरूप। दोहा।

विनसि अनादि असुद्धता, होइ सुद्धता पोख।
ता परनतिको बुध कहैं, ग्यान क्रियासौं मोख॥३८॥

शब्दार्थ—विनसि=नष्ट होकर। पोख=पुष्ट। परनति=चाल।

अर्थ—ज्ञानी लोग कहते हैं कि अनादि कालकी अशुद्धताके नष्ट होने और शुद्धताके पुष्ट होनेकी परणति ज्ञान क्रिया है और उसीसे मोक्ष होता है ॥ ३८ ॥

सम्यक्त्वसे क्रमश ज्ञानकी पूर्णता होती है। दोहा।

जगी सुद्ध समकित कला, बगी मोख मग जोइ।
वहै करम चूरन करै, क्रम क्रम पूरन होइ ॥ ३९ ॥
जाके घट ऐसी दसा, साधक ताकौ नाम।
जैसै जो दीपक धरै, सो उजियारौ धाम ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—बगी=चली।

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी जो किरण प्रकाशित होती है और मोक्षके मार्गमे चलती है वह धीरे धीरे कर्मोंका नाश करती हुई परमात्मा बनती है॥ ३९ ॥ जिसके चित्तमे ऐसी सम्यग्दर्शनकी किरणका उदय हुआ है उसीका नाम साधक है, जैसे कि जिस घरमे दीपक जलाया जाता है उसी घरमे उजेला होता है ॥४०॥

सम्यक्त्वकी महिमा। सवैया इकतीसा।

जाके घट अंतर मिथ्यात अधकार गयौ,
भयौ परगास सुद्ध समकित भानकौ।
जाकी मोह निद्रा घटी ममता पलक फटी,
जान्यौ जिन मरम अवाची भगवानकौ॥
जाकौ ग्यान तेज बग्यौ उद्दिम उदार जग्यौ,
लग्यौ सुख पोख समरस सुधा पानकौ।
ताही सुविचच्छनकौ ससार निकट आयौ,
पायौ तिन मारग सुगम निरवानकौ॥४१॥

शब्दार्थ—अवाची=वचनातीत। बग्यौ=बढ़ा।

अर्थ—जिसके हृदयमे मिथ्यात्वका अधकार नष्ट होनेसे शुद्ध सम्यग्दर्शनका सूर्य प्रकाशित हुआ, जिसकी मोह निद्रा हट गई और ममताकी पलकें उघड़ पड़ीं, जिसने वचनातीत अपने पर-

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहास
शुद्ध प्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा॥ ॥

मेश्वरका स्वरूप पहिचान लिया, जिसके ज्ञानका तेज प्रकाशित हुआ, जो महान उद्यममे सावधान हुआ, जो साम्यभावका अमृतरस पान करके पुष्ट हुआ, उसी ज्ञानीके संसारका अंत समीप आया है और उसने ही मोक्षका सुगम मार्ग पाया है ॥ ४१ ॥

सम्यग्ज्ञानकी महिमा। सवैया इकतीसा।

जाके हिरदैमें स्याद्वाद साधना करत,
सुद्ध आतमाकौ अनुभौ प्रगट भयौ है।
जाके संकलप विकलपके विकार मिटि,
सदाकाल एकीभाव रस परिनयौ है॥
जिन बंध विधि परिहार मोख अंगीकार,
ऐसौ सुविचार पच्छ सोऊ छांड़ि दयौ है।
ताकौ ग्यान महिमा उदोत दिन दिन प्रति,
सोही भवसागर उलंघि पार गयौ है ॥४२॥

शब्दार्थ—परिनयौ=हुआ। परिहार=नष्ट। अंगीकार=स्वीकार। पार=तट।

अर्थ—स्याद्वादके अभ्याससे जिसके अंतःकरणमें शुद्ध आत्माका अनुभव प्रगट हुआ, जिसके संकल्प विकल्पके विकार

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ ६ ॥

नष्ट हो गये और सदैव एक ज्ञानभावरूप हुआ, जिसने बंध विधिका परिहार और मोक्ष अंगीकारका सद्विचार भी छोड़ दिया, जिसके ज्ञानकी महिमा दिनपर दिन प्रकाशित हुई, वह ही संसार सागरसे पार होकर उसके किनारे पर पहुँचा है ॥४२

अनुभवमें नय पक्ष नहीं है। सवैया इकतीसा।

अस्तिरूप नासति अनेक एक थिररूप,
अथिर इत्यादि नानारूप जीव कहिये।
दीसै एक नैकी प्रतिपच्छी न अपर दूजी,
नैकौ न दिखाइ वाद विवादमें रहिये॥
थिरता न होइ विकलपकी तरंगनिमें,
चंचलता वढै अनुभौ दसा न लहिये।
तातें जीव अचल अवाधित अखंड एक,
ऐसौ पद साधिकै समाधि सुख गहिये ४३

शब्दार्थ—थिर=स्थिर। अथिर=चंचल। प्रतिपच्छी=विपरीत। अपर=और। थिरता=शान्ति। समाधि=अनुभव।

चित्स्वभावशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥ ७ ॥

अर्थ—जीव पदार्थ नयकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति, एक अनेक, थिर अथिर, आदि अनेकरूप कहा गया है। यदि एक नयसे विपरीत दूसरा नय न दिखाया जाय तो विपरीतता दिखने लगती है और वादानुवाद उपस्थित होता है। ऐसी दशामें अर्थात् नयके विकल्पजालमें पड़नेसे चित्तको विश्राम नहीं होता और चंचलता बढ़नेसे अनुभव टिक नहीं सकता, इस लिये जीव पदार्थको अचल, अबाधित, अखंडित और एक साधकर अनुभवका आनंद लेना चाहिये।

भावार्थ—एक नय पदार्थको अस्तिरूप कहता है तो दूसरा नय उसी पदार्थको नास्तिरूप कहता है, एक नय उसे एकरूप कहता है तो दूसरा नय उसे अनेक कहता है, एक नय नित्य कहता है तो दूसरा नय उसे अनित्य कहता है, एक नय शुद्ध कहता है तो दूसरा नय उसे अशुद्ध कहता है, एक नय ज्ञानी कहता है तो दूसरा उसे अज्ञानी कहता है, एक नय सबंध कहता है तो दूसरा नय उसे अबंध कहता है। ऐसे परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मोकी अपेक्षासे पदार्थ अनेकरूप कहा जाता है। जब प्रथम नय कहा गया और उसका विरोधी न दिखाया जावे तो विवाद खड़ा होता है और नयोंके भेद बढ़नेसे अनेक विकल्प उपजते हैं जिससे चित्तमें चंचलता बढ़नेके कारण अनुभव नष्ट हो जाता है इसलिये प्रथम अवस्थामें तो नयोंका जानना आवश्यक है, फिर उनके द्वारा पदार्थका वास्तविक स्वरूप निर्णय करनेके अनंतर एक शुद्ध बुद्ध आत्मा ही उपादेय है ॥ ४३ ॥

यद्यपि वह एक क्षणमें शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धाशुद्ध ऐसे तीन-रूप है तो भी इन तीनों रूपोंमे वह अखड चैतन्य शक्तिसे सर्वांग सम्पन्न है। यही स्याद्वाद है, इस स्याद्वादके मर्मको स्याद्वादी ही जानते है, जो मूर्ख हृदयके अंधे हैं वे इस मतलबको नहीं समझते ॥ ४८ ॥

निहचै दरबद्रिष्टि दीजे तब एक रूप,
गुन परजाइ भेद भावसौं बहुत है।
असंख्य परदेस सजुगत सत्ता परमान,
ग्यानकी प्रभासौं लोकाऽलोक मानयुत है॥
परजै तरंगनिके अंग छिनभंगुर है,
चेतना सकतिसौं अखंडित अचुत है।
सो है जीव जगत विनायक जगतसार,
जाकी मौज महिमा अपार अदभुत है॥४९

शब्दार्थ—भेदभाव=व्यवहार नय। सजुगत (संयुक्त)=सहित। जुत (युक्त)=सहित। अचुत=अचल। विनायक=शिरोमणि। मौज=सुख।

अर्थ—आत्मा निश्चयनय वा द्रव्यदृष्टिसे एकरूप है, गुण पर्यायोंके भेद अर्थात् व्यवहारनयसे अभेदरूप हैं। अस्तित्वकी

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता
मितः क्षणविभङ्गुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥ १० ॥

दृष्टिसे निज क्षेत्रावगाहमे स्थित है, प्रदेशोंकी दृष्टिसे लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है, ज्ञायक दृष्टिसे लोकालोक प्रमाण है। पर्यायोंकी दृष्टिसे क्षणभंगुर है, अविनाशी चेतना शक्तिकी दृष्टिसे नित्य है। यह जीव जगतमे श्रेष्ठ और सार पदार्थ है, उसके सुख गुणकी महिमा अपरम्पार और अद्भुत है ॥ ४९ ॥

विभाव सकति परनतिसौं विकल दीसै,
सुद्ध चेतना विचारतैं सहज संत है ।
करम संजोगसौं कहावै गति जोनि वासी,
निहचै सुरूप सदा मुकत महत है ॥
ज्ञायक सुभाउ धरै लोकालोक परगासी,
सत्ता परवांन सत्ता परगासवत है ।
सो है जीव जानत जहान कौतुक महान,
जाकी किरति कहां न अनादि अनंत है ५०

शब्दार्थ—विकल=दुखी । सहज संत=स्वाभाविक शान्त । बासी=रहनेवाला । जहान=लोक । कीरति (कीर्ति)=जस । कहां न=कहाँ नहीं ।

---

१ लोक और अलोकमें उसके ज्ञानकी पहुंच है।

२ ' महान ' ऐसा भी पाठ है अर्थात् कहानी—कथा ।

कषायकलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
ऽद्भुतादद्भुतः ॥ ११ ॥

अर्थ—आत्मा विभाव परणतिसे दुखी दिखता है, पर उसकी शुद्ध चैतन्य शक्तिका विचार करो तो वह साहजिक शान्तिमय ही है। वह कर्मके समर्गसे गति योनिका प्रवासी कहलाता है, पर उसका निश्चय स्वरूप देखो तो कर्म बन्धनसे मुक्त परमेश्वर ही है। उसकी ज्ञायक शक्तिपर दृष्टि डालो तो लोकालोकका ज्ञाता दृष्टा है, यदि उसके अस्तित्वपर ध्यान दो तो निज क्षेत्रावगाह प्रमाण ज्ञानका पिण्ड है। ऐसा जीव जगतका ज्ञाता है, उसकी लीला विशाल है, उसकी कीर्ति कहाँ नहीं है, अनादि कालसे चली आती है और अनंत काल तक चलेगी ॥ ५० ॥

साध्य स्वरूप केवलज्ञानका वर्णन। सवैया इकतीसा।

पंच परकार ग्यानावरनकौ नास करि,
प्रगटी प्रसिद्ध जग मांहि जगमगी है।
ज्ञायक प्रभामें नाना ज्ञेयकी अवस्था धरि,
अनेक भई पै एकताके रस पगी है॥
याही भांति रहेगी अनंत काल परजंत,
अनंत सकति फोरि अनंतसौं लगी है।
नरदेह देवलमें केवल सरूप सुद्ध,
ऐसी ग्यान ज्योतिकी सिखा समाधि जगी है

जयति सहजतेज पुञ्जमज्जत्त्रिलोकी
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूप ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भ
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एष ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—फोरि=स्फुरित करके। देवल=मंदिर। सिखा (शिखा) =ज्वाला। समाधि=अनुभव।

अर्थ—जगतमे जो ज्ञायक ज्योति पाँच प्रकारका ज्ञानावर्णीय कर्म नष्ट करके चमकती हुई प्रगट हुई है और अनेक प्रकार ज्ञेयाकार परिणमन करनेपर भी जो एकरूप हो रही है वह ज्ञायक शक्ति इसी ही प्रकार अनत काल तक रहेगी और अनत वीर्यको स्फुरित करके अक्षय पद प्राप्त करेगी। वह शुद्ध केवलज्ञानरूप प्रभा मनुष्य-देहरूप मंदिरमे परम शान्तिमय प्रगट हुई है ॥ ५१ ॥

अमृतचन्द्र कलाके तीन अर्थ। सवैया इकतीसा।

अच्छर अरथमै मगन रहै सदा काल,
महासुख देवा जैसी सेवा कामगविकी।
अमल अवाधित अलख गुन गावना है,
पावना परम सुद्ध भावना है भविकी ॥
मिथ्यात तिमिर अपहारा वर्धमान धारा,
जैसी उभै जामलौ किरण दीपै रविकी।
ऐसी है अमृतचद्र कला त्रिधारूप धरे,
अनुभौ दसा गरंथ टीका बुद्धि कविकी ५२

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मनिमात्म
न्यनवरतनिमग्न धारयद्ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्ण निःसपत्नस्वभावम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—कामगवि=कामधनु। अलख=आतमा। पावना=पवित्र। अपहारा=नष्ट करनेवाली। वर्धमान=उन्नतिरूप। उभै जाम=दो पहर। त्रिधारूप=तीन प्रकारकी।

अर्थ—अमृतचंद्र स्वामीकी चंद्र कला, अनुभवकी, टीकाकी और कविताकी तीनरूप है सो सदाकाल अक्षर अर्थ अर्थात् मोक्ष पदार्थसे भरपूर है, सेवा करनेसे कामधेनुके समान महा सुखदायक है। इसमें निर्मल और शुद्ध परमात्माके गुण समूहका वर्णन है, परम पवित्र है, निर्मल है और भव्य जीवोंके चिंतवन करने योग्य है, मिथ्यात्वका अंधकार नष्ट करनेवाली है, दो पहरके सूर्यके समान उन्नतिशील है ॥ ५२ ॥

दोहा।

नाम साध्य साधक कह्यौ, द्वार द्वादसम ठीक।
समयसार नाटक सकल, पूरन भयौ सटीक ॥५३॥

अर्थ—साध्य साधक नामक बारहवा अधिकार वर्णन किया और श्रीअमृतचंद्राचार्यकृत समयसारकी संस्कृतटीकाके अनुसार भाषा नाटक समयसारजी समाप्त हुए ॥ ५३ ॥

ग्रंथके अंतमें ग्रंथकारकी आलोचना। दोहा।

अब कवि निज पूरब दसा, कहै आपसौं आप।
सहज हरख मनमें धरै, करै न पश्चाताप ॥ ५४ ॥

अर्थ—स्वरूपका ज्ञान होनेसे प्रसन्नता प्रगट हुई और संतापका अभाव हुआ है इसलिये अब काव्यकर्त्ता स्वयं ही अपनी पूर्व दशाकी आलोचना करते हैं ॥ ५४ ॥

सवैया इकतीसा ।

जो मैं आपा छांड़ि दीनौ पररूप गहि लीनौ,
कीनौ न बसेरौ तहां जहां मेरौ थल है ।
भोगनिकौ भोगी है करमकौ करता भयौ,
हिरदै हमारे राग द्वेष मोह मल है ॥
ऐसी विपरीत चाल भई जो अतीत काल,
सो तो मेरे क्रियाकी ममताहीकौ फल है ।
ग्यान दृष्टि भासी भयौ क्रियासौं उदासी वह,
मिथ्या मोह निद्रामें सुपनकोसौ छल है ५५

शब्दार्थ—बसेरौ=निवास । थल=स्थान । अतीत काल=पूर्व समय । सुपन=स्वप्न ।

अर्थ—मैंने पूर्वकालमें अपना स्वरूप ग्रहण नहीं किया, पर-पदार्थोंको अपना माना और परम समाधिमें लीन नहीं हुआ, भोगोंका भोगता बनकर कर्मोंका कर्ता हुआ, और हृदय राग द्वेष मोहके मलसे मलिन रहा । ऐसी विभाव परणतिमें हमने ममत्व भाव रक्खा अर्थात् विभाव परणतिको आत्म परणति समझा,

---

। यस्माद्द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल ॥ १४ ॥

उसके फलसे हमारी यह दशा हुई। अब ज्ञानका उदय होनेसे क्रियासे विरक्त हुआ हूँ, पहलेका कहा हुआ जो कुछ हुआ वह मिथ्यात्वकी मोह निद्रामें स्वप्न कैसा छल हुआ है, अब नींद खुल गई ॥ ५५ ॥

दोहा।

अमृतचंद्र मुनिराजकृत, पूरन भयौ गिरथ।
समयसार नाटक प्रगट, पंचम गतिकौ पथ ॥ ५६॥

अर्थ—साक्षात् मोक्षका मार्ग बतलानेवाला श्रीअमृतचंद्रजी मुनिराजकृत नाटक समयसार ग्रंथ संपूर्ण हुआ ॥ ५६ ॥

बारहवें अधिकारका सार।

जो साधै सो साधक, जिसको साधा जावे सो साध्य है। मोक्षमार्गमें, "मैं साध्य साधक मैं अबाधक" की नीतिसे आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधक है, भेद इतना है कि ऊँचेकी अवस्था साध्य और नीचेकी अवस्था साधक है इसलिये केवलज्ञानी अर्हंत सिद्ध पर्याय साध्य और सम्यग्दृष्टी श्रावक साधु अवस्थाएँ साधक हैं।

अनंतानुबंधीकी चौकडी और दर्शनमोहनीय त्रयका अनोदय होनेसे सम्यग्दर्शन होता है, और सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर ही जीव उपदेशका वास्तविक पात्र होता है, सो मुख्य उपदेश तत्व

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥ १५ ॥
इति समयसारकलशा समाप्ता ॥

धन जन आदिसे राग हटाने और व्यसन तथा विषय-वासनाओंसे विरक्त होनेका है । जब लौकिक सम्पत्ति और विषय वासनाओंसे चित्त विरक्त हो जाता है तब इन्द्र अहमिन्द्रकी सम्पदा भी विरस और निस्सार भासने लगती है, इसलिये ज्ञानी लोग स्वर्गादिकी अभिलाषा नहीं करते, क्योंकि जहाँ तक चढकर 'देव इक इन्द्री भया' की उक्तिके अनुसार फिर नीचे पडता है उसे उन्नति ही नहीं कहते है, और जिस सुखमे दुखका समावेष है वह सुख नहीं दुख ही है, इससे विवेकवान पुरुष स्वर्ग और नर्क दोनोंको एकही सा गिनते है ।

इस सर्वथा अनित्य ससारमे कोई भी वस्तु तो ऐसी नहीं है जिससे अनुराग किया जावे, क्योंकि भोगोंमे रोग, संयोगमें वियोग, विद्यामे विवाद, शुचिमे ग्लानि, जयमे हार पाइ जाती है। भाव यह है कि ससारकी जितनी सुख सामग्रियॉ है वे दुःखमय ही हैं, इससे साताकी सहेली अकेली उदासीनता जानकर उसकी ही उपासना करना चाहिए ।

शब्दार्थ—सुदिष्टि=सम्यग्दर्शन। ममारखी=मूर्छा—अचेतना। सैली (शैली)=पद्धति। गरब (गर्व) अभिमान। पारखी=परीक्षक। श्रवण=कान। समानी=प्रवेश कर गई। आरखी (आर्षित)=ऋषि प्रणीत। अलप (अल्प)=थोड़ी।

अर्थ—पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जिसके अतरगमें सम्यग्दर्शनकी तरग उठकर मिथ्या मोहनीय जनित निद्रा की असावधानी नष्ट हो गई है, जिनके हृदयमें जैनमतकी पद्धति प्रगट हुई है, जिन्होने मिथ्याभिमानका त्याग किया है, जिन्हें छह द्रव्योंके स्वरूपकी पहिचान हुई है, जिन्हे अरहत कथित आगमका उपदेश श्रवण गोचर हुआ है, जिनके हृदयरूप भडारमे जैन ऋषियोंके वचन प्रवेश कर गये हैं, जिनका ससार निकट आया है वे ही जिन प्रतिमाको जिनराज सदृश मानते हैं ॥ ३ ॥

प्रतिज्ञा चौपाई।

जिन-प्रतिमा जन दोष निकंदै।
सीस नमाइ बनारसि वंदै॥
फिरि मनमांहि विचारै ऐसा।
नाटक गरथ परम पद जैसा॥ ४॥
परम तत्त परचै इस मांही।
गुनथानककी रचना नांही॥
यामें गुनथानक रस आवै।
तो गरथ अति सोभा पावै॥ ५॥

शब्दार्थ—निकदै=नष्ट करे। गुणथानक (गुणस्थान)=मोह और योगके निमित्तसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्माके गुणोंकी तारतम्यरूप अवस्था विशेषको गुणस्थान कहते हैं।

अर्थ—जिनराजकी प्रतिमा भक्तोंके मिथ्यात्वको दूर करती है। उस जिन प्रतिमाको प० बनारसीदासजीने नमस्कार करके मनमें ऐसा विचार किया कि यह नाटक समयसार ग्रंथ परम पदरूप है और इसमें आत्मतत्त्वका व्याख्यान तो है, परन्तु गुणस्थानोंका वर्णन नहीं है। यदि इसमें गुणस्थानोंकी चर्चा सम्मिलित हो तो ग्रंथ बहुत ही उपयोगी हो सकता है॥ ४ ॥ ५ ॥

दोहा।

इह विचारि सछेपसौं, गुनथानक रस चोज।
वरनन करै बनारसी, कारन सिव-पथ खोज॥ ६॥
नियत एक विवहारसौं, जीव चतुर्दस भेद।
रंग जोग बहु विधि भयौ, ज्यौं पट सहज सुफेद॥७

शब्दार्थ—सछेपसौं=थोड़ेमें। जोग (योग)=सयोग। पट=वस्त्र।

अर्थ—यह सोचकर पडित बनारसीदासजी शिव मार्ग खोजनेमें कारणभूत गुणस्थानोंका सक्षिप्त वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥ जीवपदार्थ निश्चयनयसे एकरूप है और व्यवहारनयसे गुणस्थानोंके भेदसे चौदह प्रकारका है। जिस प्रकार सुफेद वस्त्र रंगोंके सयोगसे अनेक रंगका हो जाता है, उसी प्रकार मोह और योगके सयोगसे ससारी जीवोंमे चौदह अवस्थाएँ पाई जाती हैं ॥ ७ ॥

(७) पाँच कारणोंसे सम्यक्त्वका विनाश होता है। दोहा।

ग्यान गरव मति मंदता, निठुर वचन उदगार।
रुद्रभाव आलस दसा, नास पंच परकार॥ ३७॥

अर्थ—ज्ञानका अभिमान, बुद्धिकी हीनता, निर्दय वचनोंका भाषण, क्रोधी परिणाम और प्रमाद ये पाँच सम्यक्त्वके घातक हैं॥ ३७॥

(८) सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचार। दोहा।

लोक हास भय भोग रुचि, अग्र सोच थिति मेव।
मिथ्या आगमकी भगति, मृषा दर्सनी सेव॥ ३८॥

अर्थ—लोक-हास्यका भय अर्थात् सम्यक्त्वरूप प्रवृत्ति करनेमें लोगोंकी हँसीका भय, इन्द्रियोंके विषय भोगनेमें अनुराग, आगामी कालकी चिन्ता, कुशास्त्रोंकी भक्ति और कुदेवोंकी सेवा ये सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचार हैं॥ ३८॥

चौपाई।

अतीचार ए पंच परकारा।
समल करहि समकितकी धारा॥
दूपन भूपन गति अनुसरनी।
दसा आठ समकितकी वरनी॥ ३९॥

अर्थ—ये पाँच प्रकारके अतीचार सम्यग्दर्शनकी उज्ज्वल परणतिको मलिन करते हैं। यहाँतक सम्यग्दर्शनको सदोष व निर्दोष दशा प्राप्त करानेवाले आठ विवरण वर्णन किये॥ ३९॥

मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियोंके अनोदयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। दोहा।

प्रकृति सात अब मोहकी, कहूं जिनागम जोइ।
जिनको उदै निवारिकै, सम्यग्दरसन होइ॥ ४०॥

अर्थ—मोहनीयकर्मकी जिन सात प्रकृतियोंके अनोदयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उन्हें जिनशासनके अनुसार कहता हूं॥ ४०॥

मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियोंके नाम। सवैया इकतीसा।

चारित मोहकी च्यारि मिथ्यातकी तीन तामैं,
प्रथम प्रकृति अनंतानुबंधी कोहनी।
बीजी महा-मानरसभीजी मायामयी तीजी,
चौथी महालोभ दसा परिग्रह पोहनी॥
पाँचईं मिथ्यातमति छट्ठी मिश्रपरनति,
सातईं समै प्रकृति समकित मोहनी।
एईं पट विगवनितासी एक कुतियासी,
सातौं मोहप्रकृति कहावैं सत्ता रोहनी॥४१

शब्दार्थ—चारित मोह=जो आत्माके चारित्र गुणका घात करे। अनंतानुबंधी=जो आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको घाते—अनंत संसारके कारणभूत मिथ्यात्वके साथ जिनका बंध होता है। कोहनी=क्रोध।

१ देख कर।

धीजी=दूसरी। पोहनी=पुष्ट करनेवाली। जिगवनिता=व्याघ्नी। कुतिया=कूकरी—अथवा कर्कशा स्त्री। रोहनी=ढँकनेवाली।

अर्थ—सम्यक्त्वकी घातक चारित्रमोहनीयकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन ऐसी सात प्रकृतियाँ हैं। उनमेंसे पहली अनतानुबंधी क्रोध, दूसरी अभिमानके रँगसे रँगी हुई अनतानुबंधी मान, तीसरी अनतानुबंधी माया, चौथी परिग्रहको पुष्ट करनेवाली अनतानुबंधी लोभ, पाँचवी मिथ्यात्व, छट्ठी मिश्र मिथ्यात्व और सातवीं सम्यक्त्व मोहनी है। इनमेंसे छह प्रकृतियाँ व्याघ्नीके समान सम्यक्त्वके पीछे पडकर भक्षण करनेवाली हैं, और सातवीं कुतिया अर्थात् कुत्ती वा कर्कशा स्त्रीके समान सम्यक्त्वको सकप वा मलिन करनेवाली है। इस प्रकार ये सातों प्रकृतियाँ सम्यक्त्वके सद्भावको रोकती हैं॥ ४१॥

सम्यक्त्वोंके नाम। छप्पय छन्द।

सात प्रकृति उपसमहि, जासु सो उपसम मंडित।
सात प्रकृति छय करन-हार छायिकी अखंडित॥
सातमांहि कछु खपैं, कछुक उपसम करि रक्खै।
सो छय उपसमवंत, मिश्र समकित रस चक्खै॥
षट प्रकृति उपसमै वा खपै, अथवा छय उपसम करै।
सातई प्रकृति जाके उदय, सो वेदक समकित धरै॥४२

१ यह शब्द गुजराती भाषाका है।

शब्दार्थ—अखंडित=अविनासी। चक्खै=स्वाद लेवे। खपैं= क्षय करे।

अर्थ—जो ऊपर कही हुई सातों प्रकृतियोंको उपशमाता है वह औपशमिकसम्यग्दृष्टी है। सातों प्रकृतियोंका क्षय करनेवाला क्षायिकसम्यग्दृष्टी है, यह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता। सात प्रकृतियोंमेंसे कुछ क्षय हों और कुछ उपशम हों तो, वह क्षयोपशमसम्यक्त्वी है, उसे सम्यक्त्वका मिश्ररूप स्वाद मिलता है। छह प्रकृतियाँ उपशम हों वा क्षय हों अथवा कोई क्षय और कोई उपशम हो केवल सातवीं प्रकृति सम्यक्त्व मोहनीका उदय हो तो वह वेदक सम्यक्त्वधारी होता है॥ ४२॥

सम्यक्त्वके नव भेदोंका वर्णन। दोहा।

छयउपसम वरतै त्रिविधि, वेदक च्यारि प्रकार।
छायक उपसम जुगल जुत, नौधा समकित धार॥४३

शब्दार्थ—त्रिविधि=तीन प्रकारका। जुगल=दो। जुत=सहित।

अर्थ—क्षयोपशमसम्यक्त्व तीन प्रकारका है, वेदकसम्यक्त्व चार प्रकारका है, और उपशम तथा क्षायिक ये दो भेद और मिलानेसे सम्यक्त्वके नव भेद होते हैं॥ ४३॥

क्षयोपशमसम्यक्त्वके तीन भेदोंका वर्णन। दोहा।

च्यारि खिपै त्रय उपसमै, पन छै उपसम दोइ।
छै पट् उपसम एक यौं, छयउपसम त्रिक होइ॥४४॥

बीजी=दूसरी। पोहनी=पुष्ट करनेवाली। निगवनिता=व्याघ्रनी। कुतिया=कूकरी—अथवा कर्कशा स्त्री। रोहनी=ढँकनेवाली।

अर्थ—सम्यक्त्वकी घातक चारित्रमोहनीयकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन ऐसी सात प्रकृतियाँ हैं। उनमेंसे पहली अनंतानुबंधी क्रोध, दूसरी अभिमानके रँगसे रँगी हुई अनंतानुबंधी मान, तीसरी अनंतानुबंधी माया, चौथी परिग्रहको पुष्ट करनेवाली अनंतानुबंधी लोभ, पाँचवीं मिथ्यात्व, छट्ठी मिश्र मिथ्यात्व और सातवीं सम्यक्त्व मोहनी है। इनमेंसे छह प्रकृतियाँ व्याघ्रनीके समान सम्यक्त्वके पीछे पड़कर भक्षण करनेवाली हैं, और सातवीं कुतिया अर्थात् कुत्ती वा कर्कशा स्त्रीके समान सम्यक्त्वको सकंप वा मलिन करनेवाली है। इस प्रकार ये सातों प्रकृतियाँ सम्यक्त्वके सद्भावको रोकती हैं ॥ ४१ ॥

सम्यक्त्वोंके नाम। छप्पय छन्द।

सात प्रकृति उपसमहि, जासु सो उपसम मंडित।
सात प्रकृति छय करन-हार छायिकी अखंडित ॥
सातमांहि कछु खपै, कछुक उपसम करि रक्खै।
सो छय उपसमवंत, मिश्र समकित रस चक्खै ॥
षट प्रकृति उपसमै वा खपै, अथवा छय उपसम करै।
सातईं प्रकृति जाके उदय, सो वेदक समकित धरै॥४२

---

१ यह शब्द गुजराती भाषाका है।

शब्दार्थ—अखंडित=अविनाशी । चखै=स्वाद लेवे । खपैं=क्षय करे ।

अर्थ—जो ऊपर कही हुई सातों प्रकृतियोंको उपशमाता है वह औपशमिकसम्यग्दृष्टी है । सातों प्रकृतियोंका क्षय करनेवाला क्षायिकसम्यग्दृष्टी है, यह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता। सात प्रकृतियोंमेंसे कुछ क्षय हों और कुछ उपशम हों तो, वह क्षयोपशमसम्यक्त्वी है, उसे सम्यक्त्वका मिश्ररूप स्वाद मिलता है । छह प्रकृतियाँ उपशम हों वा क्षय हों अथवा कोई क्षय और कोई उपशम हो केवल सातवीं प्रकृति सम्यक्त्व मोहनीका उदय हो तो वह वेदक सम्यक्त्वधारी होता है ॥ ४२ ॥

सम्यक्त्वके नव भेदोंका वर्णन। दोहा।

छयउपसम वरतै त्रिविधि, वेदक च्यारि प्रकार ।
छायक उपसम जुगल जुत, नौधा समकित धार॥४३

शब्दार्थ—त्रिविधि=तीन प्रकारका। जुगल=दो। जुत=सहित।

अर्थ—क्षयोपशमसम्यक्त्व तीन प्रकारका है, वेदकसम्यक्त्व चार प्रकारका है, और उपशम तथा क्षायिक ये दो भेद और मिलानेसे सम्यक्त्वके नव भेद होते है ॥ ४३ ॥

क्षयोपशमसम्यक्त्वके तीन भेदोंका वर्णन। दोहा।

च्यारि खिपै त्रय उपसमै, पन छै उपसम दोइ ।
छै पट् उपसम एक यों, [illegible] त्रिक होइ॥४४॥

अर्थ—(१) चारका क्षय और तीनका उपशम, (२) पाँचका क्षय दोका उपशम, (३) छहका क्षय एकका उपशम, इस प्रकार क्षयोपशमसम्यक्त्वके तीन भेद हैं ॥ ४४ ॥

वेदकसम्यक्त्वके चार भेद। दोहा।

जहां च्यारि परकिति खिपहि, द्वै उपसम इक वेद।
छय-उपसम वेदक दसा, तासु प्रथम यह भेद॥४५॥
पंच खिपै इक उपसमै, इक वेदै जिहि ठौर।
सो छय-उपसम वेदकी, दसा दुतिय यह और॥४६॥
छै षट वेदै एक जौ, छायक वेदक सोइ।
षट उपसम इक प्रकृति विद, उपसम वेदक होइ॥४७

अर्थ—(१) जहाँ चार प्रकृतियोंका क्षय दोका उपशम और एकका उदय है वह प्रथमक्षयोपशमवेदकसम्यक्त्व है, (२) जहाँ पाँच प्रकृतियोंका क्षय एकका उपशम और एकका उदय है वह द्वितीय क्षयोपशमवेदकसम्यक्त्व है, (३) जहाँ छह प्रकृतियोंका क्षय और एकका उदय है वह क्षायिकवेदकसम्यक्त्व

१ अनंतानुबंधीकी चौकड़ी। २ दर्शनमोहनीयका त्रिक। ३ अनंतानुबंधी चौकड़ी और महामिथ्यात्व। ४ मिश्रमिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। ५ अनंतानुबंधीकी चौकड़ी, महामिथ्यात्व और मिश्र। ६ अनंतानुबंधीकी चौकड़ी। ७ महामिथ्यात्व और मिश्र। ८ सम्यक्प्रकृति। ९ अनंतानुबंधी चौकड़ी और महामिथ्यात्व। १० मिश्र। ११ अनंतानुबंधीकी चौकड़ी, महामिथ्यात्व और मिश्र।

है, (४) जहाँ छहे प्रकृतियोका उपशम और एकका उदय है वह उपशमवेदकसम्यक्त्व है ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

यहाँ क्षायिक व उपशमसम्यक्त्वका स्वरूप न कहनेका कारण। दोहा।

उपसम छायककी दसा, पूरव पट पदमांहि।
कही प्रगट अव पुनरुकति, कारन वरनी नांहि॥४८

शब्दार्थ—पुनरुक्ति=बार बार कहना।

अर्थ—क्षायिक और उपशमसम्यक्त्वका स्वरूप पहले ४२ वे छप्पय छन्दमे कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्ति दोषके कारण यहाँ नहीं लिखा ॥ ४८ ॥

नव प्रकारके सम्यक्त्वोंका विवरण। दोहा।

छय-उपसम वेदक खिपक, उपसम समकित च्यारि।
तीन च्यारि इक इक मिलत, सव नव भेद विचारि४९

अर्थ—क्षयोपशमसम्यक्त्व तीन प्रकारका, वेदकसम्यक्त्व चार प्रकारका और उपशमसम्यक्त्व एक तथा क्षायिकसम्यक्त्व एक, इस प्रकार सम्यक्त्वके मूल भेद चार और उत्तर भेद नव हैं ॥ ४९ ॥

प्रतिज्ञा। सोरठा।

अव निहचै विवहार, अरु सामान्य विशेप विधि।
कहौं च्यारि परकार, रचना समकित भूमिकी॥५०॥

१ अनतानुबंधीकी चौकडी मिथ्यात्व और मिश्र।

अर्थ—सम्यक्त्व सत्ताकी निश्चय, व्यवहार, सामान्य और विशेष ऐसी चार विधि कहते हैं ॥ ५० ॥

सम्यक्त्वके चार प्रकार। सवैया इकतीसा।

मिथ्यामति-गठि-भेदि जगी निरमल जोति,
जोगसौं अतीत सो तो निहचै प्रमानियै।
वहै दुद दसासौं कहावै जोग मुद्रा धरै,
मति श्रुतग्यान भेद विवहार मानियै॥
चेतना चिहन पहिचानि आपा परवेदै,
पौरुष अलख तातैं सामान्य बखानियै।
करै भेदाभेदकौ विचार विसतार रूप,
हेय गेय उपादेयसौं विशेष जानियै॥ ५१॥

शब्दार्थ—गठि (ग्रंथि)=गाँठ। भेदि=नष्ट करके। अतीत=रहित। दुंद दसा=सविकल्पता।

अर्थ—मिथ्यात्वके नष्ट होनेसे मन वचन कायके अगोचर जो आत्माकी निर्विकार श्रद्धानकी ज्योति प्रकाशित होती है, उसे निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिये। जिसमें योग, मुद्रा, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिके विकल्प हैं, वह व्यवहार सम्यक्त्व जानना। ज्ञानकी अल्प शक्तिके कारण मात्र चेतना चिन्हके धारक आत्माको पहिचानकर निज और परके स्वरूपका जानना सो सामान्य सम्यक्त्व है, और हेय ज्ञेय उपादेयके भेदाभेदको सविस्ताररूपसे समझना सो विशेष सम्यक्त्व है ॥ ५१ ॥

चतुर्थ गुणस्थानके वर्णनका उपसंहार। सोरठा।

थिति सागर तेतीस, अंतर्मुहूरत एक वा।
अविरतसमकित रीति, यह चतुर्थ गुनथान इति ५२

अर्थ—अव्रतसम्यग्दृष्टी गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। यह चौथे गुणस्थानका कथन समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अणुव्रतगुणस्थानका वर्णन। प्रतिज्ञा, दोहा।

अब वरनौं इकईस गुन, अरु बावीस अभक्ष।
जिनके संग्रह त्यागसौं, सोभै श्रावक पक्ष ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिन गुणोंके ग्रहण करने और अभक्ष्योंके त्यागनेसे श्रावकका पाँचवाँ गुणस्थान सुशोभित होता है, ऐसे इक्कीस गुणों और बाईस अभक्ष्योंका वर्णन करता हूँ ॥ ५३ ॥

श्रावकके इक्कीस गुण। सवैया इकतीसा।

लज्जावंत दयावंत प्रसंत प्रतीतवंत,
परदोषकौ ढकैया पर-उपगारी है।
सौमदृष्टी गुनग्राही गरिष्ट सबकौं इष्ट,
शिष्टपक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है॥
विशेषग्य रसग्य कृतग्य तग्य धरमग्य,
न दीन न अभिमानी मध्य विवहारी है।

सहज विनीत पापक्रियासौं अतीत ऐसी,
श्रावक पुनीत इकवीस गुनधारी है ॥५४॥

शब्दार्थ—प्रसत=मंद कषायी। प्रतीतवंत=श्रद्धालु। गरिष्ट=सहनशील। इष्ट=प्रिय। शिष्ट पक्षी=सत्य पक्षमें सहमत। दीरघ विचारी=अग्रसोची। विशेषज्ञ=अनुभवी। रसज्ञ=मर्मका जाननेवाला। कृतज्ञ=दूसरोंके उपकारको नहीं भूलनेवाला। तज्ञ=अभिप्रायका समझनेवाला। मध्य व्यवहारी=दीनता और अभिमान रहित। विनीत=नम्र। अतीत=रहित।

अर्थ—लज्जा, दया, मंदकषाय, श्रद्धा, दूसरोंके दोष ढाँकना, परोपकार, सौम्यदृष्टि, गुणग्राहकता, सहनशीलता, सर्वप्रियता, सत्य पक्ष, मिष्टवचन, अग्रसोची, विशेषज्ञान, शास्त्रज्ञानकी मर्मज्ञता, कृतज्ञता, तत्त्वज्ञानी, धर्मात्मा, न दीन न अभिमानी मध्य व्यवहारी, स्वाभाविक विनयवान, पापाचरणसे रहित। ऐसे इक्कीस पवित्र गुण श्रावकोंको ग्रहण करना चाहिये ॥ ५४ ॥

बाईस अभक्ष्य। कवित्त।

ओरा घोरवरा निसिभोजन,
बहुबीजा बैंगन संधान।
पीपर बर ऊमर कठूंबर,
पाकर जो फल होइ अजान॥
कंदमूल माटी विष आमिष,
मधु माखन अरु मदिरा पान।

फल अति तुच्छ तुसार चलित रस,
जिनमत ए बाईस अखान ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—घोरवरा=द्विदलै। निसिभोजन=रात्रिमें आहार करना। संधान=अथाना, मुरब्बा। आमिष=मांस। मधु=शहद। मदिरा=शराब। अति तुच्छ=बहुत छोटे। तुषार=बर्फ। चलित रस=जिनका स्वाद बिगड़ जाय। अखान=अमक्ष्य।

अर्थ—(१) ओला (२) द्विदल (३) रात्रिभोजन (४) बहुबीजा (५) बैंगन (६) अथाना, मुरब्बा (७) पीपर फल (८) बड़फल (९) ऊमर फल (१०) कठूमर (११) पाकर फल (१२) अजान फल (१३) कंदमूल (१४) माटी (१५) विष (१६) मास (१७) शहद (१८) मक्खन (१९) शराब (२०) अति सूक्ष्म फल (२१) बर्फ (२२) चलित रस ये बाईस अभक्ष्य जैनमतमें कहे हैं ॥ ५५ ॥

प्रतिज्ञा। दोहा।

अब पंचम गुनथानकी, रचना बरनौं अल्प।
जामैं एकादस दसा, प्रतिमा नाम विकल्प ॥५६॥

अर्थ—अब पाँचवें गुणस्थानका थोड़ासा वर्णन करते हैं जिसमें ग्यारह प्रतिमाओंका विकल्प है ॥ ५६ ॥

१ जिन अन्नोंकी दो दालें होती हैं, उन अन्नोंके साथ बिना गरम किया हुआ अर्थात् कच्चा दूध, दही, मठा आदि मिलाकर खाना अभक्ष्य है। २ जिन बहु-बीजनके घर नाहिं, ते सब बहुबीजा कहलाहिं। 'क्रियाकोश' ३ जिन्हें पहिचानते ही नहीं हैं।

ग्यारह प्रतिमाओंके नाम। सवैया इकतीसा।

दर्सनविसुद्धकारी बारह विरतधारी,
सामाइकचारी पर्वप्रोपध विधि वहै।
सचितको परहारी दिवा अपरस नारी,
आठों जाम ब्रह्मचारी निरारंभी ह्वै रहै॥
पाप परिग्रह छंडै पापकी न शिक्षा मंडै,
कोऊ याके निमित्त करै सो वस्तु न गहै।
ऐते देसव्रतके धरैया समकिती जीव,
ग्यारह प्रतिमा तिन्हैं भगवतजी कहै॥५७

अर्थ—(१) सम्यग्दर्शनमें विशुद्धि उत्पन्न करनेवाली दर्शन प्रतिमा है, (२) बारह व्रतोंका आचरण व्रत प्रतिमा है, (३) सामायिककी प्रवृत्ति सामायिक प्रतिमा है, (४) पर्वमें उपवास विधि करना प्रोपध प्रतिमा है, (५) सचित्तका त्याग सचित्त विरत प्रतिमा है, (६) दिनमें स्त्री स्पर्शका त्याग दिवा-मैथुन व्रत प्रतिमा है, आठों पहर स्त्रीमात्रका त्याग ब्रह्मचर्य-प्रतिमा है, (८) सर्व आरंभका त्याग निरारंभ प्रतिमा है, (९) पापके कारणभूत परिग्रहका त्याग सो परिग्रह त्याग प्रतिमा है(१०) पापकी शिक्षाका त्याग अनुमति त्याग प्रतिमा है, (११) अपने वास्ते बनाये हुए भोजनादिका त्याग उद्देश विरति प्रतिमा है। ये ग्यारह प्रतिमा देशव्रतधारी सम्यग्दृष्टी जीवोंकी जिनराजने कही हैं॥ ५७॥

प्रतिमाका स्वरूप। दोहा।

संजम अंस जग्यौ जहां, भोग अरुचि परिनाम।
उदै प्रतिग्याकौ भयौ, प्रतिमा ताकौ नाम॥ ५८॥

अर्थ—चारित्र गुणका प्रगट होना, परिणामोंका भोगोंसे विरक्त होना और प्रतिज्ञाका उदय होना इसीको प्रतिमा कहते हैं॥ ५८॥

दर्शन प्रतिमाका स्वरूप। दोहा।

आठ मूलगुण संग्रहै, कुविसन क्रिया न कोइ।
दरसन गुन निरमल करै, दरसन प्रतिमा सोइ॥५९

अर्थ—दर्शन गुणकी निर्मलता, अष्ट मूलगुणोंका[1] ग्रहण और सात कुव्यसनोंका त्याग इसे दर्शन प्रतिमा कहते हैं॥५९॥

व्रत प्रतिमाका स्वरूप। दोहा।

पंच अनुव्रत आदरै, तीनौं गुनव्रत पाल।
सिच्छाव्रत चारौ धरै, यह व्रत प्रतिमा चाल॥६०॥

अर्थ—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके धारण करनेको व्रत प्रतिमा कहते हैं।

---

१ पंचपरमेष्ठीमें भक्ति, जीवदया, पानी छानकर काममें लाना, मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग, रात्रिभोजन त्याग और उदंबर फलोंका त्याग, ये आठ मूलगुण हैं। कहीं कहीं मद्य मांस मधु और पाँच पापके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा है, और कहीं कहीं पाँच उदंबर फल और मद्य मांस मधुके त्यागको मूलगुण बतलाये हैं।

विशेष—यहाँ पंच अणुव्रतका निरतिचार पालन होता है, पर गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके अतीचार सर्वथा नहीं टलते ॥६०॥

सामायिक प्रतिमाका स्वरूप। दोहा।

दर्व भाव विधि सजुगत, हिये प्रतिग्या टेक।
तजि ममता समता ग्रहै, अंतरमुहूरत एक॥ ६१॥

चौपाई।

जो अरि मित्र समान विचारै।
आरत रौद्र कुध्यान निवारै॥
संयम सहित भावना भावै।
सो सामायिकवंत कहावै॥ ६२॥

शब्दार्थ—दर्व विधि=बाह्य क्रिया—आसन, मुद्रा, पाठ, शरीर और वचनकी स्थिरता आदिकी सावधानी। भाव विधि=मनकी स्थिरता और परिणामोंमें समता भावका रखना। प्रतिज्ञा=आखड़ी। अरि=शत्रु। कुध्यान=खोटा विचार। निवारै=दूर करे।

अर्थ—मनमें समयकी प्रतिज्ञापूर्वक द्रव्य और भाव विधि सहित, एक मुहूर्त[1] अर्थात् दो घड़ी[2] तक ममत्व भाव रहित साम्य-भाव ग्रहण करना, शत्रु और मित्रपर एकसा भाव रखना, आर्त और रौद्र दोनों कुध्यानोंका निवारण करना और संयममें सावधान रहना सामायिक प्रतिमा कहाती है॥ ६१॥ ६२॥

---

१ 'सव' ऐसा भी पाठ है। २ चौबीस मिनिटकी एक घड़ी होती है।

चौथी प्रतिमाका स्वरूप। दोहा।

सामायिककीसी दसा, च्यारि पहरलौं होइ।
अथवा आठ पहर रहै, प्रोसह प्रतिमा सोइ॥ ६३॥

अर्थ—बारह घंटे अथवा चौबीस घंटे तक सामायिक जैसी स्थिति अर्थात् समता भाव रखनेको प्रोषध प्रतिमा कहते हैं॥६३॥

पाँचवीं प्रतिमाका स्वरूप। दोहा।

जो सचित्त भोजन तजै, पीवै प्राशुक नीर।
सो सचित्त त्यागी पुरुष, पंच प्रतिग्यागीर॥ ६४॥

अर्थ—सचित्त भोजनका त्याग करना और प्रांशुक[1] जल पान करना उसे सचित्तविरति प्रतिमा कहते हैं।

विशेष—यहाँ सचित्त वनस्पतिको मुखसे विदारण नहीं करते॥ ६४॥

छट्ठी प्रतिमाका स्वरूप। चौपाई।

जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालै।
तिथि आये निसि दिवस संभालै॥
गहि नौ वाड़ि करै व्रत रख्या।
सो षट् प्रतिमा श्रावक अख्या॥ ६५॥

---

[1] गर्म किया हुआ वा लवंग इलायची राख आदि डालकर स्वाद बदल देनेसे प्राशुक पानी होता है।

अर्थ—नव वाड़ सहित दिनम ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना और पर्व तिथियोंमें दिन रात ब्रह्मचर्य सम्हालना दिवा मैथुन व्रत प्रतिमा है ॥ ६५ ॥

सातवीं प्रतिमाका स्वरूप। चौपाई।

जो नौ वाडि सहित विधि साधै।
निसि दिन ब्रह्मचर्य आराधै॥
सो सप्तम प्रतिमा धर ग्याता।
सील-सिरोमनि जगत विख्याता ॥६६॥

अर्थ—जो नव वाड़ सहित सदाकाल ब्रह्मचर्य व्रत पालन करता है, वह ब्रह्मचर्य नामक सातवीं प्रतिमाका धारी ज्ञानी जगत् विख्यात शील शिरोमणि है ॥ ६६ ॥

नव वाड़के नाम। कवित्त।

तियथल वास प्रेम रुचि निरखन,
दे परीछ भाखै मधु वैन।
पूरव भोग केलि रस चिंतन,
गुरु आहार लेत चित चैन॥
करि सुचि तन सिंगार बनावत,
तिय परजंक मध्य सुख सैन।
मनमथ-कथा उदर भरि भोजन,
ये नौवाडि कहै[1] जिन वैन॥ ६७॥

1 'कहै मत जैन' ऐसा भी पाठ है।

शब्दार्थ—तियथल वास=स्त्रियोंके समुदायमें रहना। निरखन=देखना। परीछ (परोक्ष)=अप्रत्यक्ष। गुरु आहार=गरिष्ट भोजन। सुचि=पवित्र। परजंक=पलंग। मनमथ=काम। उदर=पेट।

अर्थ—स्त्रियोंके समागममें रहना, स्त्रियोंको राग भरी दृष्टिसे देखना, स्त्रियोंसे परोक्षमें सराग सम्भाषण करना, पूर्वकालमें भोगे हुए भोग विलासोंका स्मरण करना, आनंददायक गरिष्ट भोजन करना, स्नान मंजन आदिके द्वारा शरीरको आवश्यकतासे अधिक सजाना, स्त्रियोंके पलंग आसन आदिपर सोना बैठना, कामकथा वा कामोत्पादक कथा गीतोंका सुनना, भूखसे अधिक अथवा खूब पेट भर कर भोजन करना। इनके त्यागको जैनमतमें ब्रह्मचर्यकी नव वाड़ कहा है॥ ६७॥

आठवीं प्रतिमाका स्वरूप। दोहा।

जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारंभ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजै रनथंभ॥६८॥

अर्थ—जो विवेक पूर्वक धर्ममें सावधान रहता है और सेवा कृषि वाणिज्य आदिका पापारंभ नहीं करता, वह कुगतिके रण-थंभको जीतनेवाली आठवीं प्रतिमाका स्वामी है॥ ६८॥

नवमी प्रतिमाका स्वरूप। चौपाई।

जो दसधा परिग्रहको त्यागी।
सुख संतोष सहित वैरागी॥

१ दृष्टि-दोष बचानेके लिये परदा आदिकी ओटमें संभाषण करना, अथवा पत्रव्यवहार करना।

अर्थ—नव वाड़ सहित दिनमें ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना और पर्व तिथियोंमें दिन रात ब्रह्मचर्य सम्हालना दिवा मैथुन व्रत प्रतिमा है ॥ ६५ ॥

सातवीं प्रतिमाका स्वरुप । चौपाई ।

जो नौ वाडि सहित विधि साधै ।
निसि दिन ब्रह्मचर्य आराधै ॥
सो सप्तम प्रतिमा धर ग्याता ।
सील सिरोमनि जगत विख्याता ॥६६॥

अर्थ—जो नव वाड सहित सदाकाल ब्रह्मचर्य व्रत पालन करता है, वह ब्रह्मचर्य नामक सातवीं प्रतिमाका धारी ज्ञानी जगत विख्यात शील शिरोमणि है ॥ ६६ ॥

नव वाड़के नाम । कवित्त ।

तियथल वास प्रेम रुचि निरखन,
दे परीछ भाखै मधु वैन ।
पूरव भोग केलि रस चिंतन,
गुरु आहार लेत चित चैन ॥
करि सुचि तन सिंगार बनावत,
तिय परजंक मध्य सुख सैन ।
मनमथ-कथा उदर भरि भोजन,
ये नौवाडि कहै जिन वैन ॥ ६७ ॥

१ 'कहै मत जैन' ऐसा भी पाठ है ।

शब्दार्थ—तियथल बास=स्त्रियोंके समुदायमें रहना। निरखन=देखना। परीछ (परोक्ष)=अप्रत्यक्ष। गुरु आहार=गरिष्ट भोजन। सुचि=पवित्र। परजंक=पलंग। मनमथ=काम। उदर=पेट।

अर्थ—स्त्रियोंके समागममें रहना, स्त्रियोंको राग भरी दृष्टिसे देखना, स्त्रियोंसे परोक्षमें[1] सराग सम्भाषण करना, पूर्वकालमें भोगे हुए भोग विलासोंका स्मरण करना, आनंददायक गरिष्ट भोजन करना, स्नान मंजन आदिके द्वारा शरीरको आवश्यकतासे अधिक सजाना, स्त्रियोंके पलंग आसन आदिपर सोना बैठना, कामकथा या कामोत्पादक कथा गीतोंका सुनना, भूखसे अधिक अथवा खूब पेट भर कर भोजन करना। इनके त्यागको जैनमतमें ब्रह्मचर्यकी नव वाड़ कहा है॥ ६७॥

आठवीं प्रतिमाका स्वरूप। दोहा।

जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारंभ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजै रनथंभ॥६८॥

अर्थ—जो विवेक पूर्वक धर्ममें सावधान रहता है और सेवा कृषि वाणिज्य आदिका पापारंभ नहीं करता, वह कुगतिके रण-थमको जीतनेवाली आठवीं प्रतिमाका स्वामी है॥ ६८॥

नवमी प्रतिमाका स्वरूप। चौपाई।

जो दसधा परिग्रहको त्यागी।
सुख संतोष सहित वैरागी॥

1 दृष्टि-दोष बचानेके लिये परदा आदिकी ओटमें संभाषण करना, अथवा पत्रव्यवहार करना।

समरस सचित किंचित ग्राही ।
सो श्रावक नौ प्रतिमा वाही ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो वैराग्य और संतोषका आनंद प्राप्त करता है, तथा दश प्रकारके परिग्रहोंमेंसे थोड़ेसे वस्त्र व पात्र मात्र रखता है, वह साम्य भावका धारक नवमी प्रतिमाका स्वामी है ॥ ६९ ॥

दशवीं प्रतिमाका स्वरूप । दोहा ।

परकों पापारंभकों, जो न देइ उपदेस ।
सो दसमी प्रतिमा सहित, श्रावक विगत कलेस॥७०

अर्थ—जो कुटुम्बी व अन्य जनोंको विवाह, वाणिज्य आदि पापारंभ करनेका उपदेश नहीं देता, वह पाप रहित दशवीं प्रतिमाका धारक है ॥ ७० ॥

ग्यारहवीं प्रतिमाका स्वरूप । चौपाई ।

जो सुछंद वरतै तजि डेरा ।
मठ मंडपमें करै वसेरा ॥
उचित आहार उदंड विहारी ।
सो एकादश प्रतिमा धारी ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो घर छोडकर मठ मंडपमें निवास करता है, और स्त्री पुत्र कुटुम्ब आदिसे विरक्त होकर स्वतंत्र वर्तता है, तथा कृत कारित अनुमोदना रहित योग्य आहार ग्रहण करता है, वह ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक है ॥ ७१ ॥

प्रतिमाओंके सम्बन्धमें मुख्य उल्लेख। दोहा।

एकादश प्रतिमा दसा, कहीं देसव्रत मांहि।
वही अनुक्रम मूलसौं, गहौ सु छूटै नाहिं॥ ७२॥

अर्थ—देशव्रत गुणस्थानमें ग्यारह प्रतिमाएँ ग्रहण करनेका उपदेश है। सो शुरूसे उत्तरोत्तर अंगीकार करना चाहिये और नीचेकी प्रतिमाओंकी क्रिया छोड़ना नहीं चाहिये॥ ७२॥

प्रतिमाओंकी अपेक्षा श्रावकोंके भेद। दोहा।

षट प्रतिमा तांई जघन, मध्यम नौ परजंत।
उत्तम दसमी ग्यारमी, इति प्रतिमा विरतंत॥७३॥

अर्थ—छठवीं प्रतिमा तक जघन्य श्रावक, नवमी प्रतिमा तक मध्यम श्रावक और दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करनेवालोंको उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं। यह प्रतिमाओंका वर्णन पूरा हुआ॥७३॥

पाँचवें गुणस्थानका काल। चौपाई।

एक कोडि पूरव गिनि लीजे।
तामें आठ बरस घटि कीजै॥
यह उत्कृष्ट काल थिति जाकी।
अंतरमुहूरत जघन दशाकी॥ ७४॥

अर्थ—पाँचवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व और जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है॥ ७४॥

पूर्व पूर्वका प्रमाण। दोहा।

सत्तर लाख किरोर मित, छप्पन सहस किरोड।
ऐते वरस मिलाइके, पूरव सख्या जोड़ ॥ ७५ ॥

अर्थ—सत्तर लाख छप्पन हजार एक करोडका गुणाकरनेसे जो सख्या प्राप्त होती है, उतने वर्षका एक वर्षमें पूर्व होता है ॥ ७५ ॥

अतर्मुहूर्तका मान। दोहा।

अतर्मुहूरत द्वै घरी, कछुक घाटि उतकिष्ट।
एक समय एकावली, अतरमुहूर्त कनिष्ट ॥ ७६ ॥

अर्थ—दो घडीमेंसे एक समय कम अतर्मुहूर्तका उत्कृष्ट काल है और एक समय अधिक एक आवली अतर्मुहूर्तका जघन्य काल है तथा बीचके असख्यात भेद हैं ॥ ७६ ॥

छट्ठे गुणस्थानका स्वरूप। दोहा।

पंच प्रमाद दशा धरै, अट्ठाइस गुनवान।
थविरकलिप जिनकलिप जुत, है प्रमत्तगुनथान॥७८॥

अर्थ—जो मुनि अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करते हैं, परन्तु पाँच प्रकारके प्रमादोंमें किंचित वर्तते हैं, वे मुनि प्रमत्तगुणस्थानी हैं। इस गुणस्थानमें स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोनों प्रकारके साधु रहते हैं॥ ७८॥

पाँच प्रमादोंके नाम। दोहा।

धर्मराग विकथा वचन, निद्रा विषय कषाय।
पंच प्रमाद दशा सहित, परमादी मुनिराय॥७९॥

अर्थ—धर्ममें अनुराग, विकथावचन, निद्रा, विषय, कषाय ऐसे पाँच प्रमाद सहित साधु छट्ठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तमुनि होते हैं॥ ७९॥

साधुके अट्ठाईस मूलगुण। सवैया इकतीसा।

पंच महाव्रत पालै पंच समिति संभालै,
पंच इंद्री जीति भयौ भोगी चित चैनकौ।
षट आवश्यक क्रिया दर्वित भावित साधै,

१ २ यहाँ अनतानुबंधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान इन तीन चौकडीकी बारह कषायोंका अनोदय और संज्वलन कषायका तीव्र उदय रहता है, इससे वे साधु किंचित् प्रमादके वशमें होते हैं और शुभाचारमें विशेषतया वर्तते हैं। यहाँ विषय सेवन या स्थूलरूपसे कषायमें वर्तनेका प्रयोजन नहीं है। हाँ, शिष्योंको ताडना आदिका विकल्प तो भी है।

प्रासुक धरामें एक आसन है सैनकौ ॥
मंजन न करै केश लुंचै तन वस्त्र मुंचै,
त्यागै दतवन पै सुगंध स्वास वैनकौ ।
ठाडौ करसे अहार लघुभुजी एक वार,
अट्ठाइस मूलगुनधारी जती जैनकौ ॥८०॥

शब्दार्थ—पंचमहाव्रत=पंच पापोंका सर्वथा त्याग। प्रासुक=जीव रहित। सैन (शयन)=सोना। मंजन=स्नान। केश=बाल। लुंचै=उखाड़े। मुंचै=छोड़े। करसे=हाथसे। लघु=थोड़ा। जती=साधु।

अर्थ—पंच महाव्रत पालते हैं, पाँचों समिति पूर्वक वर्तते हैं, पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर प्रसन्न होते हैं, द्रव्य और भाव छह आवश्यक साधते हैं, त्रस जीव रहित भूमिपर करवट रहित शयन करते हैं, यावज्जीवन स्नान नहीं करते, हाथोंसे केश-लोंच करते हैं, नग्न रहते हैं, दतवन नहीं करते, तो भी वचन और श्वासमें सुगंध ही निकलती है, खड़े भोजन लेते हैं, थोड़ा भोजन लेते हैं, भोजन दिनमें एक ही वार लेते हैं। ऐसे अट्ठाईस मूल-गुणोंके धारक जैनसाधु होते हैं ॥ ८० ॥

पंच अणुव्रत और पंच महाव्रतका स्वरूप। दोहा।

हिंसा मृषा अदत्त धन, मैथुन परिगह साज।
किंचित त्यागी अनुव्रती, सब त्यागी मुनिराज॥८१॥

शब्दार्थ—मृषा=झूठ। अदत्त=बिना दिया हुआ।

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँचों पापोंके किंचित् त्यागी अणुव्रती श्रावक और सर्वथा त्यागी महाव्रती साधु होते हैं ॥ ८१ ॥

पँच समितिका स्वरूप । दोहा ।

चलै निरखि भाखै उचित, भखै अदोप अहार ।
लेइ निरखि डारै निरखि, समिति पंच परकार॥८२

अर्थ—जीव जन्तुकी रक्षाके लिये देखकर चलना ईर्यासमिति है, हित मित प्रिय वचन बोलना भाषासमिति है, अन्तराय रहित निर्दोप आहार लेना एषणासमिति है, शरीर, पुस्तक, पीछी, कमण्डलु आदिको देख शोध कर उठाना रखना आदाननिक्षेपणसमिति है, त्रस जीव रहित प्रासुक भूमिपर मल मूत्रादिका छोड़ना प्रतिष्ठापनासमिति है, ऐसी ये पाँच समिति हैं ॥ ८२ ॥

छह आवश्यक । दोहा ।

समता वंदन थुति करन, पडकौना सज्झाव ।
काउसग्ग मुद्रा धरन, पडावसिक ये भाव ॥ ८३ ॥

शब्दार्थ—समता=सामायिक करना । वंदन=चौबीस तीर्थंकरों या गुरु आदिकी वंदना करना । पड़िकौना (प्रतिक्रमण)=लगे हुए दोषोंपर पश्चात्ताप करना । सज्झाव=स्वाध्याय । काउसग्ग (कायोत्सर्ग)=खड्गासन होकर ध्यान करना । पडावसिक=छह आवश्यक ।

अर्थ—सामायिक, वंदना, स्तवन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये साधुके छह आवश्यक कर्म हैं ॥ ८३ ॥

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुओंका स्वरूप। सवैया इकतीसा।

थविरकलपि जिनकलपि दुविधि मुनि,
दोऊ वनवासी दोऊ नगन रहतु हैं।
दोऊ अठाईस मूलगुनके धरैया दोऊ,
सरव त्यागी व्है विरागता गहतु हैं॥
थविरकलपि ते जिनके शिष्य साखा होइ,
वैठिकै सभामैं धर्मदेसना कहतु हैं।
एकाकी सहज जिनकलपि तपस्वी घोर,
उदैकी मरोरसौं परिसह सहतु हैं॥ ८४॥

अर्थ—स्थविरकल्पी और जिनकल्पी ऐसे दो प्रकारके जैन साधु होते हैं। दोनों वनवासी हैं, दोनों नग्न रहते हैं, दोनों अट्ठाईस मूलगुणके धारक होते हैं, दोनों सर्व परिग्रहके त्यागी वैरागी होते हैं। परन्तु स्थविरकल्पी साधु शिष्य समुदायके साथमें रहते हैं, तथा सभामें बैठकर धर्मोपदेश देते और सुनते हैं, पर जिनकल्पी साधु शिष्य समूह छोड़कर निर्भय अकेले विचरते हैं और महा तपश्चरण करते हैं, तथा कर्मके उदयसे आई हुई बाईस परीषह सहते हैं॥ ८४॥

वेदनीय कर्मजनित ग्यारह परीषह। सवैया इकतीसा।

ग्रीषममैं धूपथित सीतमैं अकंपचित,
भूखै धरैं धीर प्यासे नीर न चहतु हैं।

डंस मसकादिसौं न डरै भूमि सैन करैं,
वध बंध वियामैं अडौल ह्वै रहतु हैं॥
चर्या दुख भरै तिन फाससौं न थरहरै,
मल दुरगंधकी गिलानि न गहतु है।
रोगनिकौ न करैं इलाज ऐसौ मुनिराज,
वेदनीके उदै ये परीसह सहतु है॥ ८५॥

अर्थ—गर्मीके दिनोंमे धूपमे खड़े रहते हैं यह उष्ण परीषहजय है, शीत ऋतुमे जाड़ेसे नहीं डरते यह शीतपरीषहजय है, भूख लगे तब धीरज रखते है, यह भूखपरीषहजय है, प्यासमे पानी नहीं चाहते यह तृषापरीषहजय है, डांस मच्छरका भय नहीं करते, यह दशमशकपरीषहका जीतना है, धरतीपर सोते हैं यह शय्यापरीषहजय है, मारने बांधनेके कष्टमें अचल रहते हैं यह बधपरीषहजय है, चलनेका कष्ट सहते हैं यह चर्यापरीषहजय है, तिनका कॉंटा लग जावे तो घबराते नहीं यह तृणस्पर्शपरीषहका जीतना है, मल और दुर्गंधित पदार्थोंसे ग्लानि नहीं करते यह मलपरीषहजय है, रोगजनित कष्ट सहते हैं, पर उसके निवारणका उपाय नहीं करते, यह रोगपरीषहजय है। इस प्रकार वेदनीयकर्मके उदयजनित ग्यारह परीषह मुनिराज सहते हैं॥८५॥

चारित्रमोहजनित सात परीषह। कुण्डलिया।

ऐते संकट मुनि सहै, चारितमोह उदोत।
लज्जा संकुच दुख धरै, नगन दिगंबर होत॥

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुओंका स्वरूप।

थविरकलपि जिनकलपि दुविधि मुनि
दोऊ वनवासी दोऊ नगन रहतु
दोऊ अठाईस मूलगुनके धरैया दोऊ
सरव त्यागी व्हे विरागता गहतु
थविरकलपि ते जिनके शिष्य साखा
बैठिके सभामे धर्मदेसना कहतु
एकाकी महज जिनकलपि तपस्वी
उदैकी मरोरमा परिसह सहतु

अथ—स्थविरकल्पी और जिनकल्पी ऐसे साधु होत है। दोनो वनवामी है, दोनों नग्न रह इस मूलगुणके धारक होते है, दोनों सर्व वैरागी होते है। परन्तु स्थविरकल्पी साधु साथमे रहते है, तथा सभामे बैठकर धर्मोपदे है, पर जिनकल्पी माधु शिष्य ममूह छोड विचरते हैं और महा तपश्चरण करते हैं, तथा हुई वाईम परीषह महते है ॥ ८४ ॥

वेदनीय कर्मजनित ग्यारह परीषह। सवै

ग्रीषममे धूपथित सीतमे अकंप
भूखे धरे धीर प्यासे नीर न

डंस मसकादिसौं न डरै भूमि सैन करै,
वध बंध विथामें अडोल ह्वै रहतु हैं ॥
चर्या दुख भरै तिन फाससौं न थरहरै,
मल दुरगंधकी गिलानि न गहतु हैं ।
रोगनिकौ न करै इलाज ऐसौ मुनिराज,
वेदनीके उदै ये परीसह सहतु हैं ॥ ८५ ॥

अर्थ—गर्मीके दिनोंमें धूपमें खड़े रहते हैं यह उष्ण परीषहजय है, शीत ऋतुमें जाड़ेसे नहीं डरते यह शीतपरीषहजय है, भूख लगे तब धीरज रखते हैं, यह भूखपरीषहजय है, प्यासमें पानी नहीं चाहते यह तृषापरीषहजय है, डांस मच्छरका भय नहीं करते, यह दंशमशकपरीषहका जीतना है, धरतीपर सोते हैं यह शय्यापरीषहजय है, मारने बांधनेके कष्टमें अचल रहते हैं यह वधपरीषहजय है, चलनेका कष्ट सहते हैं यह चर्यापरीषहजय है, तिनका कांटा लग जावे तो घबराते नहीं यह तृणस्पर्शपरीषहका जीतना है, मल और दुर्गंधित पदार्थोंसे ग्लानि नहीं करते यह मलपरीषहजय है, रोगजनित कष्ट सहते हैं, पर उसके निवारणका उपाय नहीं करते, यह रोगपरीषहजय है। इस प्रकार वेदनीयकर्मके उदयजनित ग्यारह परीषह मुनिराज सहते हैं॥८५॥

चारित्रमोहजनित सात परीषह । कुण्डलिया ।

ऐते संकट मुनि सहै, चारित्रमोह उदोत ।
लज्जा संकुच दुख धरै, नगन दिगंबर होत ॥

नगन दिगम्बर होत, श्रोत रति स्वाद न सेवैं।
तिय सनमुख दृग रोकि, मान अपमान न वेवैं॥
थिर ह्वै निरभै रहै, सहै कुवचन जग जेते।
भिच्छुकपद संग्रहै, लहै मुनि संकट एते॥ ८६॥

शब्दार्थ—संकट=दुःख। उदोत=उदयसे। श्रोत=कान। दृग=नेत्र। वेवै (वेदै)=भोगे। कुवचन=गाली। भिच्छुक=याचना।

अर्थ—चारित्रमोहके उदयसे मुनिराज निम्न लिखित सात परीषह सहते हैं अर्थात् जीतते हैं।

(१) नग्न दिगम्बर रहनेसे लज्जा और संकोचजनित दुःख सहते हैं, यह नग्नपरीषहजय है, (२) कर्ण आदि इन्द्रियोंके विषयोंका अनुराग नहीं करना सो अरतिपरीषहजय है। (३) स्त्रियोंके हाव भावमें मोहित नहीं होना, स्त्रीपरीषहजय है। (४) मान अपमानकी परवाह नहीं करते यह सत्कारपुरस्कारपरीषहजय है। (५) भयका निमित्त मिलनेपर भी आसन ध्यानसे नहीं हटना, सो निषद्यापरीषहजय है। (६) मूर्खोंके कटु वचन सह लेना, आक्रोशपरीषहका जीतना है। (७) प्राण जावें तो भी आहारादिकके लिये दीनतारूप प्रवृत्ति नहीं करना, यह याचनापरीषहजय है। ये सात परीषह चारित्रमोहके उदयसे होती हैं॥ ८६॥

ज्ञानवरणीयजनित दो परीषह। दोहा।

अलप ग्यान लघुता लखै, मति उतकरष विलोइ।
ज्ञानावरन उदोत मुनि, सहै परीसह दोइ॥ ८७॥

अर्थ—ज्ञानावरणीयजनित दो परीषह हैं। अल्पज्ञान होनेसे लोग छोटा गिनते हैं, इससे जो दुख होता है उसे साधु सहते है, यह अज्ञानपरीषहजय है। ज्ञानकी विशालता होनेपर गर्व नहीं करते, यहप्र ज्ञापरीषहजय है। ऐसी ये दो परीषह ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे जैन साधु सहते हैं॥ ८७॥

दर्शनमोहनीयजनित एक और अंतरायजनित एक परीषह। दोहा।

सहै अदरसन दुरदसा, दरसन मोह उदोत।
रोकै उमग अलाभकी, अंतरायके होत॥ ८८॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयके उदयसे सम्यग्दर्शनमें कदाचित् दोष उपजे तो वे सावधान रहते हैं—चलायमान नहीं होते, यह दर्शनपरीषहजय है। अंतरायकर्मके उदयसे वाञ्छित पदार्थकी प्राप्ति न हो, तो जैन मुनि खेद खिन्न नहीं होते, यह अलाभपरीषहजय है॥ ८८॥

बाईस परीषहोंका वर्णन। सवैया इकतीसा।

एकादस वेदनीकी, चारितमोहकी सात,
ग्यानावरनीकी दोइ, एक अंतरायकी।
दर्सनमोहकी एक, द्वाविंसति बाधा सबै,
केई मनसाकी, केई वाकी, केई कायकी॥
काहूकौं अलप काहूकौं बहुत उनीस ताईं,
एक ही समैमैं उदै आवै असहायकी।

चर्या थित सज्जामांहि एक सीत उस्न मांहि,
एक दोइ होहि तीन नाहि समुदायकी ॥८९

शब्दार्थ—मनसाकी=मनकी। वाकी (वाक्यकी)=वचनकी। काय=शरीर। सज्जा=शय्या। समुदाय=एक साथ।

अर्थ—वेदनीयकी ग्यारह, चारित्रमोहनीयकी सात, ज्ञानावरणीयकी दो, अंतरायकी एक और दर्शनमोहनीयकी एक ऐसी सब बाईस परीषह हैं। उनमेंसे कोई मनजनित, कोई वचनजनित और कोई कायजनित है। इन बाईस परीषहोंमेंसे एक समयमें एक साधुको अधिकसे अधिक उन्नीस तक परीषह उदय आती हैं। क्योंकि चर्या, आसन और शय्या इन तीनमेंसे कोई एक और शीत उष्णमेंसे कोई एक, इस तरह पाँचमें दोका उदय होता है शेष तीनका उदय नहीं होता ॥ ८९ ॥

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुकी तुलना। दोहा।

नाना विधि संकट-दसा, सहि साधै सिवपंथ।
थविरकलिप जिनकलिप धर, दोऊ सम निगरंथ॥९०
जो मुनि संगतिमैं रहै, थविरकलिप सौ जान।
एकाकी जाकी दसा, सो जिनकलिप बखान ॥९१॥

अर्थ—स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोनों प्रकारके साधु एकसे निर्ग्रंथ होते हैं और अनेक प्रकारकी परीषह जीतकर मोक्ष-मार्ग साधते हैं॥ ९० ॥ जो साधु संघमें रहते हैं वे स्थविरकल्पधारी हैं और जो एकल विहारी हैं वे जिनकल्पधारी हैं ॥ ९१ ॥

चौपाई ।

थविरकलपि धर कछुक सरागी ।
जिनकलपी महान वैरागी ॥
इति प्रमत्तगुनथानक धरनी ।
पूरन भई जथारथ वरनी ॥ ९२ ॥

अर्थ— स्थविरकल्पी साधु किंचित् सरागी होते हैं, और जिनकल्पी साधु अत्यन्त वैरागी होते हैं। यह छट्ठे गुणस्थानका यथार्थ स्वरूप वर्णन किया ॥ ९२ ॥

सप्तम गुणस्थानका वर्णन। चौपाई।

अव वरनौं सप्तम विसरामा ।
अपरमत्त गुनथानक नामा ॥
जहां प्रमाद क्रिया विधि नासै ।
धरम ध्यान थिरता परगासै ॥ ९३ ॥

अर्थ—अव स्थिरताके स्थान अप्रमत्तगुणस्थानका वर्णन करते हैं, जहाँ धर्मध्यानमें चचलता लानेवाली पच प्रकारकी प्रमाद क्रिया नहीं है और मन धर्म ध्यानमें स्थिर होता है ॥९३॥

दोहा।

प्रथम करन चारित्रकौ, जासु अत पद होइ ।
जहां अहार विहार नहि, अपरमत्त है सोइ ॥ ९४ ॥

दशवें गुणस्थानका वर्णन। चौपाई।

कहौं दसम गुनथान दुसाखा।
जहँ सूछम सिवकी अभिलाखा॥
सूछमलोभ दसा जहँ लहिये।
सूछमसांपराय सो कहिये॥ ९९॥

अर्थ—अब दशवें गुणस्थानका वर्णन करता हूँ, जिसमें आठवें और नवमें गुणस्थानके समान उपशम और क्षायिकश्रेणीके भेद हैं। जहाँ मोक्षकी अत्यन्त सूक्ष्म अभिलाषा मात्र है, यहाँ सूक्ष्म लोभका उदय है इससे इसे सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं॥ ९९॥

ग्यारहवें गुणस्थानका वर्णन। चौपाई।

अब उपशांतमोह गुनथाना।
कहौं तासु प्रभुता परवांना॥
जहां मोह उपशमै न भासै।
यथाख्यातचारित परगासै॥ १००॥

अर्थ—अब ग्यारहवें गुणस्थान उपशांतमोहकी सामर्थ्य कहता हूँ, यहाँ मोहका सर्वथा उपशम है–बिलकुल उदय नहीं दिखता और जीवका यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है॥१००॥

पुन। दोहा।

जाहि फरसके जीव गिर, परै करै गुन रद्द।
सो एकात[illegible] दसा[illegible] ॥१०१॥

अर्थ—जिस गुणस्थानको प्राप्त होकर जीव अवश्य ही गिरता है, और प्राप्त हुए गुणोंको नियमसे नष्ट करता है, वह उपशम चारित्रकी चरम सीमा प्राप्त करनेवाला ग्यारहवा गुणस्थान है॥ १०१॥

बारहवें गुणस्थानका वर्णन। चौपाई।

केवलग्यान निकट जहँ आवै।
तहां जीव सब मोह खिपावै॥
प्रगटै यथाख्यात परधाना।
सो द्वादसम खीनगुनठाना॥ १०२॥

अर्थ—जहाँ जीव मोहको सर्वथा क्षय करता है, वा केवलज्ञान बिलकुल समीप रह जाता है और यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है, वह क्षीणमोह नामक बारहवाँ गुणस्थान है॥ १०२॥

उपशमश्रेणीकी अपेक्षा गुणस्थानोंका काल। दोहा।

षट सातैं आठैं नवैं, दस एकादस थान।
अंतरमुहूरत एक वा, एक समै थिति जान॥१०३॥

अर्थ—उपशम श्रेणीकी अपेक्षा छठे, सातवें, आठवें, नवमे, दशवें और ग्यारहवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त वा जघन्य काल एक समय है॥ १०३॥

क्षपकश्रेणीमें गुणस्थानोंका काल। दोहा।

छपकश्रेनि आठैं नवैं, दस अर वलि बारं।
थिति उत्कृष्ट जघन्य भी, अंतरमुहूरत कालं॥१०४॥

१–२ यह प्रास र और ल की कहीं कहीं सवर्णताकी नीतिसे निर्दोष है–"रल-यो सावर्ण्य वा वक्तव्य" सारस्वत व्याकरण।

अर्थ—क्षपकश्रेणीमें आठवें, नवमें, दशवें और बारहवें गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त है ॥ १०४ ॥

तेरहवें गुणस्थानका वर्णन । दोहा ।

छीनमोह पूरन भयौ, करि चूरन चित-चाल ।
अब सजोगगुनथानकी, बरनौं दसा रसाल ॥१०५॥

अर्थ—चित्तकी वृत्तिको चूर्ण करनेवाले क्षीणमोहगुणस्थानका कथन समाप्त हुआ, अब परमानंदमय सयोगगुणस्थानकी अवस्था वर्णन करता हूँ ॥ १०५ ॥

तेरहवें गुणस्थानका स्वरूप । सवैया इकतीसा ।

जाकी दुखदाता घाती चौकरी विनसि गई,
चौकरी अघाती जरी जेवरी समान है ।
प्रगट भयौ अनंतदंसन अनंतग्यान,
वीरजअनंत सुख सत्ता समाधान है ॥
जामैं आउ नाम गोत वेदनी प्रकृति अस्सी,
इक्यासी चौरासी वा पचासी परवान है ।
सो है जिन केवली जगतवासी भगवान,
ताकी जो अवस्था सो सजोगीगुनथान है ॥

शब्दार्थ—चौकरी=चार । विनसि गई=नष्ट हो गई । अनंतदंसन=अनंतदर्शन । समाधान=सम्यक्त्व । जगतवासी=संसारी, शरीर सहित ।

अर्थ—जिस मुनिके दुखदायक घातिया चतुष्क अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अतराय नष्ट हो गये हैं और अघातिया चतुष्क जरी जेवरीके समान शक्ति हीन हुए हैं, जिसको अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, अनंतसुख सत्ता और परमावगाढ़सम्यक्त्व प्रगट हुए हैं। जिसकी आयु नाम गोत्र और वेदनीय कर्मोंकी मात्र अस्सी, इक्यासी, चौरासी वा पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता रह गई है, वह केवलज्ञानी प्रभु ससारमे सुशोभित होता है, और उसीकी अवस्थाको सयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं।

विशेष—तेरहवे गुणस्थानमे जो पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता कही गई है, सो यह सामान्य कथन है। किसी किसीको तो तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर, आहारक आगोपाग, आहारक बंधन, आहारक सघात सहित पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, पर किसीको तीर्थंकर प्रकृतिका सत्व नहीं होता, तो चौरासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, और किसीको आहारक चतुष्कका सत्व नही रहता और तीर्थंकर प्रकृतिका सत्व रहता है, तो इक्यासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, तथा किसीको तीर्थंकर प्रकृति और आहारक चतुष्क पाँचोंका सत्व नहीं रहता, मात्र अस्सी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है ॥ १०६ ॥

केवलज्ञानीकी मुद्रा और स्थिति। सवैया इकतीसा।

जो अडोल परजंक मुद्राधारी सरवथा,
अथवा सु काउसग्ग मुद्रा थिरपाल है।

१ यहाँ मन वचन कायके सात योग होते हैं, इससे इस गुणस्थानका नाम सयोगकेवली है। २ पचासी प्रकृतियोंके नाम पहले अधिकारमें कह आये हैं।

खेत सपरस कर्म प्रकृतिके उदै आये,
विना डग भरै अतरीच्छ जाकी चाल है॥
जाकी थिति पूरव करोड आठ वर्ष घाटि,
अतरमुहूरत जघन्य जग-जाल है।
सो है देव अठारह दूषन रहित ताकौ,
वानारसि कहै मेरी वदना त्रिकाल है॥१०७॥

शब्दार्थ—अडोल=अचल। परजक मुद्रा=पद्मासन। काउसग्ग (कायोत्सर्ग)=खड़े आसन। अतरीच्छ=अधर। त्रिकाल=सदैव।

अर्थ—जो केवलज्ञानी भगवान् पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा धारण किये हुए है, जो क्षेत्र स्पर्श नामकर्मकी प्रकृतिके उदयसे विना कदम रक्खे अधर गमन करते हैं, जिनकी ससार स्थिति उत्कृष्ट आठ वर्ष कम एक करोड पूर्वकी और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है, वे सर्वज्ञदेव अठारह दोष रहित हैं। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि उन्हे मेरी त्रिकाल वन्दना है॥ १०७॥

केवली भगवानको अठारह दोष नहीं होते। कुण्डलिया।

दूषन अट्ठारह रहित, सो केवलि सजोग।
जनम मरन जाके नहीं, नहि निद्रा भय रोग॥

१ मोक्षगामी जीवोंकी उत्कृष्ट आयु चौथे कालकी अपेक्षा एक कोटि पूर्वकी है और आठ वर्षकी उमरतक केवलज्ञान नहीं जगता।

नहिं निद्रा भय रोग, सोग विस्मय न मोह मति।
जरा खेद परस्वेद, नांहि मद वैर विषै रति॥
चिंता नांहि सनेह, नांहि जहँ प्यास न भूखन।
थिर समाधि सुख सहित, रहित अठारह दूपन॥१०८

शब्दार्थ—सोग=शोक। विस्मय=आश्चर्य। जरा=बुढ़ापा। परस्वेद (प्रस्वेद)=पसीना। सनेह=राग।

अर्थ—जन्म, मृत्यु, निद्रा, भय, रोग, शोक, आश्चर्य, मोह, बुढ़ापा, खेद, पसीना, गर्व, द्वेष, रति, चिंता, राग, प्यास, भूख ये अठारह दोष सयोगकेवली जिनराजको नहीं होते, और निर्विकल्प आनदमें सदा लीन रहते हैं॥ १०८॥

केवलज्ञानीप्रभुके परमौदारिक शरीरका अतिशय। कुण्डलिया।

वानी जहां निरच्छरी, सप्त धातु मल नांहि।
केस रोम नख नहि बढे, परम उदारिक मांहि॥
परम उदारिक मांहि, जांहि इंद्रिय विकार नसि।
यथाख्यातचारित, प्रधान थिर सुकल ध्यान ससि॥
लोकालोक प्रकास-करन केवल रजधानी।
सो तेरम गुनथान, जहां अतिशयमय वानी॥१०९॥

शब्दार्थ—निरच्छरी=अक्षर रहित। केस (केश)=बाल। नख=नाखून। उदारिक (औदारिक)=स्थूल। ससि (शशि) चन्द्रमा।

अर्थ—तेरहवें गुणस्थानमें भगवानकी अतिशयमय निरक्षरी दिव्यध्वनि खिरती है। उनका परमौदारिक शरीर सप्त धातु और मल मूत्र रहित होता है। केश रोम और नाखून नहीं बढ़ते, इन्द्रियोंके विषय नष्ट हो जाते हैं, पवित्र यथाख्यात-चारित्र प्रगट होता है, स्थिर शुक्लध्यानरूप चन्द्रमाका उदय होता है, लोकालोकके प्रकाशक केवलज्ञानपर उनका साम्राज्य रहता है ॥ १०९ ॥

चौदहवें गुणस्थानका वर्णन। प्रतिज्ञा। दोहा।

यह सयोगगुनथानकी, रचना कही अनूप।
अब अयोगकेवल दसा, कहूं जथारथ रूप ॥११०॥

अर्थ—यह सयोगी गुणस्थानका वर्णन किया, अब अयोग-केवली गुणस्थानका वास्तविक वर्णन करता हूँ ॥ ११० ॥

चौदहवें गुणस्थानका स्वरूप। सवैया इकतीसा।

जहां काहू जीवकों असाता उदै साता नाहिं,
काहूकौं असाता नाहिं, साता उदै पाइयै।
मन वच कायासौं अतीत भयौ जहां जीव,
जाकौ जसगीत जगजीतरूप गाइयै ॥
जामैं कर्म प्रकृतिकी सत्ता जोगी जिनकीनी,
अतकाल द्वै समैमै सकल खिपाइयै।
जाकी थिति पंच लघु अच्छर प्रमान सोई,
चौदहौं अजोगीगुनठाना ठहराइयै ॥१११॥

शब्दार्थ—अतीत=रहित। खिपाइयै=क्षय करते हैं। लघु=ह्रस्व।

अर्थ—जहाँपर किसी जीवको असाताका उदय रहता है साताका नहीं रहता, और किसी जीवको साताका उदय रहता है असाताका नहीं रहता, जहाँ जीवके मन वचन कायके योगोंकी प्रवृत्ति सर्वथा शून्य हो जाती है, जिसके जगज्जयी होनेके गीत गाये जाते हैं, जिसको सयोगी जिनके समान अघातिया कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, सो उन्हें अन्तके दो समयोंमें सर्वथा क्षय करते हैं, जिस गुणस्थानका काल ह्रस्व पंच अक्षर प्रमाण है, वह अयोगी जिन चौदहवाँ गुणस्थान है ॥ १११ ॥

इति चतुर्दश गुणस्थानाधिकार वर्णन समाप्त।

बंधका मूल आस्रव और मोक्षका मूल संवर है। दोहा।

चौदह गुनथानक दसा, जगवासी जिय भूल।
आस्रव संवर भाव द्वै, बंध मोखके मूल ॥ ११२ ॥

अर्थ—गुणस्थानोंकी ये चौदह अवस्थाएँ संसारी अशुद्ध जीवोंकी हैं। आस्रव और संवर भाव, बंध और मोक्षकी जड़ हैं अर्थात् आस्रव बंधकी जड़ है और संवर मोक्षकी जड़ है ॥११२॥

संवरको नमस्कार। चौपाई।

आस्रव संवर परनति जौलों।
जगतनिवासी चेतन तौलों ॥

१ केवलज्ञानी भगवानको असाताका उदय बाँचकर विस्मित नहीं होना चाहिये। यहाँ असाता कर्म, उदयमें सातारूप परिणमता है।

२ पुनि चौदहे चौथे सुक्लबल बहत्तर तेरह हतीं,
'जिनेन्द्रपंचकल्याणक'

आस्रव संवर विधि विवहारा।
दोऊ भव-पथ सिव पथ धारा ॥ ११३ ॥

आस्रवरूप बंध उतपाता।
संवर ग्यान मोख-पद-दाता ॥
जा संवरसौं आस्रव छीजे।
ताकौं नमस्कार अब कीजे ॥ ११४ ॥

अर्थ—जब तक आस्रव और संवरके परिणाम हैं, तब तक जीवका संसारमें निवास है। उन दोनोंमें आस्रव विधिका व्यवहार संसार मार्गकी परणति है, और संवर विधिका व्यवहार मोक्ष मार्गकी परणति है ॥ ११३ ॥ आस्रव बंधका उत्पादक है और संवर ज्ञानका रूप है, मोक्षपदका देनेवाला है। जिस संवरसे आस्रवका अभाव होता है, उसे नमस्कार करता हूँ ॥ ११४ ॥

ग्रंथके अंतमें संवरस्वरूप ज्ञानको नमस्कार।

जगतके प्रानी जीति है रह्यौ गुमानी ऐसौ,
आस्रव असुर दुखदानी महाभीम है।
ताकौ परताप खंडिवेकौं प्रगट भयौ,
धर्मकौ धरैया कर्म रोगकौ हकीम है ॥
जाके परभाव आगे भागे परभाव सब,
नागर नवल सुखसागरकी सींम है।

संवरकौ रूप धरै साधै सिवराह ऐसौ,
ग्यान पातसाह ताकौं मेरी तसलीम है ।।११५

शब्दार्थ—गुमानी=अभिमानी। असुर=राक्षस। महाभीम=बड़ा भयानक। परताप (प्रताप)=तेज। खंडिवेकौं=नष्ट करनेके लिये। हकीम=वैद्य। परभाव (प्रभाव)=पराक्रम। परभाव=पुद्गलजनित विकार। नागर=चतुर। नवल=नवीन। सीम=मर्यादा। पातशाह=बादशाह। तसलीम=वन्दना।

अर्थ—आस्रवरूप राक्षस जगतके जीवोंको अपने वशमें करके अभिमानी हो रहा है, जो अत्यन्त दुखदायक और महा भयानक है, उसका वैभव नष्ट करनेके लिये जो उत्पन्न हुआ है, जो धर्मका धारक है, कर्मरूप रोगके लिये वैद्यके समान है, जिसके प्रभावके आगे परद्रव्य जनित राग द्वेष आदि विभाव दूर भागते है, जो अत्यन्त प्रवीन और अनादिकालसे नहीं पाया था इसलिये नवीन है, जो सुखके समुद्रकी सीमाको प्राप्त हुआ है, जिसने संवरका रूप धारण किया है, जो मोक्षमार्गका साधक है, ऐसे ज्ञानरूप बादशाहको मेरा प्रणाम है ॥ ११५॥

तेरहवे अधिकारका सार।

जिस प्रकार सफेद वस्त्रपर नाना रंगोंका निमित्त लगनेसे वह अनेकाकार होता है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध आत्मापर अनादि कालसे मोह और योगोंका सम्बन्ध होनेसे उसकी संसारी दशामें अनेक अवस्थाएँ होती हैं, उनहीका नाम गुणस्थान है। यद्यपि वे अनेक है पर शिष्योंके सम्बोधनार्थ श्रीगुरुने १४ बतलाये है।

ये गुणस्थान जीवके स्वभाव नहीं हैं, पर अजीवमें नहीं पाये जाते, जीवमे ही होते हैं, इसलिये जीवके विभाव हैं, अथवा यों कहना चाहिये कि, व्यवहार नयसे गुणस्थानोंकी अपेक्षा संसारी जीवोंके चौदह भेद हैं।

पहले गुणस्थानमे मिथ्यात्व, दूसरेमे अनंतानुबंधी, तीसरेमें मिश्रमोहनीयका उदय मुख्यतया रहता है, और चौथे गुण स्थानमें मिथ्यात्व अनंतानुबंधी और मिश्रमोहनीयका, पाँचवेंमें अप्रत्याख्यानावरणीयका, छट्ठेमें प्रत्याख्यानावरणीयका अनोदय रहता है। सातव आठवें और नवमेम सज्वलनका क्रमश मंद, मंदतर, मदतम उदय रहता है, दसवमे सज्वलन सूक्ष्मलोभ मात्रका उदय और सर्वमोहका अनोदय है, ग्यारहवेंमे सर्वमोहका उपशम और बारहवेंमे सर्वमोहका क्षय है। यहाँ तक छद्मस्थ अवस्था रहती है, केवलज्ञानका विकाश नहीं है। तेरहवमे पूर्णज्ञान है परन्तु योगोंके द्वारा आत्मप्रदेश सकप होते हैं, और चौदहवें गुणस्थानमे केवलज्ञानी प्रभुके आत्म प्रदेश भी स्थिर हो जाते हैं। सभी गुणस्थानोंमे जीव सदेह रहता है, सिद्ध भगवान गुणस्थानोंकी कल्पनासे रहित हैं, इसलिये गुणस्थान जीवके निज स्वरूप नहीं है, पर हैं, परजनित हैं, ऐसा जानकर गुणस्थानोंके विकल्पोंसे रहित शुद्ध बुद्ध आत्माका अनुभव करना चाहिये।

---

१ विग्रह गतिमें कार्माण तैजस शरीरका संबंध रहता है।

ग्रंथ समाप्ति और अन्तिम प्रशस्ति।

चौपाई।

भयौ ग्रंथ संपूरन भाखा।
वरनी गुनथानककी साखा॥
वरनन और कहांलौं कहियै।
जथा सकति कहि चुप है रहियै॥१॥

अर्थ—भाषाका समयसार ग्रंथ समाप्त हुआ और गुणस्थान अधिकारका वर्णन किया। इसका और कहाँ तक वर्णन करें, शक्ति अनुसार कहकर चुप हो रहना उचित है॥ १॥

चौपाई।

लहियै ओर न ग्रंथ उदधिका।
ज्यौं ज्यौं कहियै त्यौं त्यौं अधिका॥
तातैं नाटक अगम अपारा।
अलप कवीसुरकी मतिधारा॥ २॥

अर्थ—ग्रंथरूप समुद्रका पार नहीं पा सकते, ज्यों ज्यों कथन किया जावे त्यों त्यों बढ़ता ही जाता है, क्योंकि नाटक अपरम्पार है और कविकी बुद्धि तुच्छ है॥ २॥

विशेष—यहाँ ग्रंथको समुद्रकी उपमा दी है और कविकी बुद्धिको छोटी नदीकी उपमा है।

दोहा।

समयसार नाटक अकथ, कविकी मति लघु होइ।
तातैं कहत बनारसी, पूरन कथै न कोइ॥ ३॥

अर्थ—समयसार नाटकका वर्णन महान् है, और कविकी बुद्धि थोडी है, इससे पंडित बनारसीदासजी कहते हैं, कि उसे कोई पूरा पूरा नहीं कह सकता॥ ३॥

अथ महिमा। सवैया इकतीसा।

जैसे कोऊ एकाकी सुभट पराक्रम करि,
जीतै किहि भांति चक्री कटकसौं लरनौ।
जैसे कोऊ परवीन तारू भुजभारू नर,
तैरै कैसे स्वयभूरमन सिंधु तरनौ॥
जैसे कोऊ उद्दिमी उछाह मनमांहि धरै,
करै कैसे कारज विधाता कैसौ करनौ।
तैसें तुच्छ मति मोरी तामैं कविकला थोरी,
नाटक अपार मैं कहांलौं याहि वरनौं॥४॥

अर्थ—यदि कोई अकेला योद्धा अपने बाहुबलके द्वारा चक्रवर्तीके दलसे लडे, तो वह कैसे जीत सकता है? अथवा कोई जलतारिणी विद्यामें कुशल मनुष्य स्वयंभूरमण समुद्रको तैरना चाहे, तो कैसे पार पा सकता है? अथवा कोई उद्योगी मनुष्य मनमें

उत्साहित होकर विधाता जैसा काम करना चाहे, तो कैसे कर सकता है ? उसी प्रकार मेरी बुद्धि अल्प है वा काव्यकौशल कम है और नाटक महान् है, इसका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ॥४॥

जीव-नटकी महिमा । सवैया इकतीसा ।

जैसे वट वृच्छ एक, तामें फल हैं अनेक,
फल फल बहु बीज, बीज बीज वट है ।
वटमांहि फल, फल मांहि बीज तामें वट,
कीजे जो विचार, तौ अनतता अघट है ॥
तैसे एक सत्तामें, अनत गुन परजाय,
पर्जेंमें अनत नृत्य तामेऽनत ठट है ।
ठटमें अनंतकला, कलामें अनतरूप,
रूपमें अनंत सत्ता, ऐसौ जीव नट है ॥५॥

अर्थ--जिस प्रकार एक वटके वृक्षमे अनेक फल होते हैं, प्रत्येक फलमे बहुतसे बीज तथा प्रत्येक बीजमें फिर वट वृक्षका अस्तित्व रहता है, और बुद्धिसे काम लिया जावे तो फिर उस वट वृक्षमे बहुतसे फल और प्रत्येक फलमे बहुतसे बीज और प्रत्येक बीजमे वट वृक्षकी सत्ता प्रतीत होती है, इस प्रकार वट वृक्षके अनतपनेकी थाह नहीं मिलती । उसी प्रकार जीव रूपी नटकी एक सत्तामे अनत गुण हैं, प्रत्येक गुणमे अनत पर्यायें हैं,

१ यहाँ दृष्टान्तमात्र ग्रहण किया है ।

प्रत्येक पर्यायमे अनंत नृत्य हैं, प्रत्येक नृत्यमे अनत खेल हैं, प्रत्येक खेलमे अनंत कलाएँ हैं, और प्रत्येक कलाकी अनेत आकृतियें हैं, इस प्रकार जीव बहुत ही विलक्षण नाटक करनेवाला है।

दोहा।

ब्रह्मग्यान आकासमें, उडै सुमति खग होइ ।
यथा सकति उद्दिम करै, पार न पावै कोइ ॥ ६ ॥

अर्थ—ब्रह्मज्ञानरूपी आकाशमे यदि श्रुतज्ञानरूपी पक्षी शक्ति अनुसार उडनेका प्रयत्न करे, तो कभी अत नहीं पा सकता ॥ ६ ॥

चौपाई।

ब्रह्मग्यान-नभ अंत न पावै ।
सुमति परोछ कहालौं धावै ॥
जिहि विधि समयसार जिनि कीनौ ।
तिनके नाम कहौं अब तीनौं ॥ ७ ॥

अर्थ—ब्रह्मज्ञानरूप आकाश अनंत है और श्रुतज्ञान परोक्ष है, कहाँ तक दौड लगावेगा ? अब जिन्होंने समयसारकी जैसी रचना की है उन तीनोंके नाम कहता हूँ ॥ ७ ॥

अथ कवियोंके नाम। सवैया इकतीसा।

कुंदकुंदाचारिज प्रथम गाथाबद्ध करि,
समैसार नाटक विचारि नाम दयौ है ।

ताहीकी परंपरा अमृतचंद्र भये तिन,
संसकृत कलस सम्हारि सुख लयौ है ॥
प्रगट्यौ बनारसी गृहस्थ सिरीमाल अत्र,
किये हैं कवित्त हिये वोधि वीज वयौ है ।
सवद अनादि तामैं अरथ अनादि जीव,
नाटक अनादि यौं अनादि ही कौ भयौ है।८

अर्थ—इसे पहले स्वामी कुंदकुंदाचार्यने प्राकृत गाथा छंदमें रचा और समयसार नाम रक्खा। उन्हींकी कृतिपर उन्हींके आम्नायी स्वामी अमृतचन्द्रसूरिने सस्कृत भाषामें कलशा रचकर प्रसन्न हुए। पश्चात् श्रीमाल जातिमें पण्डित बनारसीदासजी श्रावकधर्म प्रतिपालक हुए उन्होंने कवित्त रचना करके हृदयमें ज्ञानका बीज बोया। यों तो शब्द अनादि है उसका पदार्थ अनादि है, जीव अनादि है, नाटक अनादि है, इसलिये नाटक समयसार अनादि कालसे ही है ॥ ८ ॥

सुकवि लक्षण । चौपाई ।

अब कछु कहौं जथारथ बानी।
सुकवि कुकविकी कथा कहानी ॥
प्रथमहिं सुकवि कहावै सोई ।
परमारथ रस बरनै जोई ॥ ९ ॥

कलपित वात हिये नहिं आनै ।
गुरुपरपरा रीति वखानै ॥
सत्यारथ सैली नहि छंडै ।
मृपावादसों प्रीति न मंडै ॥ १० ॥

अर्थ—अव सुकवि कुकविकी थोड़ीसी वास्तविक चरचा करता हूं । उनमें सुकविका दरजा अव्वल है । वे पारमार्थिक रसका वर्णन करते हैं, मनमें कपोल कल्पना नहीं करते और ऋषि परम्पराके अनुसार कथन करते हैं । सत्यार्थ मार्गको नहीं छोड़ते और असत्य कथनसे प्रीति नहीं जोडते ॥ ९–१० ॥

दोहा ।

छंद सवद अच्छर अरथ, कहै सिद्धांत प्रवांन ।
जो इहि विधि रचना रचै, सो है सुकवि सुजान॥११

अर्थ—जो छन्द, शब्द, अक्षर, अर्थकी रचना सिद्धान्तके अनुसार करते हैं वे ज्ञानी सुकवि हैं ॥ ११ ॥

कुकवि लक्षण । चौपाई ।

अव सुनु कुकवि कहौं है जैसा ।
अपराधी हिय अंध अनेसा ॥
मृपाभाव रस वरनै हितसौं ।
नई उकति उपजावैं चितसौं ॥ १२ ॥

ख्याति लाभ पूजा मन आनै।
परमारथ-पथ भेद न जानै॥
वानी जीव एक करि बूझै।
जाकौ चित जड़ ग्रंथ न सूझै॥ १३॥

अर्थ—अब जैसा कुकवि होता है सो कहता हूँ, उसे सुनो, वह पापी हृदयका अंधा हठग्राही होता है। उसके मनमें जो नई कल्पनाएँ उपजती हैं, उनका और सांसारिक रसका वर्णन बड़े प्रेमसे करता है। वह मोक्षमार्गका मर्म नहीं जानता और मनमें ख्याति लाभ पूजा आदिकी चाह रखता है। वह वचनको आत्मा जानता है, हृदयका मूर्ख होता है, उसे शास्त्रज्ञान नहीं है॥ १२-१३॥

चौपाई।

वानी लीन भयौ जग डोलै।
वानी ममता त्यागि न बोलै॥
है अनादि वानी जगमांही।
कुकवि बात यह समुझै नांही॥ १४॥

अर्थ—वह वचनमें लीन होकर संसारमें भटकता है, वचनकी ममता छोड़कर कथन नहीं करता। संसारमें वचन अनादिकालका है यह तत्त्व [illegible] नहीं समझते॥ १४॥

घानी व्याख्या। सवैया इकतीसा।

जैसे काहू देसमें सलिल धारा कारजकी,
नदीसों निकसि फिर नदीमें समानी है।
नगरमें ठौर ठौर फैलि रही चहु ओर,
जाके ढिग वहे सोई कहे मेरो पानी है॥
त्यौंही घट सदन सदनमें अनादि ब्रह्म,
वदन वदनमें अनादिहीकी वानी है।
करम कलोलसों उसासकी बयारि बाजे,
तासों कहे मेरी धुनि ऐसो मूढ प्रानी है॥१५॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी स्थानसे पानीकी धारा शाखा रूप होकर नदीसे निकलती है और फिर उसी नदीमें मिल जाती है, वह शाखा शहरमें जहाँ तहाँ होकर वह निकलती है, सो जिसके मकानके पास होकर बहती है वही कहता है कि, यह पानी मेरा है, उसी प्रकार हृदयरूप घर है और घरमें अनादि ब्रह्म है और प्रत्येकके मुखमें अनादि कालका वचन है, कर्मकी लहरोंसे उच्छ्वासरूप हवा बहती है इससे मूर्ख जीव उसे अपनी ध्वनि कहते है॥ १५॥

दोहा।

ऐसे मूढ कुकवि कुधी, गहें मृषा मग दौर।
रहे मगन अभिमानमें, कहे औरकी और॥ १६॥

वस्तु सरूप लखै नहीं, वाहिज द्रिष्टि प्रवांन।
मृपा विलास विलोकिकै, करै मृपा गुन गान॥१७॥

अर्थ—इस प्रकार मिथ्यादृष्टी कुकवि उन्मार्गपर चलते हैं और अभिमानमें मस्त होकर अन्यथा कथन करते हैं। वे पदार्थका असली स्वरूप नहीं देखते, बाह्यदृष्टिसे असत्य परणति देखकर झूठा वर्णन करते हैं॥ १६–१७॥

मृषा गुणगान कथन। सवैया इकतीसा।

मांसकी गरथि कुच कंचन कलस कहै,
कहै मुख चंद जो सलेपमाको घरु है।
हाड़के दसन आहि हीरा मोती कहै ताहि,
मांसके अधर ओंठ कहै बिंबफरु है॥
हाड़ दंड भुजा कहै कौलनाल कामधुजा,
हाड़हीके थंभा जंघा कहै रंभातरु है।
योंही झूठी जुगति बनावै ओ कहावै कवि,
येतेपर कहै हमै सारदाको वरु है॥ १८॥

शब्दार्थ—गरथि=डली। कुच=स्तन। सलेपमा (श्लेष्मा)=कफ। दसन=दाँत। आहि=हैं। बिंबफरु (बिंबाफल)=कुँदरू। कौलनाल (कमलनाल)=कमलकी डंडी। रंभातरु=केलेका वृक्ष।

अर्थ—कुकवि मांसके पिण्डरूप कुचोंको सुवर्णघट कहते हैं, कफ खकार आदिके घररूप मुखको चन्द्रमा कहते हैं, हड्डीके

इहि विधि बोध वचनिका फैली।
समै पाय अध्यातम सैली॥
प्रगटी जगमांही जिनवानी।
घर घर नाटक कथा वखानी॥ २४॥

अर्थ—जैनधर्मी पांडे राजमलजी नाटक समयसारके ज्ञाताने इस ग्रन्थकी बालबोध सहज टीका की। इस प्रकार समय पाकर इस आध्यात्मिक विद्याकी भाषा वचनिका विस्तृत हुई, जगतमें जिनवाणीका प्रचार हुआ और घर घर नाटककी चरचा होने लगी॥ २३-२४॥

चौपाई।

नगर आगरे मांहि विख्याता।
कारन पाइ भए वहु ग्याता॥
पंच पुरुष अति निपुन प्रवीने।
निसिदिन ग्यान-कथा रस-भीने॥२५॥

अर्थ—प्रसिद्ध शहर आगरेमें निमित्त[1] मिलनेपर इसके बहुतसे जानकार हुए, उनमें पाँच मनुष्य अत्यन्त कुशल हुए, जो दिन रात ज्ञान चर्चामें लवलीन रहते थे॥ २५॥

1 सत्संगति गुरुगम आदिकी।

दोहा।

रूपचंद पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम ।
तृतिय भगोतीदास नर, कौरपाल गुन धाम॥२६॥
धर्मदास ये पचजन, मिलि बैठे इक ठौर ।
परमारथ-चरचा करैं, इनके कथा न और ॥२७॥

अर्थ—पहले पण्डित रूपचंदजी, दूसरे पण्डित चतुर्भुजजी, तीसरे पण्डित भगोतीदासजी, चौथे पण्डित कुँवरपालजी और पाँचवें पण्डित धर्मदासजी । ये पाँचों सज्जन मिलकर एक स्थानमें बैठते तथा मोक्षमार्गकी चर्चा करते थे और दूसरी वार्ता नहीं करते थे ॥ २६–२७ ॥

कबहूं नाटक रस सुनैं, कबहूं और सिद्धंत ।
कबहू बिंग बनाइकै, कहै बोध बिरतंत ॥२८॥

अर्थ—ये कभी नाटकका रहस्य सुनते, कभी और शास्त्र सुनते और कभी तर्क खडी करके ज्ञान चर्चा करते थे ॥ २८ ॥

चित कौरा करि धरमधर, सुमति भगोतीदास ।
चतुरभाव थिरता भये, रूपचंद परगास ॥ २९ ॥

अर्थ—कुँवरपालजीका चित्त कौंरा अर्थात् कोमल था, धर्मदासजी धर्मके धारक थे, भगोतीदासजी सुमतिवान थे, चतुर्भुजजीके भाव स्थिर थे और रूपचन्दजीका प्रकाश चन्द्रमाके समान था ॥ २९ ॥

चौपाई।

जहां तहां जिनवानी फैली।
लखै न सो जाकी मति मैली॥
जाकै सहज वोध उतपाता।
सो ततकाल लखै यह वाता॥ ३०॥

अर्थ—जहाँ तहाँ जिनवाणीका प्रचार हुआ, पर जिसकी बुद्धि मलिन है वह नहीं समझ सका। जिसके चित्तमें स्वाभाविक ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह इसका रहस्य तुरत समझ जाता है॥३०॥

दोहा।

घट घट अतर जिन वसै, घट घट अंतर जैन।
मति मदिराके पानसौं, मतवाला समुझै न॥३१॥

अर्थ—प्रत्येक हृदयमे जिनराज और जैनधर्मका निवास है परन्तु मजहबके पक्षरूपी शराबके पी लेनेसे मतवाले लोग नहीं समझते॥ ३१॥

चौपाई।

वहुत वढाई कहांलौं कीजै।
कारिजरूप वात कहि लीजै॥

१ यहाँ मतवाला शब्दके दो अर्थ हैं—(१) मतवाला=नशेमें चूर, (२) मतवाला=जिसको मजहबका पक्षपात है।

नगर आगरे मांहि विख्याता।
वानारसी नाम लघु ग्याता ॥ ३२ ॥
तामैं कवितकला चतुराई।
कृपा करैं ये पांचौं भाई ॥
पंच प्रपंच रहित हिय खोलै।
ते वानारसीसौं हँसि वोलै ॥ ३३ ॥

अर्थ—अधिक महिमा कहाँ तक कहें, मुद्देकी बात कह देना उचित है। प्रसिद्ध शहर आगरेमें बनारसी नामक स्वल्प ज्ञानी हुए, उनमें काव्य-कौशल था और ऊपर कहे हुए पाँचों भाई उनपर कृपा रखते थे, इन्होंने निष्कपट होकर सरल चित्तसे हँसकर कहा ॥ ३२-३३ ॥

नाटक समैसार हित जीका।
सुगमरूप राजमली टीका ॥
कवित्तवद्ध रचना जो होई।
भाषा ग्रंथ पढ़ै सव कोई ॥ ३४ ॥

अर्थ—जीवका कल्याण करनेवाला नाटक समयसार है। उसकी राजमलजी रचित सरल टीका है। भाषामें छंदबद्ध रचना जावे तो इस ग्रंथको सब पढ़ सकते हैं ॥ ३४ ॥

तव वानारसी मनमहि आनी ।
कीजे तो प्रगटै जिनवानी ॥
पच पुरुपकी आज्ञा लीनी ।
कवितवद्धकी रचना कीनी ॥ ३५ ॥

अर्थ—तब बनारसीदासजीने मनमें सोचा कि यदि इसकी कविता मरचना करूँ, तो जिनवाणीका बड़ा प्रचार होगा। उन्होंने उन पाँचों सज्जनोंकी आज्ञा ली और कवित्तबद्ध रचना की॥३५॥

सोरहसौ तिरानवे बीते ।
आसौ मास सित पच्छ वितीते ॥
तिथि तेरस रविवार प्रवीना ।
ता दिन ग्रथ समापत कीना ॥ ३६ ॥

अर्थ—वि० सम्वत् सोलहसौ तेरानवे आश्विन मास शुक्ल पक्ष तेरस तिथि रविवारके दिन यह ग्रंथ समाप्त किया ॥ ३६ ॥

दोहा ।

सुख निधान सक वध नर, साहिब साह किरान ।
सहस-साह सिर-मुकुट-मनि, साहजहा सुलतान३७

अर्थ—उस समय हजारों बादशाहोंमें प्रधान महा प्रतापी और सुखदायक मुसलमान बादशाह शाहजहाँ थे ॥ ३७ ॥

जाकै राज सुचैनसौं, कीनौं आगम सार।
ईति भीति व्यापी नहीं, यह उनकौ उपगार॥

अर्थ—उनके राज्यमे आनन्दसे इस ग्रन्थकी रचना की और कोई भय या उपद्रव नहीं हुआ यह उनकी कृपाका फल है॥३८॥

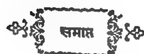
ग्रथके सब पद्योंकी सख्या। सवैया इकतीसा।

तीनसै दसोत्तर सोरठा दोहा छंद दोउ,
युगलसै पैतालीस इकतीसा आने हैं।
छ्यासी चौपाई, सैंतीस, तेईसे सवैए,
वीस छप्पै अठारह कवित्त वखाने हैं॥
सात पुनि ही अडिल्ल, चारि कुंडलिए मिलि,
सकल सात सै सत्ताइस ठीक ठानै हैं।
वत्तीस अच्छरके सिलोक कीने लेखे,
ग्रंथ-सख्या सत्रह सै सात अधिकानै हैं॥३९॥

अर्थ—३१० सोरठे और दोहे, २४५ इकतीसे सवैये, ८६ चौपाई, ३७ तेईसा सवैया, २० छप्पय, १८ अठारह कवित्त (घनाक्षरी) ७ अडिल्ल, ४ कुडलिए ऐसे ये सब मिलकर ७२७ सातसौ सत्ताईस नाटक समयसारके पद्योकी सख्या है, ३२ अक्षरके श्लोकके प्रमाणसे ग्रंथ-सख्या १७०७ है॥ ३९॥

समयसार आतम दरव, नाटक भाव अनंत ।
सोहै आगम नाममें, परमारथ विरतंत ॥ ४० ॥

अर्थ—सब द्रव्योंमें आत्मद्रव्य प्रधान है और नाटकके भाव अनंत हैं, सो उसका आगममें सत्यार्थ कथन है ॥ ४० ॥



ईडरके भंडारकी प्रतिका अंतिम अंश।



इह ग्रंथकी परति एक ठौर देषी थी, वाके पास बहुत प्रकार करि मांगी, पै वा परति लिखनकौं नहि दीनी, पाछैं पाच भाई मिलि विचारि कियो, ज्यो ऐसी परति होवे तो बहुत आछौ। ऐसो विचारिकै तिन परति जुदी २ देषिकैं अर्थ विचारिकै अनुक्रमैं २ समुचय लिपी है॥

दोहा।

समयसार नाटक अकथ, अनुभव-रस-भंडार।
याको रस जो जानहीं, सो पावे भव-पार॥ १॥

चौपाई।

अनुभौ-रसके रसियानै।
तीन प्रकार एकत्र वखानै॥
समयसार कलसा अति नीका।
राजमली सुगम यह टीका॥ २॥
ताके अनुक्रम भाषा कीनी।
बनारसी ग्याता रसलीनी॥
ऐसा ग्रंथ अपूरव पाया।
तासे सबका मनहि लुभाया॥ ३॥

दोहा।

सोई ग्रथके लिखनको, किए वहुत परकार।
वॉचनको देवे नहीं, ज्यों कृपी[1] रतन-भॅडार ॥ ४ ॥

मानसिघ चितन कियो, क्यों पावे यह ग्रंथ।
गोविदसो इतनी कही, सरस सरस यह ग्रथ ॥ ५ ॥

तव गोविद हरपित भयो, मन विच घर उल्लास।
कलमा टीका अरु कवित, जे जेते तिहि पास ॥६॥

चौपाई।

जो पडित जन वाचो सोइ।
अधिको उचो चौकस जोइ[2] ॥
आगे पीछे अधिको ओछो।
देखि विचार सुगुरुसो पूॅछो ॥ ७ ॥
अलप मती है मति मेरी।
मनमे धरहु चाह घनेरी ॥
ज्यों निज भुजा सुमुद्रहि तरनो।
है अनादि ⊛ ⊛ ⊛ ⊛

---

१ कृपण—कंजूस। २ देख कर।

समयसारके पद्योकी वर्णानुक्रमणिका।



पृष्ठांक

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचित नाटकसमयसार कलशोंकी वर्णानुक्रमणिका ।



आध्यात्मिक-ग्रंथ।



भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत—

१ नियमसार—समयसार प्रवचनसार आदिके समान अध्यात्मका प्राकृत गाथाबद्ध अपूर्व ग्रंथ है। निर्ग्रंथ मुनि श्रीपद्मप्रभमलधारीकी संस्कृत टीका है और ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकी बनाई हुई सरल भाषाटीका है। इसमें जीवाधिकार, अजीवाधिकार, शुद्ध भाव, व्यवहार चारित्र, निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चयालोचन, निश्चय प्रायश्चित्त, परम समाधि, परमभक्ति, निश्चयावश्यक, शुद्धोपयोग ऐसे १२ अधिकार हैं। मूल्य १॥) कपड़ेकी जिल्द बँधीका २।)

२ पचास्तिकाय—अमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वदीपिका, जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति ये दो संस्कृत टीकायें और स्व० पाण्डे हेमराजजीकृत बालबोध भाषाटीका सहित। इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायोंका वर्णन है। सजिल्दका मूल्य २)

३ पचास्तिकायदर्पण—जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिके अनुसार ब्र० शीतलप्रसादजीकृत सरल भाषाटीका है। मूल्य प्रथम भागका २) द्वितीय भागका १।=)

४ प्रवचनसार—श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वदीपिका जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति ये दो संस्कृत टीकायें, और स्व० पाण्डे हेमराजजीकृत बालबोध भाषाटीका सहित। मूल्य सजिल्दका ३)

५ प्रवचनसारटीका—जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिके अनुसार ब्र० शीतलप्रसादजीकृत विस्तृत भाषाटीका सहित। मूल्य प्रथमखंडका १॥) द्वितीयखंडका १॥।) तृतीयखंडका १॥।)

६ **समयसार**—अमृतचन्द्रसूरिकृत आत्मख्याति और जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति ये दो संस्कृत टीकायें और स्व० प० जयचन्द्रजीकृत आत्मख्याति भाषावचनिका। इसमें शुद्ध नयका कथन है। जैनधर्मके असली स्वरूपका दिग्दर्शन इसीसे होता है। सुंदर जिल्द बँधी हुई है। मूल्य सिर्फ ४॥)

७ **समयसारटीका**—जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिके अनुसार ब्र० शीतलप्रसादजीकृत विस्तृत भाषाटीका सहित। मूल्य सजिल्दका २॥।)

८ **अष्टपाहुड**—मूल गाथायें और स्व० पं० जयचन्द्रजीकृत विस्तृत भाषावचनिका सहित। इसमें दर्शन, सूत्र, चारित्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग शील ये आठ पाहुड हैं। पृष्ठसंख्या ४६० मूल्य लागतमात्र १॥=) कपड़ेकी जिल्द बँधी हुई है।

९ **षट्प्राभृतादिसंग्रह**—(संस्कृत) श्रीश्रुतसागरसूरिकृत संस्कृतटीकासहित। मूल्य लागतमात्र ३)

१० **समयप्राभृत**—अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीकासहित। मूल्य ३॥)

आत्मानुशासन—भगवज्जिनसेनाचार्यके शिष्य श्रीगुणभद्राचार्यकृत मूल श्लोक, और न्यायतीर्थ प० वंशीधरजी शास्त्रीकृत विस्तृत सरल भाषाटीकासहित। बड़ा ही उत्तम और उपदेशपूर्ण ग्रंथ है। इसके उपदेशका हृदयपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। आत्मानुशासन, आत्माका शासन करनेके लिए—उसको वशीभूत करनेके लिए न्यायी शासकके समान है। अध्यात्मके प्रेमी इसके स्वाध्यायसे अपूर्व शान्ति-लाभ करते हैं। दूसरी बार बड़ी सुन्दरता और शुद्धतापूर्वक छपा है। मूल्य २)

ज्ञानार्णव—राजर्षि शुभचन्द्राचार्यकृत मूल और स्व० पं० जयचन्द्रजीकृत भाषावचनिका। इसमें वैराग्य, योग, ध्यान, ब्रह्मचर्यका विस्तृत वर्णन है। मूल्य सजिल्दका ४)

परमात्मप्रकाश—श्रीयोगीन्द्रदेवकृत मूल गाथायें, श्रीब्रह्मदेवसूरिकृत संस्कृतटीका, और स्व० प० दौलतरामजीकृत भाषावचनिका सहित। यह अध्यात्मग्रंथ निश्चय मोक्षमार्गका साधन होनेसे मुमुक्षुजनोंके लिये बहुत उपयोगी है। मूल्य सजिल्दका ३)

समाधिशतक—श्रीपूज्यपादस्वामीकृत मूल श्लोक और ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकृत विस्तृत भाषाटीका सहित। इस ग्रंथमें परमानन्दकी प्राप्तिका उपाय अच्छी तरह बताया है। मूल्य १।)

आराधनासार—श्रीदेवसेनाचार्यकृत मूल गाथायें प० गजाधरलालजीकृत भाषाटीका। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओंका वर्णन है। मूल्य १।)

इष्टोपदेश—श्रीपूज्यपादस्वामीकृत मूल और ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकृत। निज आत्मस्वभावकी प्राप्ति स्वयं अपनेही स्वानुभवसे होती है। इसीके प्राप्तिके उपायोंका वर्णन है। मूल्य १।)

ग्रंथत्रयी—श्रीनागसेनकृत तत्त्वानुशासन श्रीचन्द्रकृत वैराग्यमणिमाला और पूज्यपादस्वामीकृत इष्टोपदेशका प० लालारामजी शास्त्री कृत भाषानुवाद। मूल्य १)

योगसार—श्रीअमितगतिआचार्यकृत मूल और प० गजाधरलालजी शास्त्रीकृत भाषाटीका। इस ग्रंथमें जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष और चारित्रका विस्तृत वर्णन है। मूल्य २।।)

शान्तिसोपान—परमानंदस्तोत्र, स्वरूपसंबोधन, सामायिकपाठ, मृत्युमहोत्सव समाधिशतक—इन छोटे छोटे पाँच ग्रंथोंकी ब्र० ज्ञानानंदजीकृत भाषाटीका है। मूल्य ।।)

समयसार नाटक—स्व० कविवर बनारसीदासजीकृत मूलमात्र। मूल्य १)

प्रवचनसारपरमागम—स्व० कविवर वृन्दावनजीकृत। २ अध्यात्मके गूढ तत्वोंका वर्णन है। बड़ी सुन्दर कविता है। मूल्य १।)

आत्मसिद्धि—शतावधानी महात्मा रायचन्द्रजीकृत, बड़ा मह पूर्ण ग्रन्थ है, इसमें प्रौढ़ युक्तियों द्वारा आत्माकी सिद्धि की गई रायचन्द्रजी महात्मा गाँधीजीके गुरु हैं, प्रारम्भमें ग्रंथकर्ताकी विस्तृत जी है। मूल्य सजिल्दका १।)

अनुभवानंद—ब्र० शीतलप्रसादजीके आध्यात्मिक निबंध। मूल्य

आत्मधर्म—ब्र० शीतलप्रसादजीकृत आत्मचिन्तवनके लिये उपयोगी है। मू० ।=)

आत्मानंद-सोपान—ब्र०शीतलप्रसादजीकृत

आध्यात्मिक निवेदन— ,,

सुखशान्तिकी सच्ची कुंजी— ,,

स्वसमरानंद (चेतनकर्मयुद्ध)— ,,

निश्चयधर्मका मनन— ,,

आत्मशुद्धि और शीलभावना—स्व० लाला मुन्शीलालजी एम ए० कृत। मूल्य ≡)॥

इनके सिवाय हमारे यहाँ सब जगहके सब तरहके छपे हुए जैनग्र और सर्व साधारणोपयोगी हिन्दीके उपन्यास, नाटक, जीवनचरित इतिहास, विज्ञान, कृषि, अर्थशास्त्र, संबंधी उत्तमोत्तम पुस्तकें भी मिलत हैं। बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगाकर पढ़िये।

मंगानेका पता —

छगनमल बाकलीवाल

मालिक—जैनग्रंथरत्नाकर

हीराबाग

प्रवचनसारपरमागम—स्व० कविवर वृन्दावनजीकृत। इसमें अध्यात्मके गूढ़ तत्त्वोंका वर्णन है। बड़ी सुन्दर कविता है। मूल्य १।)

आत्मसिद्धि—शतावधानी महात्मा रायचन्द्रजीकृत, बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसमें प्रौढ़ युक्तियों द्वारा आत्माकी सिद्धि की गई है। रायचन्द्रजी महात्मा गाँधीजीके गुरु हैं, प्रारम्भमें ग्रंथकर्त्ताकी विस्तृत जीवनी है। मूल्य सजिल्दका १।)

अनुभवानंद—ब्र० शीतलप्रसादजीके आध्यात्मिक निबंध। मूल्य ।।)

आत्मधर्म—ब्र० शीतलप्रसादजीकृत आत्मचिन्तवनके लिये अति उपयोगी है। मू० ।=)

आत्मानंद-सोपान—ब्र०शीतलप्रसादजीकृत		~)॥
आध्यात्मिक निवेदन—	,,	~)॥
सुखशान्तिकी सच्ची कुंजी—	,,	~)॥
स्वसमरानंद (चेतनकर्मयुद्ध)—	,,	=)
निश्चयधर्मका मनन—	,,	१।)

आत्मशुद्धि और शीलभावना—स्व० लाला मुन्शीलालजी एम० ए० कृत। मूल्य =)॥

इनके सिवाय हमारे यहाँ सब जगहके सब तरहके छपे हुए जैनग्रंथ और सर्व साधारणोपयोगी हिन्दीके उपन्यास, नाटक, जीवनचरित इतिहास, विज्ञान, कृषि, अर्थशास्त्र, संबंधी उत्तमोत्तम पुस्तकें भी मिलती हैं। बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगाकर पढ़िये।

मंगानेका पता—

छगनमल बाकलीवाल

मालिक—जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालय,

ठि० हीराबाग पो० गिरगाव बम्बई।